निम्बार्क सम्प्र
और उसके कृष्ण-भ
हिन्दी क

निम्बार्क सम्प्रदाय

और

उसके कृष्ण भक्त हिन्दी कवि

प्रथम भाग

सिद्धान्त खण्ड

डा० नारायणदत्त शर्मा, एम० ए०, पी० एच० डी०
प्रधानाचार्य, जवाहर इण्टर कालेज, मथुरा ।

अशोक प्रकाशन, मथुरा ।

प्रकाशक—
अशोक प्रकाशन,
मथुरा।

*

प्रथम संस्करण
सं० २०२१

*

मूल्य
सात रुपये पिचासी नयं पैसे

*

मुद्रक—
रमनलाल बंसल
पुष्पराज प्रेस,
मथुरा।

आध्यात्मिक प्रेरणा रूपा परम वात्सल्यमयी

स्वर्गीया मां श्रीमती 'हरिप्रियादेवी'

को सादर समर्पित—

प्राक्कथन

निम्बार्क सम्प्रदाय के हिन्दी कवियों की पीयूष वर्षिणी वाणी, उनकी ललित भावावली एवं सिद्धान्त के अध्ययन की प्रेरणा का मूल स्रोत, मैं अपने पैतृक संस्कारों को ही मानूँगा। पिताजी की परम वैष्णवता एवं स्वर्गीया माता जी की दैनिक व्रत, नियम, साधना और सेवा-पूजा ने, आस्तिकता और सहृदयता के साथ आखिर यह सब क्या है और क्यों चलता है, ऐसी जिज्ञासा पूर्ण मनोवृत्ति को बाल्यावस्था से ही मेरे जीवन का अभिन्न अंग बना दिया था। उच्च शिक्षा ने उसे निखार कर दृढ़ता प्रदान की और वैष्णव साहित्य का निरन्तर अध्ययन मेरा स्वभाव सा बन गया। निदान सन् १६४६ ई० में, मैं जब म्युनिसिपल इन्टर कालेज, वृन्दावन में उपप्रधानाचार्य था तो निम्बार्क सम्प्रदाय के विद्वान् श्री व्रज-वल्लभशरण वेदान्ताचार्य से मेरा सम्पर्क काफी घनिष्ठ रूप से रहा था। उस समय मैं भूगोल विषय लेकर एम० ए० की परीक्षा दे रहा था और कार्य-भार अधिक था इस कारण निकट रहते हुए भी केवल जब कभी उनके पुस्तकालय की टटोल कर पाता था। यद्यपि मेरा उनसे कोई संस्थागत अथवा रक्त-सम्बन्ध न था परन्तु अपने साधु स्वभाव से वे किसी प्रकार मेरा वर्जन न करते वरन् अध्ययन के लिये प्रोत्साहित करते थे। वहीं पर "युगल शतक" और "महावाणी" की हस्तलिखित प्रतियों का यत्र-तत्र अवलोकन करने का और निम्बार्क-माधुरी को कहीं-कहीं से पढ़ने का मुझे अवसर मिला। डा० रमा बोस एम० ए०, डी० फिल० द्वारा सम्पादित 'वेदान्त-रत्न मंजूषा' और वेदान्त 'कौस्तुभ प्रभा भाष्य'और और उनकी अंग्रेजी आलोचनाएँ भी मैंने वहीं देखीं। निम्बार्क कवियों के सहज माधुर्य एवं उनकी रागानुगा भक्ति के और अधिक परिचय एवं अनुशीलन की सहज स्पृहा मेरे मन में बलवती होने लगी। परन्तु समय अभी कुछ दूर था। अगले वर्ष मुझे पुनः मथुरा में ही जीविकोपार्जन के निमित्त लौटना पड़ा।

महोपाध्याय स्व० पंडित उमाशंकरजी द्विवेदी अपने दूर के सम्बन्धी थे और मैं उनका वात्सल्य-भाजन था। वे इस सम्प्रदाय के अधिकारी विद्वान् थे। मेरी अभिरुचि का जैसे ही उन्हें भान हुआ उन्होंने विषय-सामग्री का निर्देशन करते हुए इस दिशा में कार्य करने के लिये प्रोत्साहित किया। इस प्रकार तद्विषयक रुचि के साथ थोड़ा-थोड़ा अध्ययन निरन्तर चलता ही रहा।

विषय-निर्देश—निदान दिसम्बर १६५२ में लगभग १ मास तक कार्यवशात् मुझे वृन्दावन में रहना पड़ा। उसी समय मैंने निम्बार्क कवियों का विधिवत् अध्ययन करते हुए प्रस्तुत निबन्ध के लिये सामग्री संकलित की। हिन्दी कवियों

के लिये श्री ब्रह्मचारी बिहारीशरण की 'निम्बार्क माधुरी' का प्रकाशन ही इस दिशा में एक मात्र प्रयास था जो अनेक कारणों से अधूरा था। उसमें सम्पादक महोदय का दृष्टिकोण वैज्ञानिक एवं तर्क पूर्ण होने के स्थान पर प्रमुखतः साम्प्रदायिक था। सम्प्रदाय की पूर्व परम्परा के संस्कृत-साहित्य और दर्शन से हिन्दी काव्य का किसी प्रकार का तारतम्य स्थिर करने का उन्होंने प्रयास नहीं किया। निम्बार्क-दर्शन, सिद्धान्त, पूजा, उपासना, आचार्य परम्परा उसके कृतिकारों एवं केन्द्रों की पूर्व, मध्य, और उत्तर काल में प्रगति, सम्प्रदाय के विकास अथवा उसकी ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का उसके साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा एवं तद्वि-षयक प्रतिक्रियाओं के आकलन की ओर ब्रह्मचारीजी का ध्यान ही नहीं गया था। किसी सम्प्रदाय और उसके साहित्य के अध्ययन में इन सभी बातों का बड़ा महत्व होता है। कवि को आत्मा तक पहुँचने के ये सभी साधन हैं। इनके अभाव में पूर्ण न्याय करना सम्भव नहीं है। ब्रह्मचारी जी का आंग्ल भाषा में प्रवेश न था। इस कारण देशी एवं विदेशी विद्वानों द्वारा अंग्रेजी में लिखित सामग्री उनकी पहुँच से बाहर थी। ये सभी महत्वपूर्ण तत्व मेरे मस्तिष्क में घर कर चुके थे और उनके ही आधार पर सम्प्रदाय और हिन्दी कवि दोनों के सम्मिलित अध्ययन करने का मैंने निश्चय कर लिया था। श्री बल्देव उपाध्याय ने 'भागवत सम्प्रदाय' के निम्न शब्दों में इस सम्प्रदाय के लिये जैसा कुछ लिखा उसका ठीक वैसा ही अनुभव मैं इसके पूर्व ही कर चुका था, 'वैष्णव सम्प्रदायों में निम्बार्क मत का एक विशिष्ट महत्व है। दार्शनिकता की दृष्टि से ही नहीं प्रत्युत् प्राचीनता की दृष्टि से भी इस मत का इतिहास अभी गम्भीर अध्ययन का विषय है।"............ यह मत कब उत्पन्न हुआ।? तथा कहां उत्पन्न हुआ? तथा किस प्रकार विक-सित होकर वर्तमान दशा में पहुँचा? हिन्दी साहित्य के विकास में इस सम्प्रदाय के कवियों ने कितना महत्वपूर्ण कार्य किया? ये कतिपय प्रश्न अभी भी मीमांसा के निमित्त अवसर खोज रहे हैं"।[१] ये प्रश्न बार-बार मेरे मस्तिष्क में घुमड़ते थे। अतः मैंने इस दिशा में ही अध्ययन करने का निश्चय किया और उसकी एक स्थूल रूप-रेखा भी तैयार करली थी।

इसी बीच माननीय डा० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट (पेरिस) का मथुरा में तीन चार दिन के लिये आगमन हुआ। मैंने अपना विचार उनके समक्ष प्रस्तुत किया और अध्ययन की रूप-रेखा भी दिखलाई। श्रद्धेय डाक्टर साहब ने बड़ी उदारता से मुझे यथेष्ट समय दिया और मेरे विचार का समर्थन करते हुए रूपरेखा में थोड़े हेर-फेर के लिये सुझाव देकर उसे बहुत पसन्द किया। इसे अन्तिम रूप डा० टीकमसिंह तोमर एम० ए०, डी० फिल० के परामर्श से दिया गया।

१—भागवत सम्प्रदाय, श्री बल्देव उपाध्याय पृष्ठ ३१३

सामग्री संकलन एवं लेखनः—रसिक साहित्य की गोपनीयता के कारण शोधकर्ताओं की समस्याओं और उनकी नित नई कठिनाइयों की प्रसिद्धि साहित्यिकों में बहुत दिनों से चली आ रही है। वाणीकारों ने इस रस को महा मृदुल—दुर्लभ से भी दुर्लभ—कहा है। उन्होंने उसके अनधिकारियों के हाथों में पड़ने पर रोक भी लगाई है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि तत्वान्वेषकों के लिये भी इनकी उपलब्धि विकट समस्या बन गई। जहां कहीं जाइये वाणियों के अध्ययन की बात तो दूर रही उनके दर्शन का आग्रह भी अपराध-दृष्टि से देखा जाता है। मथुरा निवासी होने के कारण मेरे लिये यह अपेक्षाकृत सरल था। परन्तु मथुरा, वृन्दावन, गोवर्द्धन, निम्बग्राम, बरसाना, राधाकुण्ड, किलोलकुण्ड, जयपुर, रूप नगर आदि के साम्प्रदायिक स्थलों की सक्रिय जांच पड़ताल करने पर युगल शतक, महावाणी, गीतामृत गंगा, श्रीमद्भागवत, परशुराम सागर, युगल-रस-माधुरी. क्रम दीपिका, सिद्धान्त रत्नांजलि आदि ग्रन्थों की हस्तलिखित प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रतियां अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त हुईं। बड़े-बड़े स्थलों पर उनकी सामयिक परिस्थितियों के द्योतक अनेक पट्टे परवाने, नौ मोहरा, चित्र, हस्तलिखित स्तोत्र, कवच, संकीर्तन, संग्रह प्राप्त हुए। मथुरा के चतुःसम्प्रदाय के तीर्थ पुरोहित चौबे कुलकीराम के वंशज श्री रामलाल आदि की प्राचीन वहियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश पड़ा। इस सामग्री में से केवल महत्वपूर्ण वस्तुओं का यथा-स्थान प्रयोग किया गया है। बाबा विश्वेश्वरशरण, विहारी जी का बगीचा, वृन्दावन के सहयोग से स्वामी हरिदास जी एवं उनके अनुवर्तियों की हस्तलिखित वाणियों की उपलब्धि थोड़े प्रयास से होगई। श्रीनिम्बार्काचार्य, श्री निवासाचार्य, सुन्दर भट्ट, केशव काश्मीरि जो, हरिव्यासदेव जी की संस्कृत रचनाओं की मूल प्राचीन प्रतियां श्री निकुंज वृन्दावन में मिलीं। हिन्दी कवियों की वाणियां और काव्य रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियां निम्बार्कशोध-मण्डल, वृन्दावन के संग्रह से मिलीं।

श्री रसिक गोविन्द की स्वलिखित (लेखक स्वयं कविराज) वाणी सं० १८८७ की एक प्रति मेरे यहां देखने में आई। पब्लिक लाइब्रेरी एव पुरातत्व मन्दिर जयपुर, म्युनिसिपिल संग्रहालय प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, राजकीय पुस्तकखाना, एवं चित्रालय, किशनगढ़, पुरातत्व संग्रहालय मथुरा, सर्वेश्वर पुस्तकालय, सलेमाबाद, व्यास जी का पुस्तकालय जयपुर, आगरा विश्वविद्यालय लाइब्रेरी आदि की ढूँढ़ खोज मैने दो-दो, चार-चार सप्ताह तक इन नगरों में ठहर कर स्वयं की और विषय से सम्बन्धित सामग्री संकलित करने और यथाक्रम लेखबद्ध करने में चार वर्ष की अवधि समाप्त होगई। परन्तु कार्य फिर भी पूरा न हुआ। विश्वविद्यालय ने एक वर्ष की अवधि और बढ़ाकर उसे

पूरा कराने की कृपा की। डा० सत्येन्द्र जी एम० ए०, डी० लिट०, हिन्दी रिसर्च इन्स्टीट्यूट आगरा ने इस सामग्री के आकलन, व्यवस्थित करने एवं मेरे आलेखन के लिये सामयिक विविध निर्देश और सुझाव दिये। पाण्डु लिपि को उन्होंने आद्योपान्त देखा। उनके परामर्श से कई अध्यायों की तो पूर्ण रूपेण काया पलट हो गयी।

इस प्रबन्ध की कतिपय विशेषताएँ:—इस निबन्ध का मूल विषय निम्बार्क हिन्दी कवियों का अध्ययन है परन्तु उस अध्ययन का तारतम्य सम्प्रदाय की पूर्व परम्परा एवं उसके प्राचीन साहित्य, दर्शन एवं धार्मिक पृष्ठाधारों पर अवलम्बित है। हिन्दी कवियों के परिचय एवं उनकी यत्र तत्र स्थूल आलोचना निम्बार्क माधुरी में है, उनके काव्य के उदाहरण भी उसके संग्रह में हैं परन्तु कवियों के जीवन की धार्मिक, दार्शनिक सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के बीच उनकी काव्य धारा का विकास, उनके प्रभाव और प्रतिक्रियाओं के मूल्यांकन का प्रयास इस निबन्ध में नितान्त मौलिक है। निम्बार्क हिन्दी कवियों के द्वारा काव्य-वैभव और भाषा की समृद्धि विषयक अध्याय, उनके द्वारा संस्कृति के विभिन्न अंगों के चित्रण का प्रयास, सम्प्रदाय के दार्शनिक तत्वों की हिन्दी काव्य में विवृत्ति, संस्कृत में आचार-ग्रन्थ प्रणेता, उपासना तत्वों के निर्माता एवं दर्शन ग्रन्थों के रचयिताओं की परम्परा के विकास-विषयक अध्ययन अपने प्रकार के अभिनव एवं मौलिक प्रयास हैं। निम्बार्क-काल-निरूपण, केशव काश्मीरि जी, श्री भट्ट जी तथा हरिव्यासदेव जी के आविर्भाव काल पर विचार करते समय प्राय: अंतर्साक्ष्य का आधार कम रहा है और बहिर्साक्षों को ही विशेष महत्व दिया है। इस दिशा में सावधानी के साथ काम लेते हुए सभी पक्ष-विपक्षों पर मनन करने के उपरान्त निर्णय तक पहुँचा गया है। भारतीय दर्शन एवं धार्मिक साहित्य के विकास तथा हिन्दी में ब्रजभाषा काव्य के उद्भव और उसके विकास के अध्ययन की दृष्टि से ये स्थल अत्यन्त उपादेय और एकदम नवीन हैं। इस प्रकार इस निबन्ध से हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विचारधारा प्रकाश में आ रही है।

आभार प्रदर्शन:—इस निबन्ध को पूर्णता की स्थिति तक पहुँचाने में अनेक विद्वानों का सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन करना मेरा पवित्र कर्तव्य है। डा० धीरेन्द्र जी वर्मा ने इस निबन्ध के शोध की दिशा निश्चित करने में बहुमूल्य परामर्श दिया एवं समय-समय पर पीछे भी मुझे उनसे सुझाव मिलते रहे तथा मेरा पथ-प्रदर्शन होता रहा। डा० सत्येन्द्र जी ने निबन्ध की पाण्डुलिपि को पढ़ा, समुचित सुझाव एव परामर्श दिये तथा कार्य को पूरा करने में जब कभी शिथिलता आई अथवा निराशा के अवसर आये तो

वे मुझे सँभाले रहे। डा० टीकमसिंह तौमर कार्य निरीक्षक होने के साथ-साथ मेरे परम मित्र और विश्वविद्यालयीय परीक्षाओं तक के सहपाठी रहे हैं। उन्होंने जितना परिश्रम इस निबन्ध की तैयारी में आरम्भ से लेकर अन्त तक किया वह अन्य निरीक्षक से सम्भव नहीं। मेरी शिथिलता, शोध-कार्य में समय-समय पर आने वालो कठिनाइयों और असफलताओं से उत्पन्न निष्क्रियता पर उन्होंने कभी असन्तोष प्रकट नहीं किया वरन् उत्साह और उत्तेजना भरने का प्रयास किया। श्री ब्रजवल्लभ शरण जी के सहयोग के बिना यह कार्य पूर्ण होना कठिन था। मैं इन सभी सज्जनों का हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी एम० ए०, डी० लिट०, भू० पू० अध्यक्ष हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय ने साम्प्रदायिक विषयों पर लिखने का मुझे एक नितान्त प्रशस्त मार्ग निर्देश किया जिससे मुझ पर किसी स्थिति में इधर-उधर का भार नहीं आने पाया। मैं उनका हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

परम पूज्य महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी ने सम्प्रदाय के आचार्यों के काल निरूपण में विशेषतया श्री हरिव्यासदेव जी का आविर्भाव काल निश्चित करने में सत्परामर्श दिया। मैं उनका परम ऋणी हूँ। डा० फैयाजअली खां, एम० ए०, पी० एच० डी० वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान ने अपने शोध प्रबन्ध की अप्रकाशित प्रति मेरे पास भेजी जिससे नागरीदास जी के सम्बन्ध में अनेक नई बातें ज्ञात हुईं, मैं उनके प्रति भी हृदय से आभारी हूँ।

डा० दीनदयालु गुप्त एम० ए०, डी० लिट०, के 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० फैयाजअली खां के शोध प्रबन्ध 'भक्तवर नागरीदास, उनके काव्य-विकास से सम्बन्धित प्रतिक्रियाओं का अध्ययन' श्री बल्देव उपाध्याय के 'भागवत सम्प्रदाय' 'भारतीय दर्शन', ग्राउस साहब के मथुरा मैमोयर्स, डा० राजबली पाण्डेय के 'भारतीय इतिहास की भूमिका' एवं 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास', राय कृष्णदास जी की 'मूर्तिकला एवं चित्रकला', डा० रमा बोस का 'वेदान्त-रत्न-मंजूषा' एवं वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा के भाष्य और निम्बार्क दर्शन की तुलनात्मक आलोचना, डा० ईश्वरीप्रसाद के मध्यकालीन भारतीय इतिहास एव भारतवर्ष का इतिहास, डा० उमेश मिश्र का भारतीय दर्शन, उमेश जोशी के 'भारतीय संगीत का इतिहास' स्व० पंडित रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दो साहित्य का इतिहास', डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य' आदि पुस्तकों के ज्ञान का मैंने बार-बार उपयोग किया है। मैं इन सभी विद्वानों के प्रति परम श्रद्धा एवं कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

अनेक साहित्यिक संस्थाओं के पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों को सामग्री का मैंने उपयोग किया है, जिनमें से केवल कुछ का ही मैं पूर्वोल्लेख कर पाया हूँ। उनके अधिकारियों, पुस्तकाध्यक्षों एवं संग्रहाध्यक्षों का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इस निबन्ध को सुसज्जित करने एवं प्रूफ संशोधन आदि में मेरे शिष्य श्री ज्वालाप्रसाद शर्मा एम० ए, एल० टी० ने जो इस संस्था में उप-प्रधानाचार्य हैं अथक सहयोग दिया जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

व्यास पूर्णिमा संवत् २०२१
मथुरा।

नारायणदत्त शर्मा

भूमिका

भारतवर्ष धर्म-प्रवृत्ति-परायण देश है। उसमें भक्ति की परम्परा अति प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। इस विशाल देश की वृहद् एवं प्राचीन विविध चेतनाओं को ठीक रूप में हृदयंगम करने के लिए उसके राजनैतिक एवं सामाजिक स्वरूप को समझने की अपेक्षा उसके धार्मिक स्वरूप का मनोयोग पूर्ण अध्ययन अधिक आवश्यक है क्योंकि अन्य समस्त तत्वों के मूल में धार्मिक प्रभाव एवं प्रतिक्रियायें बहुत दूर तक काम करती हुई प्रतीत होती हैं। १५ वीं एवं १६ वीं शती के भक्ति आन्दोलन ने इस देश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशा को अत्यधिक प्रभावित किया। यह आन्दोलन वह दृढ़ भित्ति है जिस पर भारत का भवन-निर्माण हुआ है। इस देश के वैष्णव भक्त अथवा उसकी हिन्दू जनता ही नहीं वरन् सुदूर पश्चिमोत्तर की ओर से आने वाले आक्रमणकारियों को भी उसने ऐसी स्निग्धता प्रदान की कि कालान्तर में रहीम और रसखान जैसे न जाने कितने भक्त हृदयों का आविर्भाव हुआ जिनको पाकर हिन्दी काव्य कृतकृत्य हो गया। इस भक्ति आन्दोलन के प्रसार में वैष्णव सम्प्रदायों ने महान योग दिया है। दक्षिण के आलवार भक्तों का आविर्भाव एवं विकास-काल ईसा की चतुर्थ शताब्दी से दशवीं शताब्दी तक माना जाता है। ये आलवार भक्त ही इन वैष्णव सम्प्रदाय प्रवर्तकों के पूर्वज कहे जा सकते हैं। निम्बार्क,विष्णु स्वामी, रामानुज और मध्व चार आचार्यों ने दक्षिण भारत से आकर उत्तर भारत में प्रचार किया। उनके ही आधार पर चतुः सम्प्रदाय की स्थापना हुई। उपर्युक्त आचार्यों में से केवल रामानुजाचार्य एवं मध्वाचार्य की आविर्भाव-कालीन-स्थिति का समुचित परिज्ञान ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट है। निम्बार्क के आविर्भाव काल के विषय में कई मत मतान्तर प्रचलित हैं जो ईसा की ६ वीं शताब्दी से लेकर १२ वीं शताब्दी तक उनकी आविर्भाव स्थिति की ओर संकेत करते हैं। निम्बार्क का समय चाहे कुछ भी रहा हो परन्तु उनकी अधिक प्राचीनता का समर्थन आधुनिक विद्वानों और विचारकों से प्राप्त है । निम्बार्क सम्प्रदाय ब्रज की प्रथम और प्राचीनतम राधाकृष्ण-निष्ठ सम्प्रदाय है यह निश्चित है। निम्बार्क दाक्षिणात्य थे। उन्होंने दक्षिण से उत्तर की ओर ब्रज प्रदेश मे आकर अपनी सात्विक एवं मधुरभावमयी उपासना-पद्धति का सूत्रपात किया था।

ब्रज-प्रदेश में और उसके गांवों में आज भी निम्बार्क सम्प्रदाय के असंख्य केन्द्र हैं। उसकी उपासना पद्धति एवं उत्सव-प्रणाली यहां के जन-जीवन का आज भी अभिन्न अंग बनी हुई है। निम्बार्क सम्प्रदाय में ग्राह्य "कपालवेध" के अनुसार आज भी इस प्रदेश के वैष्णवों की व्रतप्रणाली स्थिर होती है, उसके

द्वारा परम्परा से प्रचारित व्रतोत्सव ब्रज जनपद के धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों के मूलाधार हैं। परन्तु अपनी गोपनीय उपासना-प्रणाली एवं लोक निरपेक्षता की प्रवृत्ति के कारण आत्मप्रकाशन के अभाव में यह सम्प्रदाय निरन्तर पिछड़ता गया और उसका इतिहास लोक-जीवन की दृष्टि से ओझल होता गया।

राधाकृष्ण की प्रिय भूमि ब्रज विविध संप्रदायों की जन्मदात्री रही है। एक के बाद एक कई संप्रदाय यहाँ प्रवर्तित हुए, कई यहाँ आकर विकसित हुए, कई यहाँ से बाहर गये और फले-फूले। ऐतिहासिक क्रम से देखें तो निम्बार्क के उपरान्त हरिदासी, राधाबल्लभी, पुष्टमार्गीय, गौड़ीय,चरणदासी सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हुए। ये सभी संप्रदाय राधा कृष्ण संबंधी सम्प्रदाय हैं। व्रज–वृन्दावन में इन संप्रदायों के मन्दिर तथा केन्द्र चारों ओर स्थापित मिलते हैं। सामान्यतः तो इन सम्प्रदायों का सामान्य ज्ञान भी सामान्य जन को नहीं होता। सामान्य जन के लिए तो सभी मार्ग एक ही स्थान पर पहुँचाते हैं।

यह जिज्ञासा तो कभी-कभी सामान्य जन में भी उठती है कि इन संप्रदायों में परस्पर अन्तर क्या है ?

सामान्य जन की यह जिज्ञासा यों ही सामान्य सी बातों में भले ही शान्त होजाय, पर जिज्ञासा स्वयं समाप्त नहीं हो पाती। तब यह जिज्ञासा विशेष वर्ग के मन में पैठ जाती है।

इस बीसवीं शती में जब हिन्दी उच्च कक्षाओं में अध्ययन का विषय बनी तो उसके पुराने और नये सभी प्रकार के साहित्य पर गहरी दृष्टि पड़ी। इसके साहित्य की संपत्ति को खोज खोज कर संग्रह करने के प्रयत्न भी हुए उनके ऐतिहासिक मूल्याँकन के भी प्रयत्न हुए। नागरी प्रचारिणी सभा काशी की भी स्थापना हुई, जहाँ खोज खोज कर हस्तलिखित ग्रन्थ भी लाए गये और जिन ग्रन्थों को नहीं लाया जा सका उनको रीलें ली गयीं और खोज रिपोर्टों में प्रकाशित कराई गयीं। उनके आधार पर इतिहास लिखे गये।

हिंदी का इतना विशाल क्षेत्र और इस विशाल क्षेत्र में फैली हुई अनंत ग्रंथराशि, खोज को नित्य नयी प्रेरणा मिली।

इतिहासकार यह अनुभव कर रहे थे कि अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा सबसे विकट कठिनाई संप्रदायों के गढ़ों में प्रवेश करने की है। ब्रज के सभी संप्रदायों के अनुयायियों में शतशः कवि हुए हैं। पर आरंभ में प्रायः वल्लभ सम्प्रदाय का पुष्टि मार्ग ही ऐसा था जिसने अपने साहित्य को प्रकाश में लाने का और अपने साहित्यिक को, कवि या भक्त को भी प्रचारित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया था। फल इसका यह हुआ कि बल्लभ सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित अष्ट छाप के

आठ कवि ही हिन्दी या ब्रज भाषा के मूर्धन्य कवि मान लिए गये। किसी अन्य सम्प्रदाय में भी कोई कवि हुए हैं इसकी ओर यथावत् ध्यान नहीं गया।

साहित्य के व्यापक और गहरे अध्ययन की मांग ने इन संप्रदायों के आवरणों को भी भेदने की प्रेरणा दी। कभी-कभी तो एकाध झाँकी अन्य संप्रदायों के साहित्य की मिल जाती थी तो वह चमत्कृत कर देती थी। विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ, कि वे योजना-बद्ध रूप में कोई कार्य हाथ में लें, इससे पहले ही विश्वविद्यालयों की डाक्टरेट की उपाधि के लिए, उत्सुक अनुसंधाताओं को अपने लिए अनुसंधान-योग्य विषयों की आवश्यकता हुई। जिन अनुसंधाताओं को ब्रज से सम्बन्धित पाया गया, उनको इन संप्रदायों के अन्तर में पैठ कर सामग्री एकत्र कर उनके स्वरूप को उद्‌घाटित करने का कार्य सौंपा गया।

उनमें से एक थे इस शोध प्रबन्ध के प्रस्तुतकर्ता डा० नारायण दत्त शर्मा। निम्बार्क सम्प्रदाय को इन्होंने लिया। हरिदासी को डा० गोपाल दत्त ने, राधाबल्लभी को डा० विजयेन्द्र स्नातक ने, वल्लभ सप्रदाय को डा० दीनदयाल गुप्त ने। ये सभी अनुसंधान पूर्ण हो चुके हैं, इनमें से कई प्रकाशित हो चुके हैं, कई प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। आज यह निम्बार्क सम्प्रदाय विषयक शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है।

ब्रज के इन संप्रदायों के साहित्य की शोध में एक नहीं अनेक कठिनाइयाँ थीं। सामान्यतः ये संप्रदाय प्रचारक सम्प्रदाय नहीं हैं। ये पात्रता के सिद्धांत को मान्यता देते हैं। इन संप्रदायों की साधनाओं में कई स्तर सहज मिल जाते हैं।

पहले आपको इनके मंदिर दिखायी पड़ेंगे, इनमें विविध प्रकार के दर्शन। आप इन्हीं दर्शनों से संतुष्ट होकर, प्रसाद लेकर लौट आयेंगे। बहुत बड़ा समुदाय इसी प्रकार लहरों के रूप में मन्दिरों के तट से टकराकर लौट आता है।

मन्दिरों में कीर्तन होते मिलेंगे, रास होते मिलेंगे, इनका कुछ साहित्य भी वहीं आपको प्रकाशित हुआ मिल जायगा। कीर्तन और रास आदि में विभोर आप भक्तिभाव के मिठास में कुछ और डूब जाते हैं, पर अब भी आपको यह चिन्ता नहीं कि कौन से पद गाये जा रहे हैं? क्यों गाये जा रहे हैं? पूजा कौन कर रहा है? किस प्रकार की पूजा की जा रही है? गा कौन रहा है?

आप यों ही कुछ जानना चाहें तो जानना संभव नहीं। गहराई में पैठने के लिए आपको सम्प्रदाय में दीक्षा लेनी होगी। सामान्य दीक्षा से काम नहीं चल सकता। सम्प्रदायों का गुह्य ग्रन्थ भंडार सबके लिए समान रूप से उपलब्ध नहीं हो सकता। जब आप विशिष्ट प्रकार से अपने आपको उसके योग्य बना लेंगे तब आपको कुछ परिचय उस महान सम्पत्ति का मिल पायेगा। अतः प्रत्येक

अनुसंधाता के समक्ष एक कठिनाई है। इस किलेबन्दी का कैसे भेदन किया जाय ?

इसके लिए द्विविध प्रयत्न अपेक्षित होता है। एक तो सम्प्रदाय के अधीशों का विश्वास प्राप्त किया जाय और दूसरे उन्हें यह भी विश्वास दिलाया जाय कि इतनी गोपनीयता आत्मघातक है। बीसवीं शती में उदित ज्ञान सूर्य की किरणों ने इन सम्प्रदायों को भी स्पर्श किया, और वे भी अनुभव करने लगे कि अब हम और अधिक बन्द कक्षों में नहीं बैठे रह सकते। ये प्रकाश किरणें कहीं न कहीं से प्रवेश पालेंगी और हमारी ये कृत्रिम प्राचीरें ढह जायेंगी। इस सामयिक उन्मेष ने अनुसंधाताओं की कुछ सहायता की और कुछ अनुसंधाताओं की लगन और कौशल की विजय हुई कि वे इन सम्प्रदायों के गुह्य कक्षों में पैठ करने में कुछ कुछ सफल हुए।

फिर भी यह कार्य अत्यन्त नाजुक था और अब भी है। सम्प्रदाय की भावनायें धार्मिक आस्था पर निर्भर करती हैं, घोर आस्तिकता पर। सम्प्रदाय में प्रचलित प्रत्येक बात पर आपको विश्वास करना होगा। ऐसे विश्वास, संभवतः आपको वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अमान्य और मिथ्या लगेंगे पर आप उनका प्रतिवाद कैसे करेंगे ! अनुसंधाता के समक्ष एक ओर तो उस सम्प्रदाय के कवियों के द्वारा लिखित विशाल ग्रन्थ राशि है, दूसरी ओर उन कवियों के सम्बन्ध में प्रचलित अनुश्रुतियाँ हैं। इन सब को सम्प्रदाय ने अपनी दृष्टि से किसी एक विशेष व्यवस्था में बाँध रखा है। अनुसंधाता का कार्य कितना कठिन और जटिल है। यह गढ़-भेदन सचमुच ही एक शौर्य का कार्य है।

डा० नारायणदत्त शर्मा ने निम्बार्क सम्प्रदाय का गढ़ भेदन करने में सफलता प्राप्त की। उसी का परिणाम यह शोध प्रबन्ध है।

इस शोध प्रबन्ध के द्वारा अब हिन्दी जगत निम्बार्क सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष को भी और अच्छी प्रकार हृदयंगम कर सकेगा और उसके हिन्दी कवियों के कृतित्व से भली प्रकार परिचित हो सकेगा।

प्रस्तुत प्रबन्ध तीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में उसकी उद्भव कालीन प्रेरणाओं, परिस्थितियों, प्रादुर्भाव और विकास, प्रस्थानत्रयी, उपासना सूत्र, आचार-सूत्र, प्राचीन इतिहास, उत्सव एवं उपासना प्रणाली केन्द्रों की विभिन्न कालीन स्थिति, विभिन्न साम्प्रदायिक परम्परायें, उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों के विवेचन एवं उल्लेखों का समावेश है। इसमें सम्प्रदाय के प्राचीन आचार्यों की विविध संस्कृत रचनाओं, सिद्धान्त सूत्रों एवं उपासना प्रणाली की महत्वपूर्ण ऊहापोह की गई है जो हिन्दी काव्य साहित्य की पृष्ठभूमि

को संक्षिप्त रूप से हृदयंगम करने एवं उसकी अध्ययन प्रणाली की दिशा निर्धारित करने में सहायक हैं।

प्रबन्ध के दूसरे खण्ड में सम्प्रदाय के दस प्रतिनिधि कवियों का अध्ययन उपस्थित किया गया है। इसमें उनके साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को ठीक रूप से स्पष्ट करने का प्रयास है। उनकी जीवनी सम-सामयिक परिस्थितियों, रचनाओं, व्यक्तित्व, कृतियों का कवि के जीवन से सम्बन्ध, रचनाओं की प्रामाणिकता विषयक विवेचन, उनका भाव-पक्ष कला-पक्ष और साधना-पक्ष सभी दृष्टियों से यह अध्ययन गम्भीर एवं सार्थक है। श्री भट्ट जी, हरिव्यास देव जी, रूपरसिक-देव जी, परसुरामदेव जी, रसिकदेव जी, ललित किशोरीदेव जी एवं स्वामी हरिदास जी इस अध्ययन के वे स्तम्भ हैं जिन पर इस प्रकार के दृष्टिकोण से पहली बार विचार किया जा रहा है। यह अंश यथेष्ट मौलिक एवं सर्वथा अभिनव हैं। इस अध्ययन से श्री राधाकृष्ण की उपासना-पद्धति एवं कृष्ण-काव्य की विचारधारा, सामाजिकता एवं सांस्कृतिक परिस्थिति और तद्विषयक पृष्ठिका पर तो नूतन प्रकाश पड़ता ही है परन्तु उक्त काव्य के आविर्भाव एवं उसकी विकास सम्बन्धी मान्यताओं के विषय में विचार करने की एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया गया है।

इस प्रबन्ध के तीसरे खण्ड में कवियों द्वारा चित्रित संस्कृति के विभिन्न तत्वों—संगीत, नृत्य, अभिनय, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य और वेशभूषा के सूक्ष्म विश्लेषण का प्रयास किया गया है। संस्कृति के विभिन्न अंगों द्वारा समाज पर पड़ने वाले प्रभावों, उनकी प्रतिक्रियाओं, नव संस्कारों के निर्माण एवं दिशा परिवर्तन करने की क्षमता है। विषय विश्लेषण एवं तत्व निदर्शन की दृष्टि से यह खण्ड महत्वपूर्ण है। इसमे तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में संस्कृति के विभिन्न तत्वों की स्थिति का अन्वेषण किया गया है और तद्विषयक निष्कर्षों तक पहुँचने का प्रयास भी हुआ है। दूसरे अध्याय में साहित्य एव कला की हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों में कैसी स्थिति रही इसका विवेचन है और तृतीय अध्याय में सम्प्रदाय के योगदान का मूल्यांकन किया है। सम्प्रदाय-सिद्धान्त, साहित्य, कला एवं परम्परागत विकास क्रम आदि अनेक तत्वों का इसमें एक साथ प्रस्तावित अध्ययन होने के कारण यह अत्यन्त रोचक बन पड़ा है। प्रबन्ध में विवेचित विभिन्न परिस्थितियों के परिचायक, उसमें स्थापित विचार धाराओं के पोषक आवश्यक प्रामाणिक एवं उपादेय चित्रों से उसे अधिक पुष्ट एवं आकर्षक बनाने का प्रयास भी हुआ है।

इस दृष्टि से निम्बार्क सम्प्रदाय का यह समग्र अध्ययन अभिनन्दनीय माना जायेगा। यह प्रथम प्रयत्न है, और विद्वान लेखक ने अपनी शक्ति भर पूरी

ईमानदारी से निम्बार्क सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ साथ हिन्दी को उसके कवियों द्वारा प्रदत्त कृतित्व का परिचय और मूल्यांकन भी दिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने निम्बार्क सम्प्रदाय के दृष्टिकोण के प्रति अपेक्षित सहानुभूति रखी है। फलतः सम्प्रदाय की निजी भावना का भी परिचय हमें इसमें मिल जाता है। इसी सहानुभूति पूर्ण अध्ययन में से हमें लेखक की वैज्ञानिक प्रतिपादना भी झाँकती मिलती है।। निम्बार्क सम्प्रदाय वैष्णव आन्दोलन का एक विकास स्तम्भ है क्योंकि श्री कृष्ण के साथ राधातत्व की प्रतिष्ठा के महत्वपूर्ण प्रयास द्वारा उसने जीवन को मधुर एवं सरस बनाने में बड़ा काम किया है। सम्प्रदाय के इस अध्ययन के द्वारा हिन्दी की एक नितांत आवश्यकता की पूर्ति हुई है जिसके लिए शर्मा जी बधाई के पात्र हैं। मेरा विश्वास है कि कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित विषयों पर अनुसंधित्सुओं के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी होगा और उन्हें इसका लाभ लेना चाहिए।

मैं इस प्रयत्न का स्वागत करता हूँ।

क० म० मुन्शी हिन्दी विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय,
आगरा।

—सत्येन्द्र
एम० ए०, डी० लिट्०

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खंड

❀ चित्र-सूची ❀

★

विशेष—इस प्रबन्ध की शेष चित्रावली इसके दूसरे भाग निम्बार्क सम्प्रदाय एवं उसके कृष्ण भक्त हिन्दी कवि 'साहित्य खंड' में प्रकाशित होगी।

निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिन्दी कवि

प्रथम खण्ड

प्रथम अध्याय

तत्कालीन वातावरण और सम्प्रदाय का उद्भव

(अ) पूर्व प्रेरणाएँ

भारतवर्ष की जनता समन्वयवादी है, वह 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्तानुसार अपनी भावना और विरोधियों के दृष्टिकोण को सुरक्षित रखते हुए मध्यमार्ग का निर्माण करती है, जिससे होकर शान्ति के साथ सभी अपनी जीवन-यात्रा चला सकें। मध्यकालीन इतिहास के प्रारम्भकाल में जब हर्षवर्द्धन का साम्राज्य विच्छिन्न हो रहा था, तो सामाजिक जीवन में भी बड़े संघर्ष चल रहे थे। बौद्धों के कई दार्शनिक वाद और उपासनात्मक यान, जैनों के दो भेद, कापालिक वीर शैव, दक्षिण और वाममार्ग, सौर-शाक्त-वैष्णव और कर्मकाण्ड—ये सब शक्तियाँ लोकजीवन को अशान्त-विक्षुब्ध बनाती जा रही थीं[1]। समाज की विभिन्न मनोवृत्तियाँ ही धार्मिक नाम-रूपों में संघर्षरत होकर एक दूसरे को आत्मसात् करना चाहती थीं। सम्राट् हर्षवर्द्धन ने इन सबके समाधान और सहयोग का भरसक प्रयत्न किया था, पर उसके शासकीय स्वरूप ने लोगों के मन को मौलिक रूप से प्रभावित नहीं किया।

बौद्धों के भेदोपभेद उस काल में समस्त उत्तर भारत में अधिकार जमाये हुए थे। अल्प संख्या में साधारण श्रद्धालु विष्णु-राम-कृष्ण की भी उपासना करते थे, पर व्यापक रूप में बौद्धिक नेतृत्व उनमें नहीं था। जो लोग अपनी प्रतिभा के बल से धार्मिक दृष्टि को लेकर कुछ नये सुधार करना भी चाहते थे तो बौद्धों का प्रभाव उसमें बाधक होता था। अतएव उस समय व्यापक धार्मिक कार्यों का विचार और उनकी रूप-रेखा दक्षिण में निर्धारित होती थी।

(आ) तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियां

भारतवर्ष को एक सूत्र में रखने के लिए पुराने समाज-विधायकों ने शासन-कर्त्ताओं के लिये साम्राज्य का आदर्श रखा था। इसमें प्रादेशिक विभिन्नताओं की रक्षा

१—भारतीय इतिहास की भूमिका, लेखक डा० राजबली पाण्डेय, पृष्ठ ३३६।

के साथ देश की एकरूपता का विशेष लक्ष्य रहता था। गुप्तों के अभ्युदय के बाद भारतीय दृष्टिकोण का साम्राज्य देश में स्थापित न हो सका। धार्मिक मतभेद और संकुचित जातीयता से देश में विभिन्नता बढ़ने लगी। पहली समाज-कल्पना में राजपद के अधीन धर्म, अर्थ, राष्ट्र सब का नियन्त्रण रहता था। अब प्रादेशिक शासनों में राजनीति प्रधान हो गई और शासन-सत्ता किसी सुस्थिर सिद्धान्त पर स्थित न होने के कारण समाज की ओर से निरुद्देश्य-सी होगई। जनता में विचार-शिथिलता और संकुचित भावना बढ़ गई। शासकों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न रह गया। छोटे-छोटे भूखण्डों में सामन्त शासक बनकर आक्रमण और ऐश्वर्य-भोग में शक्ति क्षीण करने लगे[1]। निरीह जनता के नेता भी शासकों के अनुवर्ती रहने लगे, इस तरह उसकी शिक्षा और संस्कार मन्द पड़ जाने से अनेक अन्ध-विश्वास और भ्रान्तियाँ फैलने लगीं। गौतम बुद्ध, महावीर आदि के उपदेश सदाचार बढ़ाने वाले थे, उनके द्वारा संकुचित भावना के स्थान पर उदारता, दया, संयम और शुभ संस्कारों को बल मिलता था। आगे चलकर इन उपदेशों के अर्थकर्ताओं में भ्रम फैल गया और इनके सहारे अनेक उपसिद्धान्त चलाये गये। बौद्ध विचारकों की महत्त्वपूर्ण 'धर्म संगीति' (विचार गोष्ठी) सर्वकल्याण के उद्देश्य से जुड़ती थीं, पर उनके परिणाम निकले महायान, वज्रयान और सहजयान के रूप में। बेचारे सदाचारवादी बूढ़े बौद्धों की किसी ने नहीं सुनी, उल्टे उन्हें 'हीनयानी' कहकर उनकी खिल्ली उड़ाई गई। महायानियों का बहुमत बढ़ा, दुर्वासनाओं के पोषक अनेक सिद्धान्त कल्पित हुए। उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर, शाक्तों ने वाम-मार्ग का विस्तार किया[2]।

वेदशास्त्रों के पक्षपाती आत्मरक्षा के विचार से कट्टर पंथी बनकर संकुचित भाव रखने लगे। उनकी अनुदारता और जनमत के प्रति उपेक्षा ने पूर्वोक्त कल्पित मतवादों के प्रसार के लिए पूर्ण अवकाश प्रदान किया। भ्रान्त जनता इन कुपथों के जंजाल में फँसने लगी। बुद्ध के त्यागपूर्ण उदार विचार घोर वासना क्रियाओं में विलीन होगए। शाक्तों के साथ पाशुपत, कापालिक, शुष्क कर्मकांडी और निरे स्नान-दान के नाम पर परलोक बनाने वाले अनेक मत चल पड़े। कोई भी वाह्य चिह्नधारी यदि शासक को प्रभावित कर ले, तो उसी का मत राजधर्म हो जाता था। छोटे-छोटे खंड-राज्यों के शासक आपस में लड़-झगड़कर बनते और बिगड़ते रहते थे। प्रजा के संस्कार और व्यापक उन्नति की चिन्ता करने वाला कोई न रह गया था। देश के अन्दर विशेषकर दक्षिण की ओर जहाँ-तहाँ शासकों ने जनता की सांस्कृतिक अभिवृद्धि का कुछ ध्यान रखा, परन्तु समुद्र-तट के सीमांचलों की सुरक्षार्थ उन्होंने ऊँची राजनीतिज्ञता नहीं दिखाई। देश पर विपत्ति-घटा आ रही थी। इस काल में दक्षिण के आचार्यों ने देश में किसी भौतिक बल का सहारा न देखकर परमात्मा की उपासना के सहारे ही सब विरोधों और आपत्तियों के

१—**हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ६१।**
२—**भारतीय धर्म और दर्शन, मिश्रबन्धु, पृष्ठ ५०।**

सामने डटे रहने का निश्चय किया। दम्भ रहित सच्ची उपासना के द्वारा देश की आन्तरिक भावना शुद्ध बनी रहे तो वह कभी न कभी अपनी रक्षा स्वयं कर सकेगी, इन आचार्यों का यही उद्देश्य था। निम्बार्काचार्य ने इसी उद्देश्य से अपने स्वतन्त्र सम्प्रदाय की कल्पना की और वे दक्षिण से ब्रज में चले आये।

(इ) सम्प्रदाय का उद्भव

पूर्वागत धार्मिक प्रणाली का ज्ञान प्रदान करने वाली संस्था को ही 'सम्प्रदाय' कह सकते हैं। निम्बार्क स्वामी के द्वारा प्रचलित होने के कारण यह 'निम्बार्क सम्प्रदाय' कहा जाता है। निम्बार्क स्वामी ने स्वतः निर्धारित किसी सिद्धान्त के आधार पर इस सम्प्रदाय को प्रचलित नहीं किया, परन्तु पहले से चले आ रहे सनतकुमार, नारद के उपदेशों के आधार पर इसको चलाया[1]। सम्प्रदाय के अन्तर्गत सिद्धान्त और उपासना-प्रणाली, ये दो वस्तुएँ मुख्य होती हैं। हिन्दू-आचार्य दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद् की व्याख्याओं में करते थे, एवं मन्त्रोपदेश और उसकी साधना के अन्तर्गत उपासना का वर्णन होता था। श्री नारदजी से गोपालमन्त्र और इष्ट देवोपासना का उपदेश निम्बार्काचार्य को प्राप्त हुआ था। इस विषय में यह अभिमत प्रचलित है:—

भगवन्नारायण के मुख से गोपाल मन्त्र प्रकट हुआ था, उसे सनकादि कुमारों ने ग्रहण कर नारदजी को सिखाया, उसी का नारद ने अपने शिष्य निम्बार्क को उपदेश दिया था[2]।

इस मन्त्र और विद्या का उपदेश निम्बार्क स्वामी को किस देश-काल और अवस्था में मिला इसकी कोई निश्चित उपलब्धि नहीं होती। प्राचीन भारत के महापुरुष व्यक्तिगत ख्याति नहीं चाहते थे। अतः अपनी रचनाओं में कहीं भी उन्होंने ऐसा उल्लेख नहीं किया। अतः उनकी ग्रन्थ-रचना तथा साम्प्रदायिक शिष्यों की टीका-उपटीका एवं गुरुपरम्परा के बल पर ही अनुमान से चलना पड़ता है। इतना तो निश्चित है कि ब्रह्मसूत्र के व्याख्या-कारों और विशिष्ट उपासना-प्रवर्तकों में निम्बार्क स्वामी का प्रमुख स्थान है। ब्रह्मसूत्र के व्याख्याकार बहुत पहले, ईसा-पूर्व चौथी, पाँचवीं शताब्दी से ही होते आ रहे थे, पाणिनि आदि के काल के उपवर्ष तथा आगे चलकर टंक, भर्तृप्रपञ्च, बोधायन आदि के नाम आधुनिक व्याख्याओं में पाये जाते हैं। पाणिनि के सूत्रों में भी 'पाराशर्य' सूत्र पढ़ने

१—ब्रह्मसूत्र, अ० १ पा० ३ सू० ८ की व्याख्या में निम्बार्कोक्तिः—"परमाचार्यैः कुमारैरस्मद गुरवे नारदाय उपदिष्ट।"

वेदान्त कामधेनु—सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे।

श्लोक ६

२—नारायणमुखाम्भोजात् मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः।
आविर्भूतःकुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय वै।
उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्कायचतेनतु। —विष्णुयामल।

वाले भिक्षुओं का निर्देश है। यहीं देखना चाहिए कि निम्बार्काचार्य ने ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याकारों के बीच किस काल में उत्पन्न होकर अपने सम्प्रदाय का संगठन किया। ब्रह्मसूत्रों पर उनकी व्याख्या बहुत संक्षिप्त है उसमें कहीं-कहीं मत-मतान्तरों के जो संकेत मिलते हैं वे इतने अस्पष्ट हैं[1] कि काल-ज्ञान में उनके सहारे निःसंदिग्धतापूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

निम्बार्क स्वामी के समय का स्पष्ट प्रमाण न मिलने पर भी उनकी ग्रन्थ-रचना, शिष्य-परम्परा तथा उपासना-प्रणाली के आधार पर विद्वानों ने उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार के विचार किये हैं। अभी तक अधिकांश लोग डा० भांडारकर की कल्पनाओं के आधार पर निम्बार्क का तिरोधान-काल वि० सं० १२१९ के लगभग मानते आ रहे हैं। डा० भांडारकर अनुमान करते हैं कि निम्बार्क और माध्व की शिष्य-परम्परा हरिव्यासदेव तक संख्या में प्रायः समान है। अतएव उन्होंने माध्व के समय और उनकी पीढ़ियों को देखते हुए उनसे (सं० १२५६ से) ३७ वर्ष पहले निम्बार्काचार्य का समय निर्धारित किया है[2]। भांडारकर ने इस निश्चय को भी यद्यपि निःसंदिग्ध नहीं कहा पर उपायान्तर के अभाव में इसी कल्पना को मान्य किया है। तो भी जन्मकाल का उल्लेख वे भी न कर सके। आजकल के अनेक समालोचक इसी निर्णय के आधार पर ऊहापोह करके विक्रम की बारहवीं शती का कोई भाग, निम्बार्क का आविर्भाव-काल ठहराते हैं। फिर भी इस मान्यता के साथ मतभेद रखने वाले पक्षों का भी दृष्टिकोण उपस्थित करना आवश्यक है, जिससे कि किस कथन में कितना सार है, यह प्रतीत हो जाय। इनमें सर्व प्रथम मत सम्प्रदायानुयायी अति श्रद्धालु भक्तों का है; दूसरा पूर्वापर-आलोचनाशील साम्प्रदायिक विचारकों का और तीसरा पक्ष निरपेक्ष आलोचकों का है।

साम्प्रदायिक भक्तजनों का विश्वास है कि निम्बार्काचार्य द्वापर युग के अन्त में श्री कृष्णावतार के समय सुदर्शन चक्र के अवतार रूप से प्रकट हुए[3]। उनके पिता का नाम अरुण कहा गया है। अतः (अरुण के पुत्र) 'आरुणि' यह भी उनका नामान्तर

---

1. Nimbark wrote a short commentary on the Brahma Sutra called Vedanta Parijat Saurabha. This commentary is very condensed and its peculiarity is that unlike most of the commentaries it contains no attempt at refuting rival schools of thought at expounding at length the theory of the author himself. (Page 8 Works of Nimbarka, Vedanta Kaustubha of Shri Nivasa by Rama Bose M. A. D. Phil).

२—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स, डा० भाण्डारकर, पृष्ठ ८८, फुट नोट।

३—सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक पृष्ठ १८५।

था[१]। भागवत पुराण में कई जगह ऋषियों के साथ 'आरुणि' नाम मिलता है, एवं 'नारद-भक्ति सूत्र' में भी यह नाम है। यह आरुणि ही निम्बार्क स्वामी थे। सुदर्शन के अवतार निम्बार्क थे, इस सम्बन्ध में पुराणों के कुछ श्लोक भी प्रचलित हैं। नारदजी के शिष्य होने से भी इनकी प्राचीनता प्रकट की जाती है[२]। कहा जाता है कि धूसर गौ, तोष ग्वाल और रंगदेवी सखी रूप से निम्बार्क भी कृष्ण की बालक्रीड़ा के परिकर थे[3]। इस मान्यता के विषय में शुद्ध श्रद्धा के अतिरिक्त ऐतिहासिक प्रमाणों की आवश्यकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि निम्बार्क विरचित ब्रह्मसूत्र व्याख्या में 'वसुबन्धु' जैसे बौद्ध दार्शनिक का मत उद्धृत हुआ है,[४] जो पाँचवीं शताब्दी के आसपास हुए थे। वसुबन्धु के कुछ बाद के 'विप्रभिक्षु' अर्थात् धर्मकीर्ति का उद्धरण निम्बार्क के शिष्य श्रीनिवास की टीका में दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि निम्बार्क स्वामी छटवीं, सातवीं शताब्दी में हुए होंगे।

निम्बार्क स्वामी नारदजी के शिष्य इस प्रकार भी हो सकते हैं कि अजर-अमर नारदजी देवऋषि हैं। अन्यान्य देवताओं की तरह वे अपने भक्तों के ध्यान-उपासना करने पर चाहे जब दर्शन दे सकते हैं। भक्त जन अपनी उपासना-पुष्टि के लिए ऐसा भले ही मानते रहें, पर व्यवहार में निम्बार्क का द्वापरान्त काल सिद्ध होना कठिन है।

साम्प्रदायिक संस्कृत साहित्य के अनुशीलनकर्ता कुछ विद्वानों का विचार[५] है कि निम्बार्क स्वामी का काल छटी शताब्दी के अन्त में है। उनकी ब्रह्मसूत्र-व्याख्या में बौद्ध-जैन मत की आलोचना के[६] सिवाय शंकराचार्य के मायावाद, अद्वैतवाद आदि का खण्डन कहीं नहीं हुआ। उत्पत्त्यधिकरण वाले सूत्र में[७] निम्बार्क 'शक्ति कारणवाद' का खंडन करते हैं। यदि निम्बार्क शङ्कर के पश्चात् हुए हैं, तो उन्हें उत्पत्त्यधिकरण में शक्तिवाद के खंडन की तरह शङ्करोक्त व्यूहवाद-खंडन का भी प्रतिवाद करना चाहिए था। उनके शिष्य श्रीनिवास ने भी ऐसी कोई चर्चा नहीं की। इस आधार पर निम्बार्क स्वामी

१—हंसवल्ली, पृष्ठ १४, श्लोक, ७-१२।

२—आम्नायरसमुदधृत्य विप्रबालं सुदर्शनम्।
त्वया भाषा ग्रहासन्नं ग्राह्याभास नारदः॥---नैमिष खण्डीय वाक्य हंसवल्ली से उद्धृत।

३—निम्बार्क प्रभा, श्रीहंसदास संकलित, पृष्ठ ३८।

४—'सुगतमतं निराकरोति'। विज्ञानमात्र-अस्तित्ववादी (वसुबन्धु) अभिमतः। विनष्टो देहपरिमाण। जैनमत वादः॥ ब्र० सू० २-२-१८ से ३६।

५—(अ) भारतेर साधना मा० पत्रिका का बँगला, सन् १३४० आग्रहायण मास अंक०
(ब) श्री भारती बँगला मासिक पत्रिका, अंक ५, ६, ८ ६, १०, एवं ११ श्रीविरजाकान्त घोष, युगल शतक की भूमिका में उदधृत पृष्ठ २७-२८ सं० ब्रजबल्लभशरण।

६—टिप्पणी, सं० १। ऊपर।

७—ब्र० सू० अ० २ पा० २ सू० ४२।

शङ्कर स्वामी (सं० ८४५) से पूर्वकालीन होने चाहिए। शङ्कर ने द्वैताद्वैतवाद की भी आलोचना की है, उसमें यद्यपि निम्बार्क और श्रीनिवास का नामोल्लेख नहीं, अतः यह किसी अन्य द्वैताद्वैतवादी पुराने आचार्य का खण्डन हो सकता है। सम्भव है शङ्कर के समय तक निम्बार्क की रचना प्रसिद्ध न हुई हो। किन्तु निम्बार्क या श्रीनिवास तो शङ्कर जैसे विख्यात आचार्य से परिचित रहने चाहिए। फिर उन्होंने अपनी विस्तृत व्याख्या में शङ्कर द्वारा अपने सिद्धान्त के खण्डन का प्रतिवाद क्यों नहीं किया। इसीलिये कि वे शङ्कर के पीछे नहीं हुए। अपितु पूर्वकाल में हुए होंगे। यही धारणा होती है।

डा० भांडारकर तथा उनकी देखादेखी अन्य भाष्यस्वारस्यानभिज्ञ आलोचक आजकल कहते हैं कि निम्बार्क रामानुज से प्रभावित थे। रामानुज की शैली पर उन्होंने भाष्य-रचना की[1] और शङ्कर का मायावाद खण्डन ही इनका लक्ष्य था। लगता है कि उक्त आलोचकों ने सम्भवतः रामानुज-निम्बार्क कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया। निम्बार्क ने अपने भाष्य में किसी आचार्य का खण्डन नहीं किया। वे दो, चार पंक्तियों में सूत्र का अर्थ करते हुए चले हैं। मायावाद का खण्डन कहीं भी नहीं हुआ। भाष्य में उन्होंने परमात्मा का उल्लेख 'रमाकान्तः पुरुषोत्तमो ब्रह्मशब्दाभिधेयः' सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवः[2] आदि शब्दों में किया है। रामानुजाभिमत श्रीमन्नारायण का उल्लेख और विस्तृत, तर्कपूर्ण वाक्य-रचना का उनके ग्रन्थ में अभाव है। अतएव सूक्ष्माकार निम्बार्क-व्याख्या में रामानुज के प्रभाव के समावेश का अवकाश ही नहीं है। दूसरे इस वृत्ति में वाद बहुत कम है व्याससूत्रों का भावार्थमात्र अधिक किया गया है, अधिकांश श्रुतियों के उद्धरणों से ही इनकी वाक्यावली पूर्ण हुई है। मूल सूत्रों की, वैष्णव-दृष्टि से जो व्याख्या हो उसमें बहुशः साम्य होना सम्भव ही है क्योंकि सबके मूलाधार एक विष्णु ही हैं। इतने से ही किसी का अन्य पर प्रभाव नहीं आँका जा सकता। यह निम्बार्क को छटवीं शताब्दी के समीप मानने वालों का मत है[3]।

इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि जब तक इसका समर्थन किसी बाह्य प्रमाण से न हो, तब तक उक्त अप्रत्यक्ष कल्पना के सहारे ऐतिहासिक निर्णय कैसे किया जाय ?

स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती का विचार है कि[4] निम्बार्क भट्टभास्कर से प्रभावित थे। भास्कर विक्रमीय नवम शताब्दी के अन्त में हुए हों, तो निम्बार्क ग्यारहवीं शताब्दी में हुए, यही मानना होगा। भास्कर औपाधिक भेदाभेद मानते थे, निम्बार्क ने स्वाभाविक

१—डा० रामकुमार वर्मा कृत 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृष्ठ १८६।

२—वेदान्त पारिजात सौरभ, अ० १, पा० १, सू० १।

३—युगल शतक की भूमिका, सं० ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य, पृष्ठ २८।

४—वेदान्त दर्शनेर इतिहास (बँगला) सं० १३२२ युगल शतक की भूमिका में उद्धृत पृष्ठ १९।

भेदाभेद माना है। निम्बार्कीय देवाचार्य का समय युगरुद्रेन्दु (११११) अनन्तराम पंडित (१७ वीं शती) ने लिखा है[1] । यह शकाब्द होना चाहिए, इस प्रकार भास्कर दशवीं शती, निम्बार्क ग्यारहवीं शती और देवाचार्य तेरहवीं शती में हुए हैं। रामानुज से निम्बार्क के पहले होने में इन्होंने भविष्यपुराण का यह प्रमाण दिया है:—

विष्णुस्वामी प्रथमतौ निम्बादित्यौ द्वितीयकः।
मध्वाचार्य स्तृतीयस्तुतुर्यो रामानुजः स्मृतः॥

प्रज्ञानन्द सरस्वतीजी का प्रयास परोक्ष अनुमान के आधार पर है। निम्बार्क और भास्कर में कुछ सैद्धान्तिक समीपता होने पर भी इसके ठोस प्रमाण नहीं मिलते। निम्बार्क स्वामी की सूक्ष्म लेखन-शैली को देखते हुए किस का प्रभाव किस पर पड़ा यह कहना बड़ा कठिन है। देवाचार्य के समय को शकाब्द मानने पर आगे चलकर सम्प्रदाय परम्परा की अन्य पीढ़ियों का समय बहुत कम रह जाता है। सम्प्रदाय के ही अनुसार केशव काश्मीरी १३ वीं शताब्दी में माने जाते हैं। अतः परम्परा के आधार पर कोई निर्णय निश्चित नहीं रहता। उपर्युक्त श्लोक किसी आचार्य के पूर्वापरत्व का निर्णय नहीं करता, क्योंकि यह इतिहास से प्रमाणित है कि मध्वाचार्य तेरहवीं शती में हुए थे, वे रामानुजाचार्य से पूर्व नहीं हो सकते[2] । साथ ही भास्कर का नवीं या दशवीं शती में होना प्रमाणित नहीं होता, रामानुज ने उनकी आलोचना की इससे यही कह सकते हैं कि वे ११ वीं शती में भी हो सकते हैं। इन युक्तियों से किसी निश्चय पर नहीं पहुँचा जा सकता।

इसी प्रकार निम्बार्क भाष्य की अँग्रेजी-अनुवादिका डा० रमा बोस का यह उल्लेख भी प्रामाणिक नहीं है कि निम्बार्क स्वामी तेरहवीं शताब्दी के बाद या वल्लभाचार्य के भी पश्चात् उत्पन्न हुए[3] । अपने अनुसन्धान-काल में रमाबोस को दो ऐसे ग्रन्थ देखने को मिले जो भ्रम से निम्बार्ककृत मान लिए गए थे, पर वस्तुतः वे उनकी रचना नहीं कहे जा सकते। उनमें से एक पुस्तक "सविशेषनिर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज" और दूसरी 'मध्वमुखमर्दन' है।

लिखित संग्रह से उपलब्ध 'कृष्णस्तवराज' की केवल एक प्रति की टीका में उसका निम्बार्क-रचित होना लिखा था। इस प्रति के आधार पर उसका प्रथम संस्करण प्रकाशित होने के बाद अन्य प्रतियों की पर्यालोचना से पता चला कि उक्त स्तवराज निम्बार्क-रचित नहीं है। उसके अगले संस्करणों और प्रकाशित विज्ञप्तियों में इसकी घोषणा भी कर दी गई। अभाग्यवश डा० रमाबोस को 'कृष्णस्तवराज' का प्रथम संस्करण ही देखने को मिला। इस निराधार प्रमाण से वे निम्बार्क काल को तेरहवीं शताब्दी के आगे ले गईं जो नितान्त असंगत है।

१—युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ २०।

२—भारतीय दर्शन, डा० उमेश मिश्र, पृष्ट ३५३, ४०६।

३—निम्बार्क दर्शन (अँग्रेजी अनुवाद) भाग ३, डा० रमा बोस, एम० ए०, डी० फिल० कृत।

'मध्वमुखमर्दन' भी निम्बार्क का बनाया हुआ नहीं है। सम्प्रदाय की रचनाओं और विद्वानों के बीच इस पुस्तक के निम्बार्क द्वारा बनाये जाने की कोई चर्चा नहीं सुनी जाती। निम्बार्काचार्य की साहित्यिक कृतियों में सिद्धान्तगत आक्षेपात्मक खण्डन-मण्डन नहीं मिलता। इसलिये एक वैष्णवाचार्य के प्रति ऐसी आक्षेपात्मक पुस्तक लिखना उनके स्वभाव के भी विरुद्ध था। डा० आफ्रेक्ट की सूची में भ्रम से ही निम्बार्क के नाम पर उसका उल्लेख हुआ है[1]। इसलिये 'मध्वमुखमर्दन' के आधार से निम्बार्क-काल को मध्वाचार्य के पश्चात् या १३ वीं शताब्दी के आस-पास ठहराना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। डा० रमा बोस ने निम्बार्क-काल के निर्धारण में यह दूसरी भूल की है।

प्रोफेसर गोपाल शास्त्री (संस्कृत कालेज, बनारस) ने पूर्वोक्त 'श्रीकृष्णस्तवराज' की श्रुत्यन्त कल्पवल्ली टीका का सम्पादन करते समय उसकी भूमिका में निम्बार्क स्वामी को कुमारपाल गुर्जराधिप का समकालीन लिखा है। उनका अनुमान एक जनश्रुति पर आधारित है कि कुमारपाल के राज्याभिषेक (संवत् १२०० वि०) के समय कोई निम्बार्क सम्प्रदायी आचार्य उस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। परन्तु वे स्वयं निम्बार्क थे ऐसा कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया। निम्बार्क के महत्त्व पर पूर्व प्रचलित भविष्य पुराण का निम्न श्लोक अनेक पूर्व विद्वानों ने उद्धृत किया है।

निम्बार्को भगवान् येषां वांछितार्थफलप्रदः।
उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे ॥

अन्त में डा० भाण्डारकर के निर्णय पर भी कुछ विचार करना समीचीन होगा क्योंकि उपरोक्त सभी आलोचक प्रायः उनके इस निर्णय से प्रभावित होकर विविध अनुमानों के क्षेत्र में अग्रसर हुए।

डा० भांडारकर की विचार-पद्धति तर्कपूर्ण है। उनकी खोज दक्षिण भारत में प्राप्त दो गुरुपरम्पराओं पर आधारित है। उनमें हरिव्यासदेव के शिष्य कोई दामोदर गोस्वामी माने गए हैं[2] और उनका स्थितिकाल डाक्टर साहब ने सन् १७५० ई० लिखा है। यहाँ पर एक भारी त्रुटि मालूम होती है। आजकल थोड़े से स्थानों को छोड़कर निम्बार्क सम्प्रदाय के सैकड़ों स्थान हरिव्यासदेवजी की शिष्य-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं, उनमें से किसी में भी सन् १७५० में हरिव्यासदेवजी के शिष्य दामोदर गोस्वामी का नाम नहीं मिलता।

सन् १७५० ई० (वि० सं० १८०७) में हरिव्यासदेवजी की परम्परा में छटवीं पीढ़ी में श्री गोविन्दशरणदेवजी आचार्यपीठ की गद्दी पर विराजमान थे। ऐसा उक्त पीठ

१—युगल शतक की भूमिका, गोस्वामी ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य, पृष्ठ ४१।

२—वैश्नविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सैक्टस, डा० भाण्डारकर, पृष्ठ ८८।
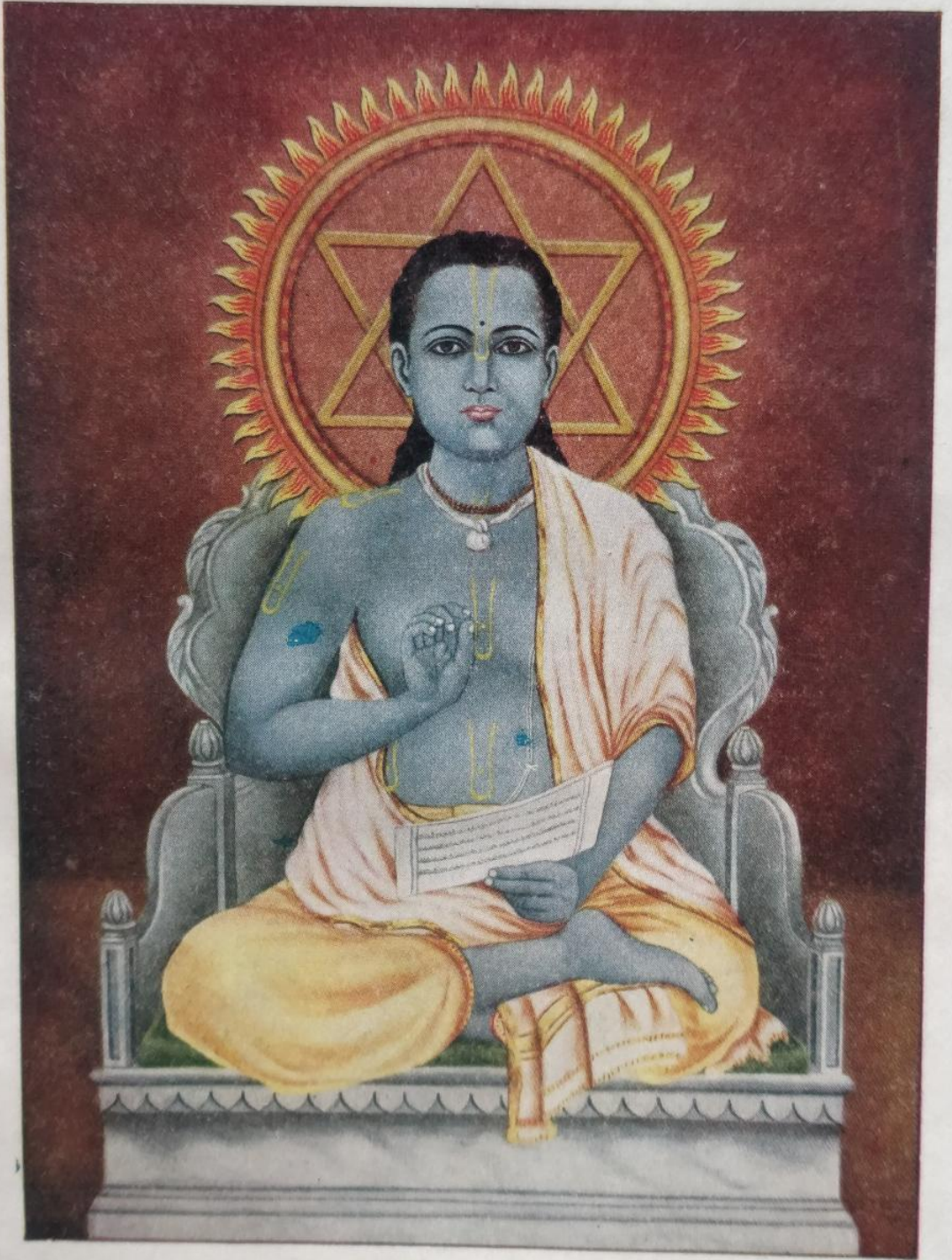
अनन्त श्री आदि जगद्गुरु भगवान श्री निंबार्काचार्य महामुनीद्र

निंबार्कपीठ प्रयाग के सौजन्य से

के प्राचीन पट्टों से सिद्ध है। अतः दामोदर गोस्वामी नामक उनके किसी प्रत्यक्ष शिष्य की उस समय विद्यमानता असम्भव प्रतीत होती है।

जो भी हो इसमें संदेह नहीं कि दामोदर गोस्वामी को अपनी कल्पना का एक आधार बनाकर डा० भांडारकर का अपनी खोज की उक्त कल्पना के आधार पर किया गया कोई भी निर्णय अधूरा ही रहेगा[१]। निम्बार्क सम्प्रदाय का आचार्य-स्थान कृष्णगढ़ राज्य में परशुरामदेवजी ने १६ वीं शती में स्थापित किया था। उसके निश्चित प्रमाण राजस्थान के इतिहास में मिलते हैं[२]। इस आधार पर परशुरामदेव के गुरु हरिव्यासदेव सत्रहवीं या अठारहवीं शती के महापुरुष नहीं हो सकते। अतः भाण्डारकर का तर्क निःसार हो जाता है। अपने निर्णय से वे स्वयं भी सन्तुष्ट नहीं हैं[3]। सुप्रसिद्ध धर्मतत्वान्वेषक लोकमान्य तिलक भी इस निर्णय से सहमत नहीं। उनके मत से निम्बार्क का समय भांडारकर द्वारा निर्णीत काल से १००-२०० वर्ष पूर्व होना चाहिए[४]। निम्बार्क स्वामी के स्थिति-काल को लेकर विद्वानों के जो विभिन्न मत प्रचलित हैं, उन पर ऊपर विचार किया गया है जिससे स्पष्ट है कि सभी मतों में कुछ न कुछ सन्देह बना ही रहता है, निश्चित प्रमाण किसी के पास नहीं।

पं० ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आलोचनाशील विद्वान् हैं। उन्होंने भी ऐतिहासिक निर्णयों पर पहुँचने के लिए स्तुत्य प्रयास किया है। निम्बार्क-ब्रह्मसूत्र-व्याख्या के अत्यन्त संक्षिप्त होने से श्रीनिवास भाष्य का उन्होंने यथेष्ट मनन एवं उसके साथ शङ्कर भाष्य का तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। कुछ प्रकरणों के अनुसन्धान से वे इस निर्णय पर पहुंचे कि श्रीनिवास शङ्कराचार्य से पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि शङ्कराचार्य ने उनका नाम लिए बिना उनकी ही शब्दावली को उद्धृत कर उसका खण्डन किया है।

१—उनका तर्क इस प्रकार है:—

(ब्रह्मसूत्र) भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् । २-१-१३.

परमात्मा ही जीव रूप से भोक्ता माना जाय तो संसार में नियम्यनियामक विभाग

1—As to when he flourished we have no definite information. Vaishnavism, Saivism etc. by Bhandarkar, Page 88.

२—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, संग्राहक, निम्बार्क - शोध - मण्डल, वृन्दावन, पृष्ठ १७।

3. 'The calculation of ours is of course very rough, and besides the date of the manuscript No 706 which is read as 1913 by some, but which looks like 1813 conflicts with this calculation as nine more Acharyas flourished after Damodar.

......Vaishnavism, Saivism etc. Footnote 3, Page 88.

४—गीता रहस्य, बाल गंगाधर तिलक, पृष्ठ १७।

नहीं रह जाता। इस पर कहते हैं कि लौकिक समुद्र-तरंग, सूर्य-प्रभा आदि के विभाग के समान ऐसा हो सकता है।

(इस पर श्रीनिवास भाष्य)—"यथा लोके मृत्पिण्डोपादानकानां घटशरावादीनां सुवर्णोपादानकानां कनककुण्डलादीनां समुद्रोपादानकानां फेनतरंगादीनां वृक्षोपादानकानाम् फलपत्रादीनां च कारणानन्यत्वेपि परस्परं विभागोस्ति।" —सिद्धान्त पक्ष

(इस स्थल का अगले सूत्र पर शङ्कर भाष्य)—"नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षो नेक शाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तिप्रयुक्तं ब्रह्म। एकत्वं नानात्वं चोभयं सत्यमेव। यथा वृक्ष इति एकत्वं शाखा इति नानात्वं च, यथा च समुद्रात्मना एकत्वं फेन तरङ्गाद्यात्मना नानात्वं, यथा च मृदात्मनैकत्वं घटशरावाद्यत्मना नानात्वम्।" —पूर्व पक्ष

इन दोनों संदर्भों पर विचार करने से यह निश्चित हो सकता है कि दोनों भाष्यों में से किस के रचयिता पूर्व हुए और किस के रचयिता पीछे। अर्थ और शब्द दोनों के विचार से शङ्कराचार्य श्रीनिवास-मत की आलोचना करते प्रतीत हो रहे हैं।

इन सभी आलोचकों में विशेष यह देखा जाता है कि जो भी निर्णय इन्होंने किये, वे इनके ही अन्तःकरण के तोषक नहीं हुए। भांडारकर एवं तिलक के आन्तरिक अभिप्रायों से भी यही स्पष्ट होता है।

स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती, श्री जान्हवीचरण भौमिक, श्री पुलिनबिहारी भट्टाचार्य, डा० सुशीलकुमार दे, विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री जैसे विचारशील, मनीषी, गम्भीर विद्वान् हैं। उन्होंने निम्बार्क-काल का ग्यारहवीं शती में अनुमान किया[1]। यह बहुमत हो सकता है फिर भी निम्न हेतुओं से यह समय और भी पूर्व में माना जाना चाहिए। निम्बार्क स्वामी के आरम्भिक जीवन के सम्बन्ध में मान्यखेट और पैठन (वैदूर्यपत्तन) सम्बन्धी जनश्रुतियां प्रचलित हैं। मुसलिम आक्रमण से पहले पैठन दक्षिण की काशी माना जाता था, सन्त और विद्वान् गोदावरी के पावन, तटवर्ती इस नगर को सांस्कृतिक क्षेत्र बनाये हुए थे। कुछ समय निम्बार्क स्वामी भी यहाँ रहे थे[2]। इसी प्रकार मान्यखेट (मालखेट) नगर से भी उनके जीवन का सम्पर्क माना जाता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूट शासकों के राज्यकाल में मान्यखेट का अभ्युदय हुआ था[3]। आठवीं शताब्दी में दन्तिदुर्ग नामक एक राष्ट्रकूट सेनानी ने जिसका राष्ट्रकूटों की प्राचीन कुल-परम्परा से सम्बन्ध था काञ्ची, कौशल, कलिङ्ग, मालवा, टंक,, श्री शैल के राजाओं को पराजित करके राष्ट्रकूटों के साम्राज्य की स्थापना की थी और चालुक्यों का सदैव के लिए अन्त कर दिया था[4]। इसी राजवंश के एक अन्य नरेश साहसतुङ्ग के यहाँ सुमन्तभद्र नामक राजपंडित एवं दार्शनिक रहते थे वे सम्भवतः निम्बार्काचार्य के सम-सामयिक एवं शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती थे। शङ्कर ने

१—युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ १६, २०, २१।
२—'इन्डियन साधूज़', प्रो० लक्ष्मण चापेकर, पृष्ठ १७४।
३—प्राचीन भारत का इतिहास, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ ६०१।
४—वही, वही वही, पृष्ठ ४२७ तथा
आदि भारत, प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप, पृष्ठ ५६३।

इनके अभिमत का अपने भाष्य में उल्लेख किया है[1] । यह नितान्त सम्भव है कि दन्तिदुर्ग के दरबार में श्री निम्बार्काचार्य को संरक्षण मिला हो उसका समय ७५३ ई०[2] है। इसी प्रकार साहसतुङ्ग का भी यही समय है[3] । इस दृष्टि से निम्बार्काचार्य का विक्रम की आठवीं शताब्दी के अन्त में राष्ट्रकूटों एवं मान्यखेट से सम्पर्क सिद्ध होता है।

जोधपुर (राजस्थान) आदि के राष्ट्रकूट नरेशों द्वारा श्री निम्बार्काचार्य पीठ (सलेमाबाद) को अर्पित ग्रामों के सर्वाधिकारपूर्ण पट्टे मिलते हैं, जिनका समर्थन निजाम राज्य में प्राप्त एक शिलालेख से भी हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि दक्षिण हैदराबाद राज्यान्तर्गत आदिलाबाद से करीब ३ कोस दूर विक्रम संवत् १११६ से ११४५ के करीब एक 'अग्रहार' (विद्याध्ययनार्थ समर्पित ग्राम) था। उसमें मालवा के परमार वंशीय एक राजपुरुष (सामन्त) की पत्नी ने "निम्बादित्य प्रासाद' (निम्बार्क विद्याभवन) का निर्माण कराया था। बाद में ये सब स्थान शासकों के संघर्ष में नष्ट होगये, उन्हीं के ध्वंसावशेषों में उक्त शिलालेख मिला है[२] ।

उसके बीस श्लोकों में से उपयोगी अंश नीचे उद्धृत किया गया है। उसके प्रथम श्लोक में सूर्य की वन्दना, २-३ में शङ्कर वन्दना, ४ में परमार वंश की उत्पत्ति, ५-६ में जगदेव उदयादित्य और राजा भोज का वर्णन, ३-१२ में प्रताप वर्णन, १३-१८ में राजभट्टलोलार्क का वर्णन एवं १६ वें श्लोक में उसकी पत्नी द्वारा 'निम्बादित्य प्रासाद' निर्माण का वर्णन है। २० वें श्लोक में दान-प्रशस्ति के रचयिता कवि का परिचय दिया गया है। यद्यपि १६ वें श्लोक का आधा भाग खण्डित हो गया है, पर यह तात्पर्य स्पष्ट निकल आता है कि अग्रहार में निम्बादित्य प्रासाद बनवाया गया। इतिहास प्रसिद्ध उदयादित्य, भोज आदि के उल्लेख से इसका निर्माण-काल ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग स्पष्ट होता है। प्रासाद-निर्माण का स्थान ब्रिटिशकालीन हैदराबाद राज्य के उसी भाग में है जिधर पैठन और मान्यखेट वर्तमान थे।

१—भारतीय दर्शन, डा० उमेश मिश्र, पृष्ठ ३५०।

२—दी अरली हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, वी० ए० स्मिथ, पृष्ठ ४२७।

३—भारतीय दर्शन, डा० उमेश मिश्र, पृष्ठ ३५०।

४—ॐ नमः सूर्याय। अकालेऽपिरवेर्वारि निम्बपुण्योद्गमैरयम्।
प्रत्ययन् पूरयन् भानुर्निरत्ययमुपास्यताम् ॥
एकःशूरसहस्रशः क्षितिरणे क्षोदक्षयः सोर्जुकः
प्रौढःपल्लवः प्रतापमुदयादित्यस्य नित्यं प्रियः ॥
तत्पत्नीपद्मपत्रायतनयनयुगा पद्मसंकाशवक्त्रा
नाम्ना पद्मावतीति त्रिजगति विदिता रागतः श्वेतपद्मा।
एतस्मिन्नग्रहारे हतहृतकलुषे कारयामास निम्बादित्य प्रासाद ....
(शून्यांकित शब्द टूट) गये ॥ १६ ॥
निजाम राज्य की पुरातत्त्व विभागीय रिपोर्ट सन् १९२७ २८
१० पी० पी० पी० २३, प्रकाशित सन् १९३७ प्लेट सी० या जी०।

शिलालेख के अनुसंधान से प्रतिभात होता है कि जिनके नाम से प्रासाद बनवाया जा रहा है वे उस देश के प्रतिष्ठित और वृद्ध व्यक्ति होने चाहिए। प्रासाद के निर्माता मालवा निवासी थे, उनका अपने देश, उज्जैन, नर्मदा आदि को छोड़कर सुदूर महाराष्ट्र के किसी व्यक्ति से प्रभावित होना और वहाँ भवन बनवाना निम्बादित्य की देवतुल्य मान्यता को सिद्ध करता है। कोई स्मारक रचना प्रायः शरीर विसर्जन के बाद की जाती है, अतः निम्बादित्य के तिरोधान के बाद इसकी रचना होनी चाहिए। 'विक्रमार्क' और विक्रमादित्य के समान निम्बार्क और निम्बादित्य एक ही व्यक्ति के नाम हैं, अतएव यह प्रासाद निम्बार्क स्वामी की स्मृति में ही रचा गया, यह निश्चित होता है। मालव नरेशों की सेना ने जब दक्षिण को विजय प्राप्त कर शासन आरम्भ किया तब वहाँ की धार्मिक भावना को सम्पन्न करने के लिए उक्त धार्मिक भावना वाली महिला ने वह स्थान बनवाया। इनके मन में निम्बार्क के प्रति विशेष श्रद्धाभाव था। अतएव स्पष्ट है कि उससे कई सौ वर्ष पूर्व ही प्रभावशाली धर्माचार्य के रूप में निम्बार्क स्वामी प्रसिद्ध हो गए थे।

निम्बार्क और भास्कराचार्य की अभिन्नता-विषयक भ्रान्ति

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों के व्यक्तित्व-विषयक भ्रान्तियाँ विद्वानों को हुई हैं जिनमें विल्सन आदि विदेशी विद्वान् ही नहीं वरन् मध्य देश के निवासी और ब्रज के पड़ौसी भी हैं। भारतीय दर्शन के लेखक डा० उमेश मिश्र ने हंस से सनक और सनक से कुमार को दीक्षा देने की बात कही है जो भ्रमात्मक है। (भारतीय दर्शन पृष्ठ ४२०) इसी प्रकार श्री हरिव्यासदेव को बुंदेलखण्ड निवासी व्यासजी से अभिन्न मानकर उन्हें राधावल्लभ सम्प्रदाय का पूर्व अनुयायी और फिर अपने स्वतन्त्र हरिव्यासी सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा है। इसी प्रकार कुछ सज्जन भास्कराचार्य और श्री निम्बार्काकार्य इन दोनों को एक ही समझ रहे हैं। कुछ महानुभाव तो लीलावती एवं सिद्धान्तशिरोमणि के रचयिता ज्योतिषी-भास्कराचार्य को भी उनसे अभिन्न सिद्ध कर रहे हैं।

श्री रामदासजी गौड़ ने श्री निम्बार्काचार्य का परिचय देते समय लिखा है "तभी से भास्कराचार्य का नाम निम्बार्क, निम्बादित्य प्रसिद्ध होगया[1]।" इससे पूर्व ऊपर की पंक्तियों में भी भास्कराचार्य का कई बार उन्होंने उल्लेख किया है।

आगे चलकर गौड़जी ने लिखा है "श्री निम्बार्काचार्य" का केवल एक ग्रन्थ "वेदान्त पारिजात सौरभ" ही मिलता है। यह वेदान्त सूत्र की व्याख्या है। यह ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त है। इसके अतिरिक्त उन्हीं ने 'कृष्णस्तवराज', 'गुरु-परम्परा', 'वेदान्त-तत्त्व-बोध,' 'वेदान्त-सिद्धान्त-प्रदीप', 'स्वधर्माध्वबोध', 'ऐतिह्यतत्त्व राद्धान्त' आदि कई ग्रन्थों की रचना की थी[2]। आपके द्वारा रचित दो श्लोक देवाचार्य और सुन्दरभट्ट के ग्रन्थों में मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं:—

ज्ञानं स्वरूपं, सर्वं हि विज्ञान०।

१—'हिन्दुत्व' रामदास गौड़, पृष्ठ ६७१ पंक्ति १५।
२—'हिन्दुत्व', रामदास गौड़, पृष्ठ ६७१, पंक्ति २९ से ३५ तक।

इन पंक्तियों से ज्ञात होता है, कि या तो ये पंक्तियाँ श्री गौड़जी की लेखनी से नहीं लिखी गई हों, अथवा इस सम्बन्ध में श्री गौड़जी स्वतः ही परिचित रहे हों। कारण यह है कि श्री निम्बार्काचार्य और श्री भास्कराचार्य दोनों पृथक् व्यक्ति थे और दोनों के ही ब्रह्मसूत्रों पर भिन्न-भिन्न व्याख्यान हैं। श्री निम्बार्काचार्य ने जो 'ब्रह्मसूत्रों' पर व्याख्यान किया है उसका नाम 'वेदान्त पारिजात सौरभ' है। और वह अत्यन्त संक्षिप्त भी है। उसमें किसी अन्य मत की आलोचना भी नहीं मिलती। वह केवल वाक्यार्थ मात्र है। किन्तु भास्कराचार्य ने वेदान्त-सूत्रों की जो व्याख्या लिखी है वह 'सौरभ' की अपेक्षा बहुत विस्तृत है। उसका नाम 'भास्करीय ब्रह्मसूत्र भाष्य' है। इसके अतिरिक्त दोनों के सिद्धान्तों में भी विभिन्नता है।

श्री निम्बार्क का सिद्धान्त स्वाभाविक भेदाभेद और भास्कराचार्य का औपाधिक भेदाभेद है। निम्बार्काचार्य के व्याख्यान में किसी वेदान्त भाष्यकार की आलोचना नहीं लिखी गई किन्तु भास्कराचार्य ने तो आरम्भ में ही कह दिया कि 'जिन्होंने वेदान्त-सूत्रों के बहाने अपना अभिप्राय प्रकाशित किया है उन (शङ्कराचार्य) के खण्डन के लिए ही मैं यह व्याख्या कर रहा हूँ[१]।' निम्बार्काचार्य की 'वेदान्त दशश्लोकी' से भी वे .पूर्ण परिचित नहीं थे अन्यथा दो ही श्लोकों का उल्लेख क्यों करते।

इसके अतिरिक्त गौड़जी ने 'श्री कृष्ण स्तवराज' आदि जो ६ पुस्तकें श्री निम्बार्काचार्य रचित मानी हैं वह भी बड़ी भूल की गई है क्योंकि इन छहों पुस्तकों में एक भी ग्रन्थ श्री निम्बार्काचार्य की रचना नहीं है। 'वेदान्त-तत्त्व बोध' तो १६-१७ वीं शताब्दी वाले श्री अनन्तरामजी की कृति है। 'वेदान्त-सिद्धान्त-प्रदीप' श्री शुकसुधी कृत भागवत् का व्याख्यान है। 'स्वधर्माध्व बोध' के रचयिता श्री रामचन्द्र हैं, इसी प्रकार 'ऐतिह्य तत्व राद्धान्त' श्री निम्बार्क की कृति नहीं है।

श्री निम्बार्क और भास्कर इन दोनों महानुभावों के व्याख्यानों के आधार पर यह भी ज्ञात हो सकता है कि इन दोनों को एक ही सम्प्रदाय अभिमत था या भिन्न-भिन्न एवं इनमें कौनसा पूर्ववर्ती था और कौनसा परवर्ती।

श्री निम्बार्काचार्य ने जीव और ब्रह्म का तथा प्रकृति (जगत) और ब्रह्म का भेद भी स्वाभाविक माना है और अभेद भी स्वाभाविक ही माना है[२]।

किन्तु भास्कराचार्य ने इसके विपरीत भेद को औपाधिक माना है और अभेद को स्वाभाविक[३]।

श्री निम्बार्काचार्य के संक्षिप्त व्याख्यान का उनके पट्ट शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने स्वरचित भाष्य में स्पष्टीकरण किया है। किन्तु अन्य किसी भी व्याख्याकार के मत की

१—सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्राय प्रकाशनात्। व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये। ब्र० सू० पर भास्कर भाष्य, ब्र० स० १।१।१ की टीका।

२—ब्र० सू० २। १।६३ तथा ब्र० सू० २।३।४३ का कौस्तुभ भाष्य।

३—ब्र० सू० १।२।१७ भास्करीय भाष्य।

आलोचना नहीं की न किसी का नामोल्लेख ही किया। किन्तु भास्कराचार्य ने डट कर शङ्कर के मत की आलोचना की है। श्री निम्बार्काचार्य को जितने ब्रह्मसूत्र अभिप्रेत हैं भास्कराचार्य ने उन सब सूत्रों पर व्याख्यान नहीं किया, कहीं-कहीं तो यहाँ तक लिख दिया है कि कुछ व्याख्याकार अमुक विशेष सूत्र को स्वीकार करते हैं किन्तु दूसरे भाष्यकार उसको पूर्व सूत्रों में गतार्थ मान लेते हैं। अतः उसको पृथक् स्थान नहीं देते। स्वयं भास्कराचार्य ने भी ऐसे कुछ स्तोत्रों का पृथक् पाठ नहीं रक्खा है। उदाहरणार्थ अतएव च तद्ब्रह्म३ ब्र० सू० १।२।१६ (श्री निम्बार्क एवं श्रीनिवास भाष्य) भास्कराचार्य ने सुखविशिष्टाभिधानादेव च (ब्र० सू० १।२।१५) के अपने भाष्य में लिखा है:—

"अत्रावसरेऽतएव तदब्रह्मेतिसूत्रमन्ये पठन्ति, तत्पुनर्गतार्थमिति अन्यैर्नाभिधीयते।" उपर्युक्त सूत्र को शङ्कराचार्य ने स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि रामानुजाचार्य ने उसे माना है किन्तु उन्होंने 'अतएव च सब्रह्म' द्वारा उसे कुछ रूपान्तर से लिखा है। मध्वाचार्य (श्री आनन्दतीर्थ) ने अपने भाष्य में इस सूत्र को नहीं लिया है। श्री रामानुज और श्री मध्व ये दोनों ही आचार्य श्री भास्कराचार्य से परवर्ती हैं। इसको सभी ऐतिहासिक स्वीकार करते हैं। अतः श्री भास्कराचार्य ने इन दोनों को लक्ष्य करके अपना अभिमत प्रकट नहीं किया। हाँ बोधायन भट्ट भास्कर से पूर्ववर्ती हैं। किन्तु उनको लक्ष्य करके कहा होता तो "अतएव च तद्ब्रह्म" न कहकर वे "अतएव सब्रह्म" लिखते क्योंकि बोधायन वृत्ति के अनुसार ही श्री रामानुजाचार्य ने इस सूत्र का "अतएव च सब्रह्म" पाठ रक्खा है।

इससे स्पष्ट होता है कि भट्ट भास्कर श्री निम्बार्क से भिन्न और परवर्ती थे।

भट्ट भास्कराचार्य, श्रीनिवासाचार्य और श्री निम्बार्काचार्य

भट्ट भास्कर ने श्रीनिवासाचार्य के भाष्य की आलोचना की है, जैसे—नित्योपलब्ध्यनुप० ब्र० सू० २।३।३१। इस सूत्र की श्रीनिवासाचार्यजी ने जो अवतरणिका दी है, भट्ट भास्कर ने उसका प्रतिवाद किया है।

उदाहरणार्थ

'चेतनभूतात्मविभुत्ववादिमतेदोषकथनार्थं सूत्रमिदम'— (वेदान्त कौस्तुभ)।

अर्थात्:—चेतन भूत आत्मा को विभु मानने वाले वादियों के मत में दोष दिखाने के लिये (श्री वेदव्यासजी ने) इस सूत्र की रचना की है।

श्री भास्कराचार्य ने इस सूत्र की संख्या २।३।३२ दी है और सूत्र का भावार्थ लिखने के पश्चात् श्रीनिवासाचार्य की पंक्तियों को अक्षरशः उद्धृत कर उनका प्रतिवाद किया है:—

यात्पुनरात्मविभुत्ववादिनां दोषकथनार्थं सूत्रमिति व्याख्यातं तदयुक्तम्।
सर्वगतत्वेऽपि शरीरदेशे भोगोत्पत्तेः कर्मनिमित्तत्वात्तस्य ॥

इन रेखांकित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि भास्कराचार्य ने भी शङ्कर की भाँति जीवात्मा को विभु ही माना है और आत्मा को अणु मानने वाले श्री निम्बार्काचार्य के अभिमत को अंगीकार नहीं किया। यद्यपि श्री रामानुज, माध्व और वल्लभ आदि वैष्णवाचार्यों ने भी आत्मा को अणु ही माना है, किन्तु ये सब आचार्य भास्कराचार्य से परवर्ती हैं, अतः इनको लक्ष्य कर भास्कराचार्य ने उक्त पंक्तियाँ लिखी होंगी, यह नहीं कहा जा सकता। इन आचार्यों के भाष्यों में ऐसी पंक्ति है भी नहीं जिसके शब्द श्री निवासाचार्य की रेखांकित पंक्ति से मिलते हों। यहाँ किसी कल्पना और अनुमान की आवश्यकता ही नहीं। पंक्तियों को देखते ही यह प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है कि भास्कराचार्य ने श्रीनिवासाचार्य की पंक्ति को ही उद्धृत कर उनके मत की आलोचना की है।

इसी सूत्र के श्रीभाष्य को देखा जाय तो ज्ञात होता है कि श्रीनिवासाचार्य के अभिमत की श्री भास्काराचार्य ने जिस हेतु को देकर आलोचना की थी श्री रामानुजाचार्य ने उसी हेतु को असिद्ध कर भास्कर और शंकर के मंतव्य (जीवात्मविभुत्ववाद) का खण्डन किया है। इन सब विचार-विमर्शों के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि भट्ट भास्कर और श्री शंकराचार्य इन दोनों से श्रीनिवासाचार्य पहले हुए थे। उनके 'वेदान्त कौस्तुभ भाष्य' का अनुशीलन करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भास्कर-भाष्य और शांकर-भाष्य से वह बहुत पहले बन चुका था। उनके गुरुदेव श्री निम्बार्काचार्य रचित 'वेदान्त पारिजात सौरभ वृत्ति' तो उससे भी प्राचीन है। अतएव श्री निम्बार्काचार्य का समय विक्रम की ८ वीं शती के अन्त में और शंकराचार्य से पूर्व ही मानना उचित है। श्री विरजाकान्त घोष ने इस सम्बन्ध में विशेष ऊहापोह की है। जिन प्रबल युक्तियों के साथ श्री घोष ने श्री निम्बार्क-भाष्य-रचना का समय विक्रम की छटवीं शताब्दी सिद्ध किया है वे युक्ति-संगत प्रतीत होती हैं। हमारे विचार में श्री निम्बार्काचार्य का समय विक्रम की ८ वीं शताब्दी से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

निम्नांकित हेतु इस धारणा को पुष्ट करते हैं:—

(१) श्री निम्बार्क का समय ११-१२ वीं शताब्दी अनुमानित करने वाले डा० भाण्डारकर आदि लेखकों के अनुमान स्वयं उन्हें ही सन्तोषप्रद नहीं प्रतीत होते[1]।

(२) श्री निम्बार्क और श्रीनिवासाचार्य-रचित वेदान्त सूत्रों की वृत्तियों एवं भाष्यों में शंकर आदि आचार्यों के नामोल्लेख अथवा उनके मतों की आलोचना न मिलने से वे शंकराचार्य से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

(३) विरजाकान्त घोष की गवेषणा-पूर्ण दी हुई युक्तियां भी उपयुक्त मन्तव्य का समर्थन करती हैं।

(४) उक्त तीनों प्रकार के हेतुओं का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन लेखमाला के लेख और पुष्कर आदि के शिलालेखों तथा श्री निम्बार्काचार्य पीठ (सलेमाबाद) के १६ वीं शताब्दी से इधर के पट्टे परवानों, एवं प्रतिदिन के

१—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर सिस्टम्स, डा० भांडारकर, पृ० ८८ फुट नोट।

विवरण-पत्रों से प्रमाणित साढ़े तीन सौ वर्षों की आचार्य-परम्परा और उसकी औसत इस मान्यता को विशेष प्रमाणित करती है। क्योंकि वहाँ १७ वीं शताब्दी से आज तक के समस्त कागजात सुरक्षित हैं। उनके आधार पर श्री परशुरामदेवाचार्य का अन्तर्धान काल वि० सं० १६८० के लगभग निश्चित है। उनके पश्चात् वि० सं० २००० तक तीन सौ बीस वर्षों में भी श्री बालकृष्णशरण देवाचार्य तक ग्यारह आचार्य हुए हैं। इनका औसत काल लगभग ३० वर्ष आता है। यद्यपि सामान्य रूप से जहाँ-तहाँ २० वर्ष प्रति पीढ़ी का औसत लगाया जाता है जबकि कोई विशेष आधार नहीं मिलता हो। परन्तु आचार्यपीठ के ग्यारह आचार्यों के लिये ऐसी कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं, वहाँ के कागजात ही सुदृढ़ प्रमाण हैं।

इसी आधार पर पूर्वाचार्यों का विचार किया जाना उचित है, श्री हरिवंशदेवाचार्य से पूर्व श्रीनिवासाचार्य तक आचार्यों की गणना ३२ होती है, उसकी भी कम से कम यही २६-३० वर्ष की औसत मानी जाय तो वि० सं० १६८० से ९५० बर्ष पूर्व श्री निवासाचार्य के पट्टासीन होने का समय निर्धारित होता है। जो वि० सं० ७३० के लगभग पहुँचता है।

श्री निम्बार्क का जन्म आन्ध्र प्रदेश में वैदूर्यपत्तन के आसपास माना जाता है। डा० भाण्डारकर ने बिलारी जिले के निम्बपुर ग्राम में उनके आविर्भाव का जो अनुमान किया है[1] वह उचित नहीं प्रतीत होता है। उस स्थान का स्पष्ट वृत्तान्त अज्ञात है। सम्प्रदायी भक्तों के कथनानुसार वे 'अरुणाश्रम' में रहने वाले अरुण ऋषि के पुत्र थे, आरम्भ में उनका नाम नियमानन्द था, आनन्दान्त नाम से कुछ लोग उनके संन्यास आश्रम में दीक्षित होने की कल्पना करते हैं। पर आनन्दान्त नाम संन्यासियों के अतिरिक्त वैष्णव भक्तों के भी देखे जाते हैं जैसे स्वामी राघवानन्द, स्वामी रामानन्द। अतः निम्बार्क के संन्यासी-शिष्य होने का कोई प्रमाण नहीं है। अरुण-आश्रम में रहकर उन्होंने वेद-शास्त्रों का अध्ययन और ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण किया[2]। तदनन्तर विद्वानों में उपासना का प्रचार करने के लिये उनका कभी पैठन में आगमन हुआ होगा और यहीं से वे संस्कृति-प्रेमी राष्ट्रकूट शासकों के सम्पर्क में आये और कालान्तर में ब्रज-गोवर्द्धन चले आये होंगे। यहाँ निम्बग्राम में भी भगवान् का स्मरण-चिन्तन करते हुए जब तब तीर्थयात्रा को जाते रहते थे। इसकी प्रतीति कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, पुष्कर (पिचुमन्दार्क तीर्थ) द्वारका आदि में निम्बार्काचार्य के शिष्य और स्थानों की प्रसिद्धि से होती है[3]।

निम्बग्राम में ही उन जैन या दण्डी संन्यासी अतिथि के रात्रि भोजन वाली वह

1 Vaishnavism Saivism——Dr. Bhandar kar Page 88.

२—भक्तमाल, प्रियदास की टीका, पद संख्या १०३, भागवत सम्प्रदाय, पं० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ३१५।

३—निम्बार्क विक्रान्ति—औदुम्बराचार्य कृत श्लोक ३७—४०।

ऐतिहासिक घटना घटी, जिसमें रात्रि के पूर्व सूर्य का दर्शन कराने के कारण आचार्य का नाम नियमानन्द के बदले निम्बार्क प्रसिद्ध हुआ[1]।

श्री औदुम्बराचार्य ने कहा है "जिन आगन्तुकों ने आकर श्री निम्बार्काचार्य के आश्रम में भोजन ग्रहण किया था और जहाँ पर उन्होंने अपने तपोबल से रात्रि का समय होने से पूर्व करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाश वाला अपना रूप दिखलाकर, उन्हें भोजन कराकर तृप्त किया था, वह गोवर्द्धन के निकट था, क्योंकि श्री निम्बार्क के ऐश्वर्यरूपी प्रकाश से घनोपम गोवर्द्धन पर्वत प्रकाशित हो गया था।" उनके इसी रूप की वन्दना करते हुए उन्होंने कहा है "सूर्य के समान संसार में प्रकाश करने वाले एवं मुझ पर पूर्ण कृपा करने वाले आप (श्री निम्बार्काचार्य) को मैं प्रणाम करता हूँ[2]।"

श्री निम्बार्काश्रम की उपर्युक्त स्थिति की पुष्टि इस बात से भी होती है कि सनकादिकों से सदाशिव ने यह कहा था कि गोवर्द्धन से यमुना तक दो योजन की भूमि में मन्त्र-स्मरण आदि साधनों की सिद्धि शीघ्र ही हो जाती है। इसीलिये सब छोड़कर ब्रज-वृन्दावन में सदा-सर्वदा निवास करना चाहिए[3]। अपने पूर्वाचार्यों के वचनों को प्रमाण मानकर श्री निम्बार्काचार्य ने अपने आश्रम के लिये उक्त भूमि को चुना। ब्रज-वृन्दावन के अन्तर्गत मथुरापुरी और मथुरा-मण्डल की श्रेष्ठता की पुष्टि सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों से भी होती है। कहा गया है कि सब द्वीपों में जम्बू द्वीप सर्वश्रेष्ठ है। उसमें भी भारतवर्ष और उसमें भी मथुरापुरी[4]। अतः यह पूर्ण सम्भव है कि श्री निम्बार्काचार्य मथुरा-वृन्दावन-मण्डल और विशेषकर निम्बग्राम में ही रहे हों और उनके परवर्ती आचार्यों ने मथुरा-वृन्दावन आदि पवित्र स्थानों को अपनी वासस्थली एवं प्रचार-स्थली बनाया हो। डा० भाण्डारकर भी उनका वृन्दावन में निवास करना मानते हैं जो उनकी राधाकृष्ण उपासना के अनुरूप है।

'स्वधर्माध्वबोध' के रचयिता ने उल्लेख किया है कि उस समय वृहत्तर वृन्दावन में श्री निम्बार्काश्रम की विचित्र शोभा थी। उसका दूसरा नाम निम्बाश्रम था।

निम्बाश्रमो नाम विशाल वैभवो
देवर्षि शिष्यस्य सुदर्शना...॥ श्लोक ॥ १६ ॥

लतापताओं से बने हुए कुञ्जपुंजों से वह बड़ा मनोहर था[5]। बोधिद्रुम, सम्पाक, पुन्नाग, जम्भ, अखरोट, मंदार, शोभांजन (सहजना), सिरस, विल्व, पिरग, बड़, मोच, प्रियंगु, शाल, तमाल, क्रमुक (सुपारी), करंज, खदिर आदि विशाल सुहावने और दाड़िम, शोनाक, आँवला, विभीतक, हरड़, शिरीष, अशोक, चम्पा, कुरुण्टक, शेफालिका, पनस, आदि विविध फल-फूलों वाले एवं कुन्द-वन्धूक, मालती आदि सुगन्धित पुष्पों वाले

१—'भक्तमाल' नाभादासजी कृत, छप्पय सं० २८।
२—निम्बार्क विक्रान्ति, श्लोक १३४-१३५।
३—सनत्कुमार संहिता ३४ पटल, श्लोक ७५।
४— „ „ ३६ „ ७७-७९।
५—सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक, पृष्ठ १८६।

तरु तथा जाली, विषाणी, मुसली, ताम्बूलवल्ली, कुटकी, कूट आदि अनेक उपयुक्त औषधियाँ भी यहाँ अच्छी मात्रा में उपलब्ध होती थीं[1]।

अनेक प्रकार के मकर, कुलीर आदि जल-जन्तु और सुन्दर पक्षीगण अपनी बोलियों में बोलते हुए ऐसे मालूम होते थे मानो वे परस्पर श्री राधाकृष्ण की कथा कह रहे अथवा सुन रहे हैं[2]।

यद्यपि सभी तीर्थ-स्थानों में स्थित ऋषि-मुनियों के आश्रम विशेष महत्त्व के माने जाते हैं, तथापि जैसे अन्य तीर्थ-स्थलों की अपेक्षा श्री वृन्दावन की महिमा सर्वोच्च मानी गई है, वैसे ही यहाँ के श्री निम्बार्क-आश्रम का महत्त्व बहुत ऊँचा माना गया है। जो व्यक्ति इस आश्रम में ममता रखता है एवं उसके रहस्य की व्याख्या करता है उसको किसी प्रकार का क्लेश ही नहीं रहता[3]। 'स्वधर्माध्वबोध' में निम्बार्काश्रम का जो वर्णन मिलता है उससे ज्ञात होता है कि उस समय ब्रज-वृन्दावन की शोभा अत्यन्त दर्शनीय थी। इसी आश्रम में रहते हुए आचार्य ने वेदान्तसूत्रों की व्याख्या तथा ब्रज की भावना के अनुकूल राधा-कृष्ण-उपासना प्रचलित करते हुए निम्बार्क सम्प्रदाय की स्थापना की।

मथुरा प्राचीन काल से ही वैष्णवों का मुख्य तीर्थ रहा है, बौद्ध-जैन मतों के प्रावल्य से इसकी वैष्णवता मध्यम हो गई थी। यहाँ का ध्रुव-टीला और नारद-टीला निम्बार्कियों के निवास-स्थान बहुत समय से रहे हैं। निम्बार्काचार्य ने प्रथम अपना निवास-स्थान यहीं बनाया होगा। मथुरा के अन्वेषक ग्राउस साहब कहते हैं कि यह केशव काश्मीरी और श्रीभट्ट के समय से बहुत पुराना धर्मस्थान है[4]।

इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय की उत्पत्ति का क्षेत्र ब्रज-मण्डल है। यहाँ रहकर सम्प्रदाय की स्थापना और अभिवृद्धि के लिये निम्बार्क ने क्या-क्या कार्य-कलाप किये, ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में इसका पूरा विवरण नहीं मिलता। साधारणत: किसी महापुरुष के पश्चाद्भावी शिष्य या भक्त अपने गुरु के नाम पर सम्प्रदाय का संगठन करते हैं। निम्बार्क सत्वगुण-प्रधान महात्मा थे, भगवद्ध्यान चिन्तन उनका मुख्य उद्देश्य था। लौकिक प्रयत्नों की अपेक्षा भजन-पूजन के सहारे ही इस कार्य की सफलता वे चाहते थे। उनकी वेदान्त कामधेनु के वाक्य हैं:—

'उपासनीयं नितरां जनैः सदा' 'ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्चसाधुभिः' ये वाक्य स्पष्ट ही जनता को अपना मत स्वीकार कर लेने की प्रेरणा करते दीख पड़ते हैं[5]। सामुदायिक उपासना की प्रेरक-दृष्टि से ही उन्होंने 'ध्यायेमकृष्णंकमलेक्षणं हरिम्' "स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्" कहकर इष्टस्वरूप का ध्यान किया है[6]।

१, २, ३, स्वधर्माध्व बोध, श्लोक २८ से १९० तक।

४—मथुरा मैमोयर्स, एफ० एस० ग्राउस, पृष्ठ १४७।

५—वेदान्त दशश्लोकी, श्लोक संख्या १०।

६—वेदान्तदशश्लोकी, श्लोक संख्या ५।

द्वितीय अध्याय

सम्प्रदाय का विकास और उसका प्रभाव

(अ) सम्प्रदाय का विकास

वैष्णव धर्म के मूल प्रवर्तक परम प्राचीन चार आचार्य माने जाते हैं। उन्हीं के नाम से श्री हंसनारायण (सनक), श्री (लक्ष्मी), रुद्र और ब्रह्म चार सम्प्रदाय प्रचलित हुए। कालान्तर में वे ही श्री निम्बार्क, श्री रामानुज, श्री विष्णुस्वामी, श्री मध्व उन सम्प्रदायों के प्रचारकों के रूप में आविर्भूत हुए[1]। अतः वर्तमान में इन्हीं प्रचारकों के नाम पर वैष्णव सम्प्रदायों का नामोल्लेख भी होता है। विद्वानों की कुछ ऐसी धारणा है[2] कि धर्म की चतुर्मुखी प्रवृत्ति के लिए ही चारों दिशाओं में चारों वेदों की भाँति एक ही वैष्णव-धर्म की ये चारों शाखाएँ निर्धारित हुईं और एक-एक दिशा को इन आचार्यों ने ग्रहण किया। इस बटवारे के अनुसार पूर्व में ब्रह्म, दक्षिण में लक्ष्मी, पश्चिम में रुद्र और उत्तर में सनक सम्प्रदाय का विशेष प्रसार हुआ। विशेष दिशा में सम्प्रदाय विशेष के अतिशय प्रचार के कारण ही इस कल्पना का सूत्रपात हुआ होगा ऐसा अधिक सम्भव है। आजकल सभी दिशाओं और क्षेत्रों में सभी सम्प्रदायों के मठ, मन्दिर और स्थल-स्थान पाये जाते हैं तथा वहाँ उनका प्रचार भी है जो उनकी पारस्परिक सहानुभूति का परिचायक है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रभाव-विस्तार को तीन भागों में बाँटना उचित होगा और काल-क्रम के अनुसार उसे पूर्व युग, मध्य युग एवं उत्तर युग कहना समीचीन होगा। इस निबन्ध में उसका इन्हीं नामों से उल्लेख किया जायगा। पूर्व युग में श्री निम्बार्काचार्य एवं उनके तीन शिष्य श्री श्रीनिवासाचार्य, औदुम्बराचार्य, गौरमुखाचार्य को रखा गया है क्योंकि इन लोगों के द्वारा सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ और उसकी दार्शनिक, धार्मिक, आचारपरक एवं उपासना सम्बन्धी पृष्ठ--भूमि की स्थापना हुई। मध्य युग में श्री निम्बार्काचार्य की तीसरी पीढ़ी से लेकर अष्टादश भट्टों तक का समय रखा गया है जो श्री विश्वाचार्य से प्रारम्भ होकर श्री केशव काश्मीरि भट्ट के पूर्व तक पहुँचता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय का उत्तर युग पूर्व दोनों युगों से अनेक दृष्टियों से भिन्न है। यह श्रीभट्ट जी के गुरु श्री केशव काश्मीरि भट्टाचार्य के आविर्भाव के साथ ही प्रारम्भ होता है और उनके समय से इसका उत्तरोत्तर विकास एवं प्रसार होता गया है। श्रीभट्ट जी से पूर्व के प्रायः सभी आचार्य दाक्षिणात्य थे परन्तु श्रीभट्ट जी उत्तर के गौड़ ब्राह्मण कहे जाते हैं। इस दृष्टि से उनकी श्रीभट्ट' संज्ञा परम्परागत प्रतीत होती है। इनके पूर्व यहाँ की इतनी

१—भक्तमाल, छन्द संख्या २६।

२—सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक पृष्ठ १८१।

लम्बी परम्परा के कारण ही संभवतः इनका भी यही नाम रुचिकर प्रतीत हुआ हो। इनके समय की एक बड़ी विशेषता यह है कि इनके द्वारा सबसे पहले हिन्दी की प्रमुख काव्य-भाषा ब्रज-भाषा में रचनाएँ करने का सूत्रपात हुआ। मध्यकालीन संतों और प्रचारकों में स्वामी रामानन्दजी का ध्यान जिस प्रकार प्रादेशिक बोलियों के प्रचार एवं उनके उत्थान की ओर गया ठीक उसी रूप में श्रीभट्टजी ने भी हिन्दी (ब्रज) भाषा को अपनाया।

श्रीभट्ट जी का समय रामानन्दजी से लगभग ५० वर्ष पीछे होना चाहिए। इस बीच में देवभाषा, संस्कृत के स्थान पर हिन्दी और अन्य प्रादेशिक बोलियों को अधिकाधिक मात्रा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई होगी। श्रीभट्ट जी ने "श्रीकृष्ण-स्तोत्र" संस्कृत में ही लिखा है। परन्तु इनकी प्रमुख रचना "युगल-शतक" है जो ब्रज-भाषा में लिखी गयी है और इस भाषा की सर्वप्रथम कृति होने के कारण आलोचकों ने उसे "आदिवाणी" नाम भी दिया है[1]। श्रीभट्ट जी के शिष्य श्री हरिव्यासदेव जी विशेष प्रभावशाली हुए। उनके शिष्यों द्वारा सम्प्रदाय की सर्वतोमुखी उन्नति का समारम्भ हुआ और विविध दिशाओं में उसका किस प्रकार विकास हुआ, इस पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

निम्बार्क सम्प्रदाय का पूर्वयुग

निम्बार्क एवं अन्य आद्याचार्य

वैष्णवों के विश्वासानुसार निम्बार्क-सम्प्रदाय के सर्वप्रथम प्रवर्तक हंस भगवान् माने जाते हैं[2]। भागवत एकादश स्कन्ध में इस प्रसंग की कथा है कि एक बार सनकादि ऋषियों ने ब्रह्माजी से कुछ प्रश्न पूछे। ब्रह्माजी उनका उत्तर देने में जब असमर्थ हुए तब उनकी सहायता के लिए विष्णु भगवान् हंस का रूप धारण कर वहाँ आए। उन्होंने सनकादिकों के सब प्रश्नों का भली प्रकार समाधान किया, सनकादिकों का संदेह उससे मिट गया। सम्प्रदाय का सर्वप्रथम प्रकाश यही है[3]। निम्बार्काचार्य के अनुसार सनका-दिकों ने हंस भगवान् से प्राप्त यही उपदेश नारदजी को प्रदान किया था[4]।

१—"हिन्दी साहित्य का इतिहास" पृष्ठ २२८, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
"सर्वेश्वर" वर्ष ४, अं० ५ 'युगलशतक और उसकी टीका' ले० गोविन्द शर्मा।

२—नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः।
आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदायच॥
उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्कायचतेनतु।
एवं परम्परा प्राप्तो मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः॥........विष्णुयामल।
ब्रह्म सूत्र १, ३, ८ का वेदान्तपारिजातसौरभ भाष्य।

३—श्रीमद्भागवत स्कन्ध, ११ अ० १३।

४—परमाचार्यैः श्रीकुमारैः अस्मद्गुरवे, नारदायोपदिष्टः। वेदान्तपारिजातसौरभ भाष्य, सूत्र ८ पा० ३ अ० १

हंस या सनकादिकों ने जो उपदेश दिया था, उससे ही सम्प्रदाय का प्रदेय तत्त्व पूरा नहीं होता। इस प्रकार के उपदेश में परम तत्त्व का जो स्वरूप बतलाया गया था, उसकी प्राप्ति का उपाय है उपासना। मन्त्रोपदेश प्राप्त करने से उपासना की विधि पूरी होती है और ऐसा होने पर ही कोई किसी का शिष्य कहलाता है। सनकादिकों ने नारद को जब मन्त्रोपदेश किया, तभी वे उनके शिष्य माने गए। इस सम्प्रदाय-शृङ्खला में सूत्र के समान एक दूसरे को जोड़ने वाला गोपाल-मन्त्र है। इसमें अठारह अक्षर और पाँच पद हैं, अतः यह मन्त्र अष्टादशाक्षर या पंचपदी-विद्या भी कहलाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में इसी मन्त्र का उपदेश गुरु दिया करते हैं। सनकादिकों से नारद को यह मन्त्र मिला, उन्होंने निम्बार्क को उसका उपदेश किया, ऐसा निम्बार्क ने अपने ब्रह्मसूत्र व्याख्यान में स्वीकार किया है। निम्बार्क स्वामी आन्ध्र प्रदेश में गोदावरी के तटवर्ती वैदूर्यपत्तन नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। उनके समय वैदूर्यपत्तन में इस सम्प्रदाय का कुछ अस्तित्व अवश्य रहा होगा, क्योंकि आगे चलकर अठारह आन्ध्रदेशीय भट्ट क्रमशः इस सम्प्रदाय के आचार्य-पद पर दीक्षित होते रहे, उस प्रदेश में उनका अस्तित्व इस सम्प्रदाय की स्थिति पर प्रकाश डालता है। इतना स्पष्ट है कि निम्बार्क स्वामी को ब्रज की महिमा और तत्सम्बन्धी उपासना का परिज्ञान वैदूर्यपत्तन में ही हो गया था, अतः उस देश से चलकर ब्रज को ही उन्होंने तपस्थली बनाया। उनको नारद जी द्वारा मन्त्रोपदेश ब्रज में ही प्राप्त हुआ था[1]। गोवर्द्धन के समीप नारदकुण्ड और मथुरा में यमुना-तीरस्थ नारद टीला निम्बार्कीय वैष्णवों के तीर्थ हैं। देवर्षि नारद का यह सदा आवास माना जाता है। निम्बार्क स्वामी ने इन्हीं स्थानों में प्रथम तपस्या कर नारदजी को प्रसन्न किया होगा। गोवर्द्धन के इस ओर नारदकुण्ड नामक नारदजी का स्थान है। सम्भवतः इसी के संतुलन में गोवर्द्धन के दूसरी ओर निम्बार्क ने अपना आश्रम नीमग्राम में निश्चित किया था। यही स्थान इनका साधना-क्षेत्र और सम्प्रदाय-प्रचार का केन्द्र बना[2]। पुराणों में सुदर्शनचक्र-सम्बन्धी जो भी वर्णन है उसका संसर्ग भक्तजन निम्बार्क-चरित्र के साथ स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार नैमिषारण्य-तीर्थ का श्रेय पौराणिक कथा के अनुसार निम्बार्क को प्रदान किया जाता है। इस सम्प्रदाय में नैमिषारण्य-तीर्थ में निम्बार्क के शिष्य गौरमुखाचार्य के रहने की प्रसिद्धि है[3]। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र में औदुम्बराचार्य का निवास होने के कारण ज्ञात होता है कि वहाँ भी कुछ समय निम्बार्क ने तपस्या की थी।

निम्बार्काचार्य की रचनाएँ

जिस प्रकार निम्बार्क के जीवन-सम्बन्धी वृत्तान्तों का विशेष प्रमाण नहीं मिलता,

---

१—निम्बाश्रमो नाम विशालवैभवो देवर्षिशिष्यस्य सुदर्शना...। ····स्वधर्माध्वबोध १६

२—इन्डियन साधूज़, दी पापूलर बुकडिपो बम्बई, १९५३, पृष्ठ ६१।

३—वाराहपुराण, अ० ११।

माथुरे नैमिषारण्ये द्वारवत्यां ममाश्रमे। सुदर्शनाश्रमादौच स्थितिः कार्यात्वयानघ॥

······भविष्य पु० अ० ११३।

वैसे ही उनकी ग्रन्थ-रचना के विषय में भी यह पता नहीं कि कब और किस स्थिति में उन्होंने ग्रन्थ-रचना की। निम्बार्क-शिष्यों ने उनके ग्रन्थों पर जो टीकाएं रची हैं एवं अपने ग्रन्थों में उनकी रचनाओं को उद्धृत किया है केवल उन संकेतों से निम्बार्क की कृतियों का पता चलता है। उनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं:—

१—'वेदान्तपारिजात सौरभ,' ब्रह्मसूत्रवाक्यार्थ नामक वेदान्तसूत्रों की वृत्ति।

२—'वेदान्त-कामधेनु,' सिद्धान्तबोधक दश-श्लोकी।

३—'मन्त्र-रहस्य षोडशी,' अष्टादशाक्षर गुरुदीक्षा-मन्त्र की व्याख्या।

४—'प्रपन्नकल्पवल्ली,' पाँचरात्र प्रोक्त शरणागति-मन्त्र की व्याख्या।

ये ग्रन्थ मुद्रित रूप में आजकल प्राप्त होते हैं, परवर्ती आचार्यों ने इन पर कई व्याख्याएं भी की हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और रचनाओं का अन्य ग्रन्थों में नामोल्लेख मिलता है।

५—'प्रपत्ति चिन्तामणि,' सुन्दरभट्ट की सेतु टीका में निर्दिष्ट।

६—'गीतावाक्यार्थ,' केशव काश्मीरी की गीताव्याख्या के अन्तिम श्लोक से ज्ञात[1]।

७—'सदाचार-प्रकाश,' पुरुषोत्तमाचार्य की दशश्लोकी टीका में निर्दिष्ट।

८—'श्रीकृष्ण' प्रातः स्मरण आदि' भगवत्स्तोत्र, कुछ प्राप्त, कुछ अप्राप्त।

१—वेदान्त पारिजात सौरभ

इस वृत्ति के नाम का अर्थ है वेदान्तरूपी कल्पवृक्ष के फूलों की सुगन्ध। यह वृत्ति फूलों के समान ही सुकुमार है, बड़ी ही सरल और आक्षेप-खण्डन-मण्डन से रहित। ब्रह्मसूत्रों के ४ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद। एक या दो चार सूत्रों में एक विषय का विवरण पूरा होता है, उसकी 'अधिकरण' संज्ञा है। ऐसे सूत्र-समूहों के अनेक अधिकरणों में यह वृत्ति पूरी हुई है। ब्रह्मसूत्रों के सभी टीकाकार पहले चार सूत्रों को चतुःसूत्री कहकर बड़े विस्तार से उनकी व्याख्या करते हैं। परन्तु निम्बार्क स्वामी ने शब्दाडम्बर नहीं दिखाया। केवल चौथे सूत्र (तत्तुसमन्वयात्) की व्याख्या में स्वाभिमत सिद्धान्त दिखाने के लिए उन्होंने कुछ लम्बी चर्चा की है। शेष चारों अध्यायों में सूत्रों का शब्दार्थ, उपनिषदों के प्रमाण और उनकी संगति करना, यही उनका क्रम रहा है। अतः "ब्रह्मसूत्र-वाक्यार्थ" उसका उचित ही नाम रखा गया है।

२—वेदान्त-कामधेनु

इस रचना में केवल दश श्लोक होने से यह दशश्लोकी भी कही जाती है। निम्बार्क सम्प्रदाय के सभी सिद्धान्त इसमें समाविष्ट हुए हैं, विद्वानों में इसका बड़ा आदर है। इसके आरम्भ के दो श्लोकों में जीव के स्वरूप का वर्णन है और तीसरे श्लोक में जगत् या अचेतन का निरूपण। फिर दो श्लोकों में नियन्ता, छटवें श्लोक में प्राप्य वस्तु (श्रीकृष्ण

१—तस्य च व्याख्यानं श्री निम्बार्काचार्यो वाक्यार्थरूपेण संग्रहीतवान्।
....केशवकाश्मीरी कृत कौस्तुभप्रभा

और राधातत्त्व) का निर्देश है। आगे साधन-प्रणाली, तत्त्वों का सम्बन्ध, साध्य निर्देश और शरणागति आदि का वर्णन है। इसकी कई टीकाएँ हो चुकी हैं।

३—मन्त्ररहस्यषोडशी

इसके सोलह श्लोकों में गोपाल-मन्त्र-राज की व्याख्या की गई है। प्रत्येक शब्द का भाव एवं गूढ़ार्थ संकेतरूप से समझाया गया है। 'मन्त्रार्थ-रहस्य' नाम से इसकी टीका सुन्दरभट्ट जी ने की है।

४—प्रपन्नकल्पवल्ली

सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार दीक्षा के समय गुरु पहले शरणागति-मन्त्र प्रदान करते हैं, उससे भगवान् की शरण प्राप्त हो जाने पर गोपालमन्त्र का उपदेश होता है। इस पुस्तक में उसी शरणागति-मन्त्र की व्याख्या की गई है, इसमें कुल २७ श्लोक हैं।

'प्रपन्नसुरतरुमंजरी' नाम से इसकी टीका सुन्दरभट्टजी ने की है।

५—सदाचारप्रकाश

यह अपने मूलरूप में इस समय उपलब्ध नहीं है। इसके आधार पर संगृहीत "सदाचारसार-संग्रह" ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। इसमें सम्प्रदाय की सभी महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख है।

२५ श्लोकात्मक "सविशेष-निर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज" नामक एक छोटा-सा 'कृष्ण-स्तोत्र' भी एक बार निम्बार्क-विरचित मानकर प्रकाशित हुआ था। दशश्लोकी की तरह इसमें साम्प्रदायिक सिद्धान्त भली प्रकार समझाये गए हैं। पुराने साम्प्रदायिक विद्वानों की तीन टीकाएँ भी इस पर मुद्रित हो चुकी हैं, इसी से इसका महत्त्व स्पष्ट है किन्तु इन टीकाओं में कहीं भी इस स्तोत्र को निम्बार्क-कृत नहीं माना गया। इस बात को इसके प्रथम प्रकाशकों ने भी माना और फिर यह निर्णय किया कि यह स्तोत्र निम्बार्क के बाद किसी अन्य आचार्य की रचना है। सम्प्रदाय की आचार्य-गद्दी पर बैठने वाले सभी पश्चाद्भावी महात्मा निम्बार्काचार्य कहलाते हैं। इसी से लोगों को उक्त भ्रम हो गया था। 'श्रीकृष्ण-प्रातः-स्मरण-स्तोत्र' नामक निम्बार्ककृत एक प्रसिद्ध स्तोत्र है जिसका प्रातः स्मरण किया जाता है। 'प्रपत्ति-चिन्तामणि' नामक इनका ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है।

रचना-स्थल

निम्बार्काचार्य ने भारत के विभिन्न स्थानों में तपस्या की थी, पर उनका मुख्य निवास नीमग्राम आश्रम था[1]। ज्ञात होता है, 'वेदान्त पारिजात सौरभ' आदि ग्रन्थों की रचना उन्होंने इसी स्थान पर की थी क्योंकि नीमग्राम के पास राधाकुण्ड पर निम्बार्क के

१--'वेदान्त पारिजात सौरभ' एवं 'वेदान्त कौस्तुभ भाष्य' सम्पादक डा० रमाबोस पृष्ठ ४।

पट्टशिष्य श्रीनिवासाचार्य निवास करते थे। उन्होंने निम्बार्कमतानुसार वेदान्त-सूत्रों का भाष्य रचा था। उस काल में नीमग्राम की स्थिति सघन लता-पत्रों से मनोहर थी, पश्चिम दिशा कामवन की ओर आवागमन का उधर से मुख्य रास्ता था। आर्य-धर्म के प्रचार और भजन-ध्यान के लिए उस समय वहीं उपयुक्त शान्त वातावरण था। इसीलिए निम्बार्काचार्य ने गोवर्द्धन से परे नीमग्राम में प्रमुख निवास रखा और उसी सुरम्य शान्त प्रदेश से सम्प्रदाय का विस्तार किया[१]।

श्रीनिवासाचार्य

निम्बार्काचार्य के समान उनके मुख्य शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने उनके उत्तराधिकार को भली प्रकार निबाहा। सम्प्रदाय के मत को दार्शनिक दृष्टिकोण से पुष्ट करने के लिए उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदान्त-कौस्तुभ' नामक भाष्य की रचना की। ये शास्त्र-विचार में प्रवीण थे। निम्बार्काचार्य की संक्षिप्त, सरल ब्रह्मसूत्र-व्याख्या पर जब शास्त्रार्थ में तर्क-वितर्क किये गए, तब उसके समर्थन के लिए श्रीनिवास ने अपने भाष्य का निर्माण करना आवश्यक समझा[२]। फिर भी उन्होंने अपने सात्विक-स्वभाव के अनुसार विपक्षियों का उग्र खण्डन कर अपने पक्ष (द्वैताद्वैत) का युक्तियुक्त समर्थन ही अधिक किया है। इनके समय बसुबन्धु, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों का मत प्रौढ़ता से चल निकला था। प्रसंगानुसार इनके मत की आलोचना श्रीनिवासजी ने की है[3]।

जन्म-काल माता-पिता और जन्म-स्थान

श्रीनिवासाचार्यजी के जन्म-काल और जन्म-स्थान के विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार वे पाञ्चजन्य (शंख) के अवतार माने जाते हैं। 'आचार्य-चरित' में लिखा है कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण का प्रपौत्र वज्रनाभ मथुरा में राज्य कर रहा था उसी समय श्रीनिवासाचार्यजी का जन्म हुआ था[४]। परन्तु यह मत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। क्योंकि अन्तःप्रमाण के अनुसार उनका समय शंकराचार्यजी के आविर्भाव-काल के कुछ पूर्व होना चाहिए[५]।

श्रीनिवासजी के पिता का नाम आचार्यपाद और माता का नाम लोकमती था।

१—व्रज का इतिहास, श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, भाग १, पृष्ठ २८।

२—मुमुक्ष्वनुग्रहाय भगवान् श्री निम्बार्कः तद्व्याख्यानं शारीरिकमीमांसावाक्यार्थ-रूपेण अतिगूढ़ः कृतवान्। तदाज्ञया तदुक्तवर्त्मना तच्छिष्येण मया वेदान्तकौस्तुभः तद्भावार्थ प्रकाशकः बिदुषामुपकाराय विरच्यते॥

श्रीनिवासाचार्य कृत, भाष्य की प्रस्तावना।

३—वेदान्त कौस्तुभ भाष्य, अ० २ पा० १ सू० २०-३०।

४—आचार्य चरित, पृष्ठ ११६, ले० पुरुषोत्तमाचार्य, प्रथम भाग, किशोरलाल गो०

५—इस निबन्ध की पृष्ठ संख्या ११ एवं १६।

ये दोनों विद्याप्रेमी और पवित्र जीवन वाले थे। वे निम्बार्क स्वामी से बड़े प्रभावित होकर उनके आश्रम में ही निवास करने लगे। वहीं पर लोकमती के गर्भ से श्रीनिवास जी का माघ शुक्ला पंचमी (श्रीपंचमी) को जन्म हुआ[१]।

श्रीनिवासजी की शिक्षा-दीक्षा निम्बार्काचार्य जी के आश्रम में हुई। उन्होंने बालक को सभी धर्म-ग्रन्थों की शिक्षा दी और 'दशश्लोकी' की रचना उसको शिक्षा देने के निमित्त की। उन्होंने इसके अतिरिक्त राधाविषयक ८ श्लोकों का एक स्तोत्र और कृष्ण-विषयक ८ श्लोकों का दूसरा स्तोत्र रचकर उसको कंठाग्र कराया जिनको सिद्ध करने पर उसे श्रीराधाकृष्ण का साक्षात् दर्शन हुआ। वे पञ्चपदी विद्या, पञ्चकाल सेवा आदि में भी पूर्ण निष्णात हो चुके थे।

श्रीनिवासाचार्य अपने समय के उद्भट विद्वान और पंडित हुए। उन्होंने अपने शिष्य विश्वाचार्य के साथ वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए समस्त भारत की कई बार यात्रा की और वैष्णव-धर्म का प्रचार किया।

श्रीनिवासाचार्य की रचनाएँ

श्रीनिवास जी ने अपने गुरु निम्बार्काचार्य की आज्ञा से 'वेदान्त-कौस्तुभ' की रचना की थी[२]। यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदों की टीकाएँ कीं। उनका 'वेदान्त-कौस्तुभ' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर निम्बार्क-कृत "वेदान्त-पारिजात-सौरभ" का विस्तृत छायाग्रन्थ है। श्रीनिवासाचार्य की एक और रचना 'लघुस्तवराजस्तोत्र' कही जाती है जिसमें निम्बार्काचार्य के प्रभाव का वर्णन है। इसमें ४० पद्य हैं। इसका प्रकाशन चौखम्भा सीरीज, वाराणसी से हुआ है। डा० रमाबोस ने उनकी एक और कृति 'वेदान्त-कारिकावली' बतलाई है जो ७ तरंगों में पूर्ण हुई है। इसके द्वारा उनका उद्देश्य निम्बार्काचार्य के उपदेशों को क्रमबद्ध करके प्रसारित करने का प्रतीत होता है। इसी ग्रन्थ में श्रीनिवासाचार्य जी ने यह प्रतिपादित किया है कि निम्बार्काचार्य ने अपने ग्रन्थों में साधना के जिन अंगों का वर्णन किया है अधिकारी की वृत्ति और शक्ति के अनुसार उनमें से किसी की पूर्ण सिद्धि होने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। हमारे मत से 'वेदान्त-कारिकावली' जैसी कोई रचना श्रीनिवास जी कृत नहीं हैं। डा० रमाबोस ने भ्रमवश श्री पुरुषोत्तमप्रसाद की 'आध्यात्मकारिकावली' को 'वेदान्तकारिकावली' मान लिया है। अन्य रचनाओं के कर्ता होने के उनके निम्न संकेत मिलते हैं:—

१—पारिजात सौरभ-भाष्य और ख्याति निर्णय—सुन्दरभट्ट की टीका 'सेतु' में निर्दिष्ट। (इस समय अप्राप्त)

२—कठोपनिषद् भाष्य—पं० मानदास की उपनिषद् प्रकीर्णकी में निर्दिष्ट (अप्राप्त)।

१—आचार्यचरित, पृष्ठ ११४, पुरुषोत्तमाचार्य, किशोरलाल गो०।

२—वेदान्त कौस्तुभ, काशी संस्करण, पृष्ठ २।

३—रहस्य प्रबन्ध—साधना-विषयक ग्रन्थ, पञ्चकालानुष्ठान मीमांसा में निर्दिष्ट।

उपर्युक्त रचनाओं का विषय देखते हुए श्रीनिवासाचार्य के उद्भट पांडित्य का अनुमान हो जाता है।

(इ) औदुम्बराचार्य

निम्बार्काचार्य के दूसरे शिष्य औदुम्बराचार्य कहे जाते हैं। इनके विरचित ग्रन्थों से ही इनका कुछ परिचय मिलता है। ये पपनावा, कुरुक्षेत्र के समीप रहते थे[1]। सम्भवतः वहीं इन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की। उनके (१) 'औदुम्बर-संहिता' (२) 'निम्बार्क-स्तोत्र' आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। औदुम्बर-संहिता में साधना और आचरण सम्बन्धी विधियों का संग्रह है। 'व्रतपञ्चक' उपासना-ग्रन्थ है। ये दोनों लिखित रूप में उपलब्ध होते हैं। 'निम्बार्क-स्तोत्र' मुद्रित हो चुका है। एक काव्य-कृति 'निम्बार्क विक्रान्ति' नामक भी औदुम्बराचार्य-रचित और मिलती है जो मुद्रित हो चुकी है।

औदुम्बराचार्य के सम्बन्ध में साम्प्रदायिक मान्यता है कि निम्बार्काचार्य ने प्रतिवादियों को हराने के लिए एक गूलर के फल में से अपने चरण-स्पर्श द्वारा उनको तत्काल उत्पन्न किया था। औदुम्बर (गूलर) से उत्पन्न होने के कारण इनका नाम औदुम्बराचार्य प्रसिद्ध हुआ[2]।

(ई) गौरमुखाचार्य

निम्बार्काचार्य के तीसरे शिष्य गौरमुखाचार्य के विषय में पौराणिक उल्लेख ही मिलते हैं। नैमिषारण्य में इन्होंने तपश्चर्या करके भगवान् को प्रसन्न किया था और उन्होंने सुदर्शनचक्र से उक्त तीर्थ की स्थापना कर उसे ऋषियों का प्रसिद्ध स्थल बना दिया। भविष्यपुराण में कहा गया है "माथुरे नैमिषारण्ये द्वारावत्यांजनाश्रमे" यह श्लोक ही गौरमुख की कथा के साथ सुदर्शनावतार निम्बार्क को सम्बद्ध करता है[3]। गौरमुखाचार्य के "निम्बार्क-सहस्रनाम" कवच, स्तव आदि ग्रन्थ प्राप्त हैं।

निम्बार्क स्वामी के लक्ष्मणभट्ट नामक एक चौथे शिष्य भी हुए। उनका सम्प्रदाय में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। उनकी एकमात्र रचना 'ब्रह्मसूत्रों पर वृत्ति' प्राप्त है जो अभी तक अपने अमुद्रित रूप में है। निम्बार्क के शिष्यों के स्थितिकाल के सम्बन्ध में इतिहास से कोई सहायता नहीं मिलती। उनके शिष्यों में से केवल श्रीनिवासाचार्य जी की शिष्य-परम्परा ही आज तक चली आती है।

१—आचार्य-परम्परा परिचय, पं० किशोरदास, पृष्ठ ६।

२—उदुम्बरं पदा स्पृश्य तत्र जातमुवाच ह।
औदुम्बर इति ख्यात आचार्यस्त्वंभविष्यसि॥······आचार्य-चरित्र नारायणदेव कृत, निम्बार्क विक्रान्ति, श्लोक ८४।

३—हंसवल्ली में उद्धृत भविष्यपुराण का प्रसंग, श्री वैष्णवदास शास्त्री।

मध्ययुग

निम्बार्क और उनके शिष्यों के प्रथम युग के अनन्तर सम्प्रदाय का मध्ययुग आरम्भ होता है। इस काल की परम्परा में विश्वाचार्य से लेकर ११ आचार्य और अठारह में से १७ भट्ट आते हैं। इस बीच सम्प्रदाय के विस्तार और प्रभाव का क्या रूप था इसका कुछ स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता किन्तु श्रीनिवासाचार्य के परवर्ती आचार्यों की वेदान्त-शास्त्र पर कई उत्कृष्ट रचनाएँ प्राप्त होती हैं। सम्प्रदाय में उनका बड़ा गौरव है। ऐसे आचार्य हैं निम्बार्क से चौथी संख्या के पुरुषोत्तमाचार्य एवं तेरहवीं संख्या के देवाचार्य और उनके शिष्य सुन्दरभट्ट आदि। इनकी लेखन-शैली से ज्ञात होता है कि ये अपने समय के प्रौढ़ दार्शनिक विद्वान थे और अपने समय में प्रचलित दर्शन-सिद्धान्तों से सुपरिचित थे। इस आधार पर इनका सम्प्रदाय की अभिवृद्धि में योगदान करना पुष्ट होता है। सम्प्रदाय का मध्ययुग विश्वाचार्य से प्रारम्भ हुआ।

विश्वाचार्य

ये श्रीनिवासाचार्य जी के शिष्य थे। उनका जीवन-वृत्त अभी तक अन्धकार में है। सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि इन्होंने निम्बार्क-रचित 'प्रपत्ति चिन्तामणि' की व्याख्या लिखी थी जो अब उपलब्ध नहीं है। इनके प्रशिष्य सुन्दरभट्टजी की 'सेतु' नामक टीका में उसका उल्लेखमात्र है। विश्वाचार्य ने 'पञ्चधाटीस्तोत्र' नाम से थोड़े से श्लोकों की एक स्तुति भी लिखी थी जिसमें हंस, सनक, नारद, निम्बार्क, श्रीनिवास इन पाँच आचार्यों का वर्णन है। उनके दार्शनिक विचारों की इस ग्रन्थ से कोई उपलब्धि नहीं होती।

पुरुषोत्तमाचार्य

ये विश्वाचार्य जी के शिष्य थे और सम्प्रदाय में प्रभावशाली हुए। इनके जीवन-वृत्त के विषय में अभी तक अधिक जानकारी नहीं है। 'वेदान्तरत्न-मंजूषा' की भूमिका में इनका जन्म-स्थान तैलङ्गाना प्रदेश लिखा है और ईसा की पाँचवीं शती में उनके विद्यमान रहने का संकेत दिया गया है जो ठीक नहीं प्रतीत होता[1]। क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थों में शङ्कराचार्य के 'अद्वैतवाद' का कई स्थानों पर खंडन किया है।

ग्रन्थरचना—पुरुषोत्तमाचार्यजी ने निम्बार्ककृत 'वेदान्तकामधेनु' या 'दशश्लोकी' पर 'वेदान्तरत्न-मंजूषा' नामक एक वृहद् एवं गम्भीर टीका लिखी जिसका सम्प्रदाय में बड़ा आदर है। उन्होंने श्रीनिवासाचार्यजी के उपासना-विषयक 'रहस्यप्रबन्ध' की सुन्दर व्याख्या भी की थी। डा० रमाबोस ने उनके एक वृहद् ग्रन्थ 'सिद्धान्त-क्षीरार्णव' की भी चर्चा की है परन्तु वह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है[2]। पुरुषोत्तमाचार्य अपने समय के

१—वेदान्त रत्न मंजूषा की भूमिका, पृष्ठ १, डा० रमाबोस।

२—वेदान्त पारिजात सौरभ और श्रीनिवास कृत वेदान्त कौस्तुभ की टीका डा० रमाबोस कृत पृष्ठ ७०।

धुरंधर पंडित थे। पूर्वाचार्यों की रचनाओं के ये प्रौढ़ व्याख्याकार हुए, इसलिए उनका 'विवरणकार' नाम प्रसिद्ध हो गया[1]। 'वेदान्तरत्न-मंजूषा' में ब्रह्मसूत्रों के समान चार कोष्ठक हैं। प्रथम कोष्ठक में पदार्थों का वर्णन है जैसे ब्रह्म, जीव आदि, दूसरे में अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित भेदाभेद सिद्धान्त विषयक मान्यताओं से अपनी मान्यताओं का समाधान है, तीसरे में साधना और मुक्ति के उपाय जैसे विद्या या ज्ञानोपार्जन, भक्ति आदि का वर्णन है और चौथे में उनके परिणाम या फलों का उल्लेख है जो मोक्ष के अन्तर्गत हैं। मंजूषा में अद्वैतवाद की आलोचना की गई है। उनका रहस्य-प्रबन्ध अब उपलब्ध नहीं है। श्री पुरुषोत्तमाचार्य से लेकर देवाचार्य जी तक सम्प्रदाय के जितने आचार्य हुए उनका कोई विशेष विवरण इस समय उपलब्ध नहीं होता है। हम उन्हें केवल नाम से ही जानते हैं। सम्प्रदाय में देवाचार्य तक के समस्त आचार्य 'द्वादशाचार्य' संज्ञा से सम्बोधित किए जाते हैं। उनके नाम सम्प्रदाय की परम्परा में दिये गये हैं।

देवाचार्य

देवाचार्यजी भगवान् विष्णु के कमल का अवतार 'पद्मावतार' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म भी तैलङ्गाना प्रदेश में हुआ था। उनके जन्म-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। उनका संवत् १११२ विक्रम या १०५६-५७ ईसवी में उपस्थित रहना माना जाता है। अठारवीं शती के प्रसिद्ध विद्वान एवं उद्भट पण्डित पं० अनन्तराम जी ने अपने 'आचार्यचरित-निबन्ध' में देवाचार्य जी का समय 'युगरुन्द्रेन्दु' युग (२), रुद्र (११), इन्द्र (१) अर्थात् १११२ विक्रमी लिखा है। परन्तु गौड़ीय सम्प्रदाय के लेखक श्री सुन्दरानन्द विद्या-विनोद ने इस पर आपत्ति की है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने सुन्दरभट्ट के सेतुका के एक वाक्य 'अन्येआहु' को उद्धृत किया[2] है जिसका 'इतिमाध्वा' जोड़कर भ्रामक अर्थ लिया जाता रहा है। देवाचार्यजी का समय ११ वीं शती वि० है इसकी अन्य विद्वानों में मान्यता है। सुप्रसिद्ध अद्वैतवादी आलोचक स्वामी चिद्घनानन्द (राजेन्द्रनाथ घोष) ने इनके इसी समय को मान्य किया है[3]। अब लेखक ने कई विद्वानों के प्राचीन संग्रहों में सुरक्षित अमुद्रित टीका ग्रन्थों को देखा है उनमें कहीं भी 'माध्वा' का उल्लेख नहीं है और 'अन्ये-आहू' का माध्वा से कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए श्री सुन्दरानन्द की आपत्ति निःसार है।

देवाचार्यजी की रचनाएँ—देवाचार्यकृत 'सिद्धान्त-जान्हवी' नामक ब्रह्मसूत्र-वृत्ति प्रकाशित हो चुकी है। इसके चार चार अध्यायों के सोलह पादों में से केवल प्रथम पाद ही इस समय प्राप्त है शेष के सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी नहीं है। इस टीका के प्रारम्भ में 'अयातोब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र की व्याख्या करते हुए पहले भट्टभास्कर (नवीं शताब्दी) का पक्ष उद्धृत किया गया है तदनन्तर अद्वैतवाद और भेदवाद का उल्लेख

१---भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ३१८, श्री बल्देव उपाध्याय।

२---गौड़ियार तीन ठाकुर, निम्बार्क-दर्शन प्रकरण, ले० श्री सुन्दरानन्द विद्याविनोद।

३---आचार्य शंकर ओ० रामानुज (बंगला), राजेन्द्रनाथ घोष।

करते हुए विशिष्टाद्वैतवाद की भी चर्चा की गई है। परन्तु इन सब में अद्वैतवाद की आलोचना मुख्य है[1]। इनसे पूर्व निम्बार्क सम्प्रदाय में किसी अन्य मत के खंडन की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती जिससे ज्ञात होता है कि इनके समय में ब्रह्मसूत्रवादी अन्य सम्प्रदायों का भी यथेष्ट प्रचलन हो गया था। इसी कारण इनको विविध मतों की आलोचना करनी पड़ी। 'जान्हवीवृत्ति' की केवल दो तरंगें ही मुद्रित हुई हैं।

देवाचार्यजी का निवासस्थान गोवर्द्धन--राधाकुण्ड से उत्तर की ओर कदमखंडी में था जो 'देवाचार्यजी की बैठक' के नाम से प्रसिद्ध था। उन्होंने देशाटन द्वारा सम्प्रदाय का अच्छा प्रचार किया था और इनकी गम्भीर विद्वत्ता के कारण सभी सम्प्रदाय और मतों के पण्डितों पर इनका अच्छा प्रभाव पड़ा[2]।

सुन्दरभट्टाचार्य

सुन्दरभट्ट देवाचार्यजी के शिष्य और निम्बार्क की शिष्य-परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान पर हैं। इनका जीवनवृत्त अभी तक अज्ञात है। इन्होंने अपने गुरु श्री देवाचार्यजी कृत 'सिद्धान्त जान्हवी' पर सेतुका (गङ्गाजी का पुल) नामक यथानाम टीका की रचना की थी। जान्हवी के उपलब्धांश सहित इनकी सेतुका प्रकाशित हो गई है और "द्वैताद्वैत-सिद्धान्त सेतुका" नाम से प्रसिद्ध है। निम्बार्क कृत "मन्त्र-रहस्य-शोडषी" की इन्होंने एक वृहद् व्याख्या 'मन्त्रार्थ-रहस्य' नाम से की थी जो मुद्रित हो चुकी है। निम्बार्क कृत 'प्रपन्न कल्पवल्ली' पर भी उन्होंने टीका लिखी है। सुन्दरभट्टाचार्य के निवास-स्थान के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता। अन्य आचार्यों की काल-स्थिति के विचार से इनका समय १२ वीं शताब्दी विक्रमी होना चाहिए।

देवाचार्य और सुन्दरभट्टाचार्य निम्बार्क सम्प्रदाय के मध्यकाल के दो जाज्वल्यमान रत्न माने जाते हैं। इन्होंने निम्बार्क मत को दार्शनिक जगत में समुचित स्थान पर प्रतिष्ठित होने योग्य बनाया और उसका विस्तार भी किया।

उत्तरयुग

निम्बार्क-सम्प्रदाय के विकास का उत्तरयुग आचार्य केशव काश्मीरी से प्रारम्भ होकर वर्तमान समय तक मानना चाहिए। केशव काश्मीरी अष्टादश भट्टों की परम्परा में उपान्त थे, ये सब आचार्य अब तक दाक्षिणात्य होते थे। भट्टों के समय सम्प्रदाय का विशेष विस्तार नहीं हुआ। इन्होंने पिछली यथास्थिति को किसी प्रकार चालू रखा। शाखा-स्थानों की देख-भाल और उपदेश, यात्रा आदि इनकी परिमित चर्या थी। उस समय इधर के प्रदेशों में भयंकर लड़ाइयाँ, प्रतिदिन ही होती रहती थीं। बहुत से साधु-सन्त भी लड़ाकू ढंग पर अपना संगठन बनाकर युद्धोपजीवी बन गये थे और राजाओं के पक्ष-विपक्ष

१--सिद्धान्त जान्हवीवृत्ति, ब्रह्मजिज्ञासा, प्रकरण १, १, १।

२—आचार्यपरम्परा परिचय, पं० किशोरदासजी, पृष्ठ ६।

में मिलकर लड़ाइयों में भाग लेते थे[1]। ऐसे समय शान्ति-मूर्ति निम्बार्कियों ने तटस्थ भाव को ही उचित समझा। फल यह हुआ कि इतिहास इनसे अपरचित रह गया, इधर उत्तर-युग के आरम्भ में केशव काश्मीरी भट्ट ने अपनी सर्वतोमुखी प्रवृत्तियों से सम्प्रदाय का विस्तार किया। उन्होंने विद्वानों और महात्माओं में उसका गौरव स्थापित किया और अपने तपोबल की धाक विधर्मी शासकों पर भी जमा कर ब्रज की प्रतिष्ठा को बढ़ाया।

केशव काश्मीरी भट्टाचार्य—

सम्प्रदाय में ऐसी प्रसिद्धि है कि केशव काश्मीरी जी ने समस्त भारत में निम्बार्क-सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए दिग्विजय यात्रा की थी। विद्वानों की यात्रा बड़े-बड़े पण्डितों के साथ शास्त्र-विवाद करने के लिए होती है और जो व्यक्ति देश भर के पण्डितों को शास्त्रार्थ में हरा दे, वह दिग्विजयी माना जाता है। केशव काश्मीरी ऐसी ही दिग्विजय कर भारत भर में निम्बार्क-सम्प्रदाय की विजय-पताका फहराने वाले आचार्य हुए। इनकी विजय-यात्रा से यह लाभ हुआ कि भारत भर में सम्प्रदाय का नाम व्याप्त हो गया। केशव काश्मीरी कश्मीर के पण्डित समाज में बहुत सम्मानित हुए, वहाँ उनका निवास भी अधिक रहा इसलिए वे 'काश्मीरी' पदवी से प्रसिद्ध हो गये[2]। यह पदवी भी कश्मीर में सम्प्रदाय-प्रचार की सूचक है। साधु-सन्तों के वृत्तान्त भक्तमाल ग्रन्थ के कथनानुसार विश्वसनीय माने जाते हैं। भक्तमाल में स्पष्ट उल्लेख है कि मथुरा के तत्कालीन मुसलिम शासक ने हिन्दुओं को विधर्मी बनाने के कुचक्र चला रखे थे, केशव काश्मीरी जी ने आत्मबल से तीव्र विरोध कर शासक को ऐसा करने से रोक दिया और उसे उनकी तपः शक्ति के सामने झुकना पड़ा था[3]। ऐतिहासिक क्रम से यह घटना अनुमानतः संवत् १३५० विक्रमी के आस-पास होनी चाहिए।

जन्म-कुल और गुरु-परम्परा—

निम्बार्क-सम्प्रदाय के मध्यकाल में केशव काश्मीरी जैसा प्रतापी और सिद्ध महात्मा कोई नहीं हुआ। इनके लिए यह किम्वदन्ती "यस्यादेशकरा देवा मन्त्रराज प्रसादतः" गोपाल-मन्त्र के प्रभाव से देवता जिसके आज्ञाकारी थे, बड़े महत्त्व की है। पर इनकी पूर्वावस्था का कोई वृत्तान्त नहीं मिलता। श्रुति-परम्परा से यही प्रचलित है कि इनका जन्म आंध्र प्रदेश में एक सम्भ्रान्त भट्ट कुल में हुआ और काश्मीर में अधिक निवास करने के कारण ये काश्मीरी कहे जाने लगे। वहाँ ये किस रूप में रहे, कब वैष्णव हुए, इस विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। अपनी गीता-व्याख्या के आरम्भ में इन्होंने गांगलभट्ट को नमस्कार किया है[4]। इससे वे इनके गुरु सिद्ध होते हैं, किन्तु 'कौस्तुभ-प्रभा' के आरम्भ

१—इन्डियन साधूज़, जी० एस० घूरे तथा लक्ष्मण चापेकर, पृष्ठ ११६।
२—आचार्यचरित अमुद्रित, पृष्ठ १८, तीर्थ पुरोहित चौ० रामलाल सोने का कलसा मथुरा की बही से पुष्ट।
३—भक्तमाल, नाभादास कृत, छप्पय संख्या ७५।
४—वेदान्त कौस्तुभ प्रभा में मङ्गल पाठ, केशव काश्मीरी भट्टाचार्य।

में मुकुन्दभट्ट की वन्दना है जिससे यह सिद्ध होता है कि ये इनके विद्या-गुरु होंगे[1]।

डा० रमाबोस ने केशव काश्मीरी जी के समय की चौदहवीं शती में सम्भावना की है[2]। सबसे बढ़कर इनकी ऐतिहासिकता पर नाभा जी के भक्तमाल से प्रकाश पड़ता है[3]। उसमें कहा गया है कि केशव भट्ट ने मथुरा में मुसलिम शासक काजी के यन्त्र प्रयोग को व्यर्थ कर दिया, जिससे हिन्दुओं का संकट दूर हो गया था। अनुमान किया जाता है कि यह खिलजी बादशाहों के शासनकाल की घटना होगी। उनके समय में हिन्दू धर्म पर बड़े अत्याचार किये जाते थे। देव-मन्दिर तो तोड़े ही गये, हिन्दुओं को धर्म-कर्म करने और चोटी आदि रखने की भी मना कर दी गई थी। केशव काश्मीरी जी अपने जीवन के पूर्व युग में इस समय मथुरा में आये और अपनी आध्यात्मिक शक्ति से मुसलिम शासकों को प्रभावित कर हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता दिलाई। इतना ही तथ्यांश भक्तमाल की उक्ति से निकलता है। यह कथन एक निष्पक्ष रामानन्दी महात्मा का है। अतः इसकी सत्यता में संदेह नहीं रहता। पीछे चलकर इस घटना का श्रेय अन्य साम्प्रदायिकों ने अपने आचार्यों को भी दिया[4]। पर उसका समर्थन अन्य निरपेक्ष सूत्रों से नहीं हुआ है। साम्प्रदायिक संवादों से ज्ञात होता है कि चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य जी से केशव काश्मीरी जी का मिलन हुआ था[5]। परन्तु इस धारणा में कुछ भी तथ्य प्रतीत नहीं होता।

वल्लभ सम्प्रदाय की वार्ताओं में इस तपवृद्ध एवं दिव्य-विद्यावृद्ध लोक-प्रसिद्ध महात्मा को 'केशव भट्ट' नामक एक सामान्य भृत्य कह कर महाप्रभु के तुच्छ सेवक के रूप में अंकित किया गया है[6]। यह सम्भवतः अपने सम्प्रदाय के उत्कर्ष-वर्द्धन की दृष्टि से हुआ है। अन्यथा काश्मीरी जी से ६ वीं पीढ़ी में होने वाले नागा जी श्री वल्लभाचार्य अथवा चैतन्य महाप्रभु के समकालीन किस प्रकार हो सकते हैं[7]? उनका दो से भी अधिक शताब्दियों तक जीवित रहना कैसे सम्भव हो सकता है?

१—श्रीमुकुन्दं गुरुं नत्वापूर्वाचार्योक्तवर्त्मना।
ब्रह्मसूत्राणि संक्षेपाद् विव्रियन्ते स्वतुष्टये ॥.....कौस्तुभ प्रभा, प्रस्तावना, पृष्ठ ५

२—वेदान्तपारिजातसौरभ और वेदान्त कौस्तुभ-प्रभा भाष्य, डा० रमाबोस, पृष्ठ १२१।

३—भक्तमाल, नाभादास कृत छप्पय संख्या ७५।

४—वल्लभ दिग्विजय, रामानन्द दिग्विजय एवं वल्लभाचार्य की घरू वार्ता ५ वीं बैठक पृष्ठ ११०, १११, ११२ में निर्दिष्ट।

५—आचार्य-परम्परा-परिचय, काठिया बाबा सम्पादित, द्वैताद्वैत दर्शन की भूमिका, प्रियादासीय भक्तिरस बोधिनी, पृष्ठ संख्या ६०, ६१।

६—निज वार्ता, ५ वीं बैठक, पृष्ठ ४४ एवं पृष्ठ ११०, १११, ११२ बैठकन के चरित्र घरूवार्ता, लल्लूलाल छगनलाल देसाई।

७—श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता पृष्ठ २२।

मथुरा के 'केशवदेव जी के प्राचीन मन्दिर' के गोस्वामी-परिवारों की मान्यता है कि इस मन्दिर के निर्माण का सूत्रपात केशव काश्मीरी की प्रेरणा से हुआ। इस समय केशवदेव जी का जो मन्दिर कृष्ण-जन्मभूमि पर विद्यमान है, भारतीय इतिहास के क्रम में उसका कई बार निर्माण और विनाश हुआ और इस समय इसका जो भवन है वह मरहठा शासन के अभ्युदय के आसपास निर्मित हुआ। गोस्वामीवर्ग का कथन है कि इस मन्दिर का निर्माण उनके पूर्वजों ने जनता के योगदान से मुसलमानों के प्रतिरोध में कराया था और इसकी व्यवस्था एवं पूजा-सेवा पर उनका अधिकार सात-आठ सौ वर्षों से चला आ रहा है। इस मन्दिर के आस-पास अन्य कई तीर्थ-क्षेत्र भी हैं जिनका भी कभी इसी मन्दिर से सम्बन्ध था। कृष्ण-जन्म-भूमि पर एक गंगा-मन्दिर का निर्माण 'जन्म-भूमि ट्रस्ट' द्वारा ८-१० वर्षों में हुआ है। 'स्कान्द', 'आदिवाराह', 'सौर', 'पाद्म' पुराणों एवं 'गर्ग संहिता' में मथुरा के प्राचीन तीर्थों का वर्णन है। उनमें केशव-मन्दिर का महत्त्व बहुत विस्तार से वर्णित है। इसके अतिरिक्त मथुरा के निकट यमुना के अर्द्धचन्द्राकार विस्तार में चौबीस मुख्य तीर्थों की स्थिति मानी गई है जिसका वर्णन पाद्मपुराण में है[1]। ये तीर्थ सभी वैष्णवों को प्रिय रहे हैं। वैष्णवाचार्यों ने इन तीर्थों को अपना साधना-क्षेत्र बनाया और उनकी रक्षा एवं उनके विकास में योगदान किया। मथुरा के चारों वैष्णव-सम्प्रदायों के तीर्थ-पुरोहित एवं निम्बार्क सम्प्रदाय के प्राचीन पंडा श्री रामलाल चतुर्वेदी का कथन है कि उनकी बहियों के लेख से प्रकट है कि श्री यमुना के प्रवाह में अनेक परिवर्तन हुए हैं जिसके अनुसार तीर्थों की स्थान-स्थिति भी बदलती रही है परन्तु ध्रुव-तीर्थ, ऋषितीर्थ, सूर्यतीर्थ, संयमन तीर्थ, विश्रान्ति, सरस्वती-पतन, गणेशतीर्थ, गुह्यतीर्थ और चक्रतीर्थ की मान्यता निम्बार्क-साम्प्रदायिकों में विशेष रही है। मथुरा के अनेक प्राचीन पंडा-परिवारों की धारणा है कि नाभादासजी के भक्तमाल में निर्दिष्ट केशव काश्मीरी जी ने अपने तान्त्रिक प्रयोग द्वारा हिन्दुओं को विधर्मी होने से बचाने के जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था उसका मूल स्थान सरस्वती-पतनतीर्थ होना चाहिए और उसकी स्थिति सम्भवतया वर्तमान गौघाट और असिकुण्डा के बीच यमुनातटवर्ती किसी भूमि भाग पर ही रही होगी।

मथुरा के नारदटीला नामक धर्म-तीर्थ में तीन प्राचीन समाधियाँ हैं। निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी उन्हें केशव काश्मीरी जी, श्रीभट्ट जी एवं हरिव्यासदेव जी की

१—अविमुक्त, विश्रान्ति, गुह्यतीर्थ, प्रयागराज, कनखलतीर्थ, तिन्दुकतीर्थ, सूर्यतीर्थ, वटस्वामी, ध्रुवतीर्थ, ऋषितीर्थ, मोक्षतीर्थ, कोटितीर्थ, बोधितीर्थ, नवतीर्थ, संयमनतीर्थ, धारा-संपातन, नागतीर्थ, घण्टभरणक, ब्रह्मतीर्थ, सोमतीर्थ, सरस्वतीपतन, चक्रतीर्थ, दशाश्व-मेध घाट और गणेशतीर्थ।

नारद टीला—राधागोपालजी का मन्दिर
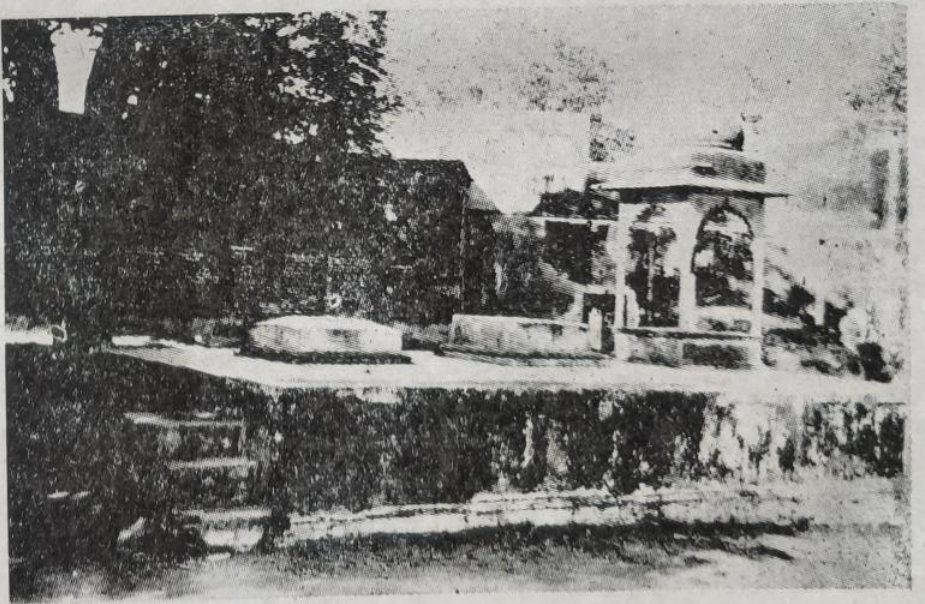
नारद टीला, मथुरा—श्री केशव काश्मीरि, श्रीभट्ट
एवं हरिव्यासदेवजी की चरण पादुकाएं

बतलाते हैं। नारद टीला के निकट ध्रुव-क्षेत्र का पौराणिक तीर्थ है यह बहुत प्राचीनकाल से निम्बार्कीय गोस्वामी-परिवारों का पीठ रहा है। ग्राउस महोदय ने अपने मैमोयर्स में इसकी पुष्टि की है। इस समय ध्रुव तीर्थ में जो गोस्वामी लोग निवास करते हैं वे अपने को श्रीभट्ट जी का वंशज मानते हैं और श्रीभट्ट जी के गोस्वामी नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्भव है केशव काश्मीरी जी ने ध्रुवक्षेत्र को अपने साधना-स्थल के रूप में स्वीकार किया हो और श्रीभट्ट जी भी वहीं वास करने लगे हों और कालान्तर में उनके बन्धुबान्धवों ने उसे धर्म-क्षेत्र के रूप में अधिक प्रसिद्ध कर दिया हो। इस प्रकार अपने समय में केशव काश्मीरी जी की प्राचीन मथुरा के तीन विभिन्न क्षेत्रों को वैष्णववृत्ति से प्रभावित करने की धारणा पुष्ट होती है। उनका व्यक्तित्व महान और विशेष सामर्थ्यवान था।

केशव काश्मीरी जी और उनके शिष्य श्रीभट्ट जी के अस्तित्वकाल विषयक ऊहापोह करने पर कुछ नये तथ्यों की ओर विचारकों का ध्यान आकर्षित हुआ है। केशव काश्मीरी जी का कश्मीर में दीर्घकाल में निवास करना लोकप्रसिद्ध है। उनका नाममात्र ही कश्मीर में उनके यशस्वी जीवन का प्रमाण है। कश्मीर में सन् ७४७ हि० से ९८५ हि० अर्थात् विक्रम संवत् १३४६ से १५८६ तक मुसलमानों का राज्य रहा[1]। वहाँ का सर्व-प्रथम मुसलमान शासक सुल्तान शमसुद्दीन हुआ जो शाहमीर का पुत्र था। उसने अपने बन्धुओं की सहायता से राजा ऊदल को दबाकर अपना राज्य स्थापित किया था। शमसु-द्दीन की आठवीं पीढ़ी में सुल्तान जैनुल आबदीन हुआ जो सुल्तान सिकन्दर का पुत्र था। उसने कश्मीर पर ५२ वर्ष तक, संवत् १४८७ वि० तक, शासन किया और वहाँ के इतिहास में वह शाहीखाँ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'तबकाते अकबरी' भाग ३ का लेखक ख्वाजा निजामुद्दीन लिखता है कि शाहीखाँ बड़ा योग्य और शक्तिशाली सम्राट था। वह न्यायप्रिय और कला एवं विद्या का प्रेमी था। उसके दरबार में विद्वानों का आदर होता था। वह धार्मिक था और अन्य धर्मों का भी आदर करता था। उसके दरबार में श्रीभट्ट नामक एक पंडित रहता था जो गुणी और कवि था। वह भैषज्य कला में भी प्रवीण था। सुल्तान श्रीभट्ट का बड़ा आदर करता या और उसकी बात मानता था। अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में उसने श्रीभट्ट की प्रार्थना पर अन्य ब्राह्मणों को जो उसके पिता सिकन्दर के शासनकाल में निर्वासित हो गये थे अपने राज्य में लौटा लिया और वे अपने मन्दिरों और प्राचीन स्थानों पर पहुँच गये। उन्हें वृत्ति भी प्रदान की गई। सुल्तान ने ब्राह्मणों से इस बात की प्रतिज्ञा ली थी कि जो कुछ उनके ग्रन्थों में लिखा है उसके विरुद्ध वे कोई बात न कहें। तदुपरान्त उसने उनकी जितनी प्रथाएँ थीं जैसे टीका लगाना (तिलक एवं मुद्रा आदि) तथा सती इत्यादि जिन्हें सिकन्दर ने बन्द कर दिया था फिर चालू कर दिया[2]। शाहीखाँ का शासनकाल संवत् १४३५ से १४८७ वि० है। सम्भव है

१—उत्तर तैमूर कालीन भारत, पृ० ४२, डा० ए० ए० रिजवी।

२—तबकाते अकबरी भाग ३ ख्वाजा निजामुद्दीन, कलकत्ता से प्रकाशित, उत्तर तैमूर कालीन भारत में उद्धृत।

कि उसके शासन के प्रारम्भिक काल में केशव काश्मीरी का वहाँ पर अच्छा प्रभाव रहा हो और श्रीभट्ट जी ने उनसे वहीं पर दीक्षा प्राप्त की हो। श्रीभट्ट जी योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे अतः उन्हें भी शाहीखाँ के दरबार में सम्मान और अधिकार मिला हो। इस प्रकार श्रीभट्ट जी की संवत् १४४६ वि० के आसपास विद्यमानता सिद्ध होती है। ऐसी दशा में केशव काश्मीरी जी का समय इनसे ८०-१०० वर्ष पूर्व हो सकता है।

केशव काश्मीरी जी परिव्राजक थे। वे एक स्थान से दूसरे पर आते-जाते रहते थे। सम्भव है कि श्रीभट्ट जी को छोटी अवस्था में अपना शिष्य बनाकर वे अपने साथ कश्मीर में परिव्रजनार्थ ले गये हों और उन्हें कुछ समय तक शाहीखाँ के दरबार में सम्मान मिला हो। निम्बार्क-सम्प्रदाय के लोग उनके परिवार का निकास पञ्जाब से मानते हैं। हो सकता है वे उससे पूर्व कश्मीर के निवासी हों।

डा. रमाबोस ने १४ वीं शती ईसा में काश्मीरीजी का अस्तित्वकाल माना है[1]। खिलजी वंश का शासन सं० १३४७ वि० से १३७७ तक रहा। उसी के अंतिम वर्षों में यदि तन्त्र वाली घटना की कल्पना की जाय तो सं० १३५० से १४५० वि० तक उनका समय हो सकता है। यह भी सम्भव है कि उनका आविर्भाव इससे दस-बीस वर्ष पूर्व हुआ हो।

केशव काश्मीरी जी के ग्रन्थ—

उनके निम्न ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में आये हैं:—

१. गीतातत्व-प्रकाशिका—

निम्बार्क मतानुसार यह भगवद्गीता की टीका है। इसके अन्तिम श्लोक में निम्बार्ककृत 'गीतावाक्यार्थ' का उल्लेख किया गया है, पर यह टीका है और इनकी अपनी रचना है, इसमें प्रौढ़ संस्कृत भाषा में द्वैताद्वैत मत और ज्ञानोत्तर भक्ति का समर्थन किया गया है। निर्णयसागर, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से संस्कृत में तथा बिहार से उसका भाषानुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

२. कौस्तुभ प्रभा—

यह ब्रह्मसूत्रों की तर्कपूर्ण व्याख्या है। उसकी विशेषता यह है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रों पर मिलती है। बड़े आकांक्षा हेतु और युक्तियों से इसमें जगत का मिथ्यात्त्व, विवर्तवाद, भाषावाद, जीवन्मुक्ति जैसे अद्वैत सिद्धान्तों की आलोचना की गई है। विशिष्टाद्वैत आदि पर भी विचार किया गया है। इसकी दार्शनिक रचना बड़ी जटिल है। यह विद्याविलास प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई है।

३. मुण्डकोपनिषद् भाष्य—

प्रधान उपनिषदों में से केवल इसी पर केशव काश्मीरी जी का भाष्य उपलब्ध

१—इस निबन्ध की पृष्ठ संख्या ३१।

होता है। कौस्तुभ प्रभा के लेख से ज्ञात होता है कि अन्य उपनिषदों पर भी इनका भाष्य था, जो अब लुप्त हो गया है।

४. श्रीमद्भागवत (वेदस्तुति) टीका—

श्रीमद्भागवत का यह वेदस्तुति प्रकरण दशम स्कन्ध में बहुत क्लिष्ट माना जाता है। इसी एक अध्याय पर सम्प्रति इनकी टीका मिलती है। कहते हैं कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ पर भी इनकी टीका थी जो अब उपलब्ध नहीं है।

५. क्रम-दीपिका—

उपासना के विषय में काश्मीरी जी का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है। इस पर सात टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। गोपाल-उपासना का इससे अधिक प्रामाणिक वर्णन कहीं नहीं है, इसलिए सभी आचार्य इस ग्रन्थ का आदर करते हैं। गोविन्द विद्याविनोद की टीका के साथ यह काशी से प्रकाशित हुई है। सुन्दरानन्द विद्याविनोद का मत है कि क्रमदीपिकाकार केशवाचार्य इनसे भिन्न, सम्भवतः वङ्गदेशीय है[1]। पर केशव काश्मीरी जी की मुखर वैष्णव वार्ता और गोपाल मन्त्रोपासना की जैसी प्रसिद्धि है, वैसी किसी अन्य केशवाचाय की नहीं सुनी जाती। वङ्गदेशीय विद्वानों ने बहुत पीछे वृन्दावन में कृष्णभक्ति विषयक ग्रन्थ रचे थे, उनमें क्रमदीपिका का प्रमाण आता है। बङ्गाल में ऐसी रचना का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतएव सुन्दरानन्द विद्याविनोद जी की धारणा कोरी कल्पना मात्र है।

केशव काश्मीरी जी के ग्रन्थों में प्रमुख रूप से भगवान् के ऐश्वर्य भाव की प्रधानता रही अतएव इनका दिगन्तव्यापी कीर्ति-प्रसार हुआ[2]। वैसे आन्तरिक उपासना में इनको मधुरभाव का अवलम्ब अवश्य रहा होगा, सम्प्रदाय का वही परम सिद्धान्त भी है। आपका प्रसिद्ध स्थान ध्रुवघाट मथुरा में था, उस समय अन्दर की बस्ती यहाँ से दूर थी, एकान्त यमुनातीर में आप भगवद्-ध्यान और शिष्यों को उपदेश दिया करते थे। 'यमुना-स्तोत्र' के कुछ वाक्यों में आपकी हार्दिक मधुर रसभरी भावना का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि सिद्धान्त रूप में आप आन्तरिक मधुर रसोपासना के पक्षपाती थे। इस रहस्यपूर्ण उपासना-प्रणाली को श्रीभट्ट जी ने आपसे प्राप्त कर युगल-शतक के पद्यों में अवतरित किया था। 'यमुना-स्तोत्र' में काश्मीरी जी प्रार्थना करते हैं:—

हे श्री यमुने ! आपके तीर पर कदम्ब कानन के मध्य सघन लताओं की छाया में निर्मित कुटीरों के निवासी महात्माओं के साथ मेरा भी निवास हो। उनके मुख से मैं

१—गौड़ियार तीन ठाकुर, निम्बार्क दर्शन प्रकरण, सुन्दरानन्द विद्याविनोद।

२—इस विषय में सूक्ति है:—वागीशा यस्य वदने हृत्कंजे च हरिः स्वयम्।
यस्यादेवकरा देवा मन्त्रराज प्रसादतः॥

भगवद्कथा सुनूं और सुनाता रहूँ । हे सूर्यात्मजे ! आपके तट पर श्रीराधा के सहित मेघवर्ण वाले आनन्ददायक श्रीकृष्ण का मैं दर्शन करता रहूँ[1] ।

हे यमुने ! मोर, पिक, शुक आदि के कलरव से गुञ्जायमान इस वृन्दावनधाम में गो, गोवत्स, गोपबालकों से परिवृत्त, गोपाङ्गनाओं को आनन्ददायक, व्रजबन्धुओं से सेवित रासोत्सव में उल्लसित लीलानृत्यादि के कौतुकी, ब्रह्मा, रुद्रादि से समर्चित कोटि-कोटि कामदेवों को मोहित करने वाले मुरलीमनोहर श्री श्यामसुन्दर मुझे कब दर्शन देंगे ? मैं टकटकी लगाकर उन्हें कब निहारता रहूँगा[2] ।

डा० रमाबोस ने काश्मीरी जी द्वारा विरचित श्री गोविन्दशरणागति-स्तोत्र ब्रह्मोपनिषद् टीका, 'विष्णु-सहस्रनाम टीका,' 'तैत्तरीय उपनिषद्' पर 'तैत्तरीय प्रकाशिका टीका' ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनके ग्रन्थों में भेदाभेद मत का समर्थन एवं अद्वैतावाद का तीव्र खण्डन किया गया है।

श्रीभट्ट एवं हरिव्यासदेव—

केशव काश्मीरी जी के शिष्य श्रीभट्ट और उनके शिष्य हरिव्यासदेव जी हुए जो केशव काश्मीरी के समान प्रतापी महात्मा थे। निम्बार्क-सम्प्रदाय का इनके द्वारा विशेष विकास हुआ, पञ्जाब में इनका कार्यक्षेत्र अधिक था, इन प्रदेशों में ही उस समय हिन्दू-धर्म पर विशेष संकट छाया हुआ था। इसलिए हरिव्यासदेव जी धर्म-रक्षार्थ सन्तों के समूह को साथ लेकर भ्रमण करते थे। इनके प्रचार का जनता पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि इनके शिष्य-प्रशिष्य निम्बार्कीय के बदले 'हरिव्यासी' कहे जाने लगे[3]। पञ्जाब प्रान्त में वैष्णवीदेवी की बड़ी मान्यता है। पहले उस देवी को बकरों की बलि दी जाती थी, हरिव्यासदेव जी जब वहाँ के चटथावल नामक गाँव में पहुँचे तो उन्होंने अपने बल-प्रभाव से बकरों के बलिदान को बिलकुल बंद करा दिया, और देवी के गले में भी तुलसी की कंठी पहिनवा दी[4]। तब से उक्त देवी हरिव्यासदेव जी की शिष्या मान ली गयीं और 'वैष्णवीदेवी' नाम से प्रसिद्ध हो गईं। इस घटना से पञ्जाब के पहाड़ी भाग तक निम्बार्कियों का विस्तार हो गया। हरिव्यासदेव जी ने अनेक शिष्य किये परन्तु उनमें द्वादश शिष्य मुख्य थे, इनके नामों पर बारह द्वारे अर्थात् बारह शिष्य-शाखाएँ प्रचलित हुईं[5]। आजकल देशभर में इन्हीं द्वारों के निम्बार्कीय वैष्णव मिलते हैं। अन्य शाखाओं में से अधिकांश लुप्त हो गयीं।

हरिव्यासदेव जी की संस्कृत भाषा में ये रचनाएँ कही जाती हैं। यथा--'सिद्धान्त-

---

१—यमुना-स्तोत्र, १६, केशव काश्मीरीकृत ।

२—वेदान्तपारिजातसौरभ की टीका, डा० रमाबोस, पृष्ठ १२४।

३—हरिव्यासयशामृत रूपरसिकदेव कृत, पृष्ठ ७४।

४—मनसिच्छामंजरी छन्द सं० ५।

५—आचार्यपरम्परा परिचय, पं० किशोरदास पृष्ठ १६।

कुसुमांजलि', 'सिद्धान्त-रत्नांजलि', 'तत्वार्थ-पंचक', 'निम्बार्क-स्तोत्र की टीका' और 'पंच-संस्कार निरूपण'। पांडित्य के विचार से रत्नांजलि की विशेष मान्यता है।

सिद्धान्त रत्नांजलि—

निम्बार्कीय सिद्धान्तों को सरल भाषा में सबके समझने योग्य बनाने के लिए उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। यह वेदान्त कामधेनु, दशश्लोकी की विस्तृत व्याख्या है। इसकी विषय निरूपणशैली तार्किक मात्रा में दार्शनिकतापूर्ण है। इसमें अनेक मतों का निराकरण कर भक्ति को ही मुक्ति-रूप ठहराया गया है। भक्ति के प्रसंग में सख्य, दास्य आदि के बाद माधुर्यरस-भक्ति को सर्वोत्तम बतलाया गया है[1]। इससे इनकी रसिकाचार्यता स्पष्ट होती है[2] परन्तु इससे भी अधिक ये ब्रजभाषा की महान रसपूर्ण महावाणी के कर्ता रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं।

हरिव्यासदेव जी के अतिरिक्त श्रीभट्ट जी के एक अन्य शिष्य वीरमत्यागी भी हुए। इनसे भी एक शिष्य-शाखा चली, इस शाखा वाले वैष्णव अपने को हरिव्यासी नहीं कहते। वीरमत्यागी का प्रचार-स्थल दक्षिण राजपूताना में था। श्रीभट्ट जी के एक गुरुभाई संकर्षण-देव थे, इनकी परम्परा के वैष्णव भी कहीं-कहीं मिलते हैं। इनके द्वारा विरचित 'वैष्णव-धर्म सुरद्रुम-मंजरी' नामक व्रत-आचार-ग्रन्थ से इनकी गम्भीर विद्वत्ता प्रकट होती है।

वैष्णवधर्म-सुरद्रुम-मंजरी--

संकर्षणदेव का यह ग्रन्थ निम्बार्क-सम्प्रदायी वैष्णवों का धर्म-शास्त्र है। इसके एक संस्करण में अंतिम पंक्ति पर 'केशव भट्टानुयायिना' लिखा मिलता है जिससे ये केशव काश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। वस्तुतः अनुयायी शब्द शिष्य-सूचक नहीं है। पुराण, विविध वैष्णव-ग्रन्थ, स्मृति, धर्म-निबन्ध आदि पचासों प्राचीन ग्रन्थों का सार लेकर इसकी रचना की गई है। इसमें वैष्णवों की श्रेष्ठता, विष्णु भगवान् का परत्व, शरणा-गति, गुरुस्वरूप, मन्त्र, तिलक, चक्रांकन, पूजा आदि के विधि-विधान, एकादशी आदि व्रत-निर्णय एवं इन सबके व्यवस्थापूर्वक नियमोपनियम साधक-बाधक प्रमाणों के साथ बतलाये गए हैं। इनकी निर्णायक शैली इनकी गम्भीर विद्वत्ता का परिचय देती है। सम्प्र-दाय के उपलब्ध आचार ग्रन्थों में इसकी गणना उच्चकोटि में की जाती है।

केवल एक बात में साम्प्रदायिक-परम्परा के साथ इनका मतभेद है। 'कपालवेध' का सिद्धान्त इन्होंने केवल एकादशी-व्रत के विषय में मानते हुए जन्माष्टमी आदि के व्रतों में स्वीकार नहीं किया है। सामान्यतः साम्प्रदायिक धारणा सभी व्रतों में कपाल-वेध (अर्द्ध-रात्रि-वेध) को स्वीकार करने की है। संकर्षणदेव जी ने अपने ग्रन्थ में भट्टोजी दीक्षित और मुहूर्तचिन्तामणिकार का उद्धरण दिया है। इससे इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी के अनन्तर सम्भव है और ये केशव काश्मीरी के शिष्य नहीं हो सकते।

सम्प्रदाय के शिष्यों के अतिरिक्त शाखा - विस्तारक कुछ गृहस्थ गोस्वामी

लोग भी हैं जो श्रीभट्ट जी, स्वभूरामदेव एवं परशुरामदेव जी के गृहास्थ-बन्धुओं के परिवारों में मिलते हैं। इनके कई घराने अब गद्दीधर होकर शिष्य-सेवक बनाते हैं एवं कुछ लोग पुष्टिमार्गीय आदि गोस्वामियों की भाँति निम्बार्काचार्य की पदवी भी धारण करते हैं।

सम्प्रदाय की विभिन्न परम्पराएँ--

सम्प्रदाय की पूर्ण विकसित परम्परा निम्न प्रकार है—

१—श्री हंस भगवान्	२---श्री सनत्कुमार आदि (चारों)	३—श्री देवर्षि नारद
४—श्री निम्बार्काचार्य	५—श्री श्रीनिवासाचार्य	६—श्री विश्वाचार्य
७—श्री पुरुषोत्तमाचार्य	८---श्री विलासाचार्य	९—श्री स्वरूपाचार्य
१०—श्री माधवाचार्य	११—श्री बलभद्राचार्य	१२—श्री पद्माचार्य
१३—श्री श्यामाचार्य	१४—श्री गोपालाचार्य	१५—श्री कृपाचार्य
१६—श्री देवाचार्य	१७---श्री सुन्दर भट्ट	१८—श्री पद्मनाभ भट्ट
१९—श्री उपेन्द्र भट्ट	२०—श्री रामचन्द्र भट्ट	२१—श्री वामन भट्ट
२२—श्रीकृष्ण भट्ट	२३—श्री पद्माकर भट्ट	२४—श्री श्रवण भट्ट
२५—श्री भूरि भट्ट	२६—श्री माधव भट्ट	२७—श्री श्याम भट्ट
२८—श्री गोपाल भट्ट	२९—श्री बलभद्र भट्ट	३०—श्री गोपीनाथ भट्ट
३१—श्री केशव ,,	३२—श्री गांगल ,,	३३—श्री केशव काश्मीरी
३४—श्री श्रीभट्ट	३५—श्री हरिव्यासदेव	

इस परम्परा के तीन वर्ग प्रचलित हैं। निम्बार्क स्वामी तक पहले चार आचार्य भगवान् नाम से सम्बोधित होते हैं। इनको आचार्य कहा जाता है। तदनन्तर श्रीनिवासाचार्य से देवाचार्य तक के वर्ग को द्वादशाचार्य कहा जाता है। आगे १७ वीं संख्या वाले सुन्दरभट्ट से श्रीभट्ट तक के आचार्य अष्टादश भट्टाचार्य कहलाते है[१]। श्रीभट्ट जी के शिष्य हरिव्यासदेव जी से सम्प्रदाय का बहुत व्यापक विस्तार हुआ, शाखाभेद से शिष्य-परम्परा को बढ़ाने वाले इनके बारह प्रधान शिष्य हुए। सोलहवीं संख्या वाले देवाचार्य जी के एक अन्य शिष्य ब्रजभूषणदेव भी थे। उनकी भी पृथक् शिष्य-परम्परा प्रचलित हुई, जिसके अन्तर्गत जयदेव और स्वामी हरिदास जी का आविर्भाव हुआ। हरिव्यासदेव जी के बारह शिष्यों में से प्रमुख दो की परम्पराएँ यहाँ दी जाती हैं, जो अब देश के पूर्वभाग बङ्गाल और पश्चिम भाग राजस्थान तथा दक्षिण तक व्यापक हो रही हैं। उनके प्रधान बारह शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं[२]:—

स्वभूरामदेव, बोहितदेव, मदनगोपालदेव, उद्धवघमण्डदेव, बाहुबलदेव, परशुरामदेव गोपालदेव, हृषीकेशदेव, माधवदेव, केशवदेव, लपरागोपालदेव और मुकुन्ददेव। इनके अतिरिक्त लाखापाकी (लक्षदास) एवं देवी जी आदि अन्य शिष्यों की भी प्रसिद्धि है।

१—आचार्य परम्परा परिचय, ले० श्री किशोरदास जी, वेदान्तनिधि पृष्ठ ५, ६।
२—केलिमाल, प्रकाशक कुंज बिहारी पुस्तकालय, वृन्दावन पृ० ३८।

स्वभूरामदेव जी की परम्परा

श्री स्वभूरामदेव
,, कान्हरदेव
,, मथुरदेव
,, श्यामदेव
,, सेवादेव
,, नरहरिदेव
,, शुकदेव
,, गोपालदेव
, गोपीनाथदेव
,, वसंतरामदेव
,, पुरुषोत्तमदेव
,, शुकदेव
,, उद्धवदेव
,, गोपालदेव
,, गिरधारीदेव
,, नन्दकिशोरदेव
,, मनोहरदेव
,, सर्वेश्वरशरणदेव (वर्तमान)

श्री परशुरामदेव जी की परम्परा

श्री परशुरामदेव
,, हरिवंशदेव
,, नारायणदेव
,, वृन्दावनदेव
,, गोविन्ददेव
,, गोविन्दशरणदेव
,, सर्वेश्वरशरणदेव
,, निम्बार्कशरणदेव
,, गोपेश्वरशरणदेव
,, घनश्यामशरणदेव
,, बालकृष्णशरणदेव
,, राधासर्वेश्वरशरण (वर्तमान)

देवाचार्य जी के सुन्दरभट्ट और ब्रजभूषणदेव दो शिष्य थे। इनमें से सुन्दरभट्ट जी की शाखा के आचार्य आगे चलकर 'हरिव्यासी' कहलाये और ब्रजभूषणदेव जी की शाखा के आचार्य 'हरिदासी' कहे जाने लगे। यहाँ पर ब्रजभूषणदेव जी की परम्परा भी प्रस्तुत की जा रही है जिसमें संख्या तेतीस पर महाकवि जयदेव और सेंतालीस पर स्वयं स्वामी हरिदास जी हैं। आचार्य-संख्या में तुलनात्मक अतिशयता के कारण यह परम्परा आलोचकों की निर्मम आलोचना का विषय रही है। देवाचार्य जी के द्वितीय शिष्य ब्रजभूषणदेव जी की परम्परा इस प्रकार है:—

१. श्री ब्रजभूषणदेव, २. श्री ब्रजजीवनदेव, ३. श्री जनार्दनदेव ४. श्री वंशीधरदेव, ५. श्री भूधरदेव, ६. श्री हरिवल्लभदेव, ७. श्री मुकुन्ददेव, ८. श्री ललितभान, ९. श्री कन्हरदेव, १०. श्री वासुदेव, ११. श्री सुरतभान, १२. श्री पीताम्बरदेव, १३. श्री चिन्तामणिदेव, १४. श्री युगलकिशोर, १५. श्री दामोदरदेव, १६. श्री कमलनयन १७. श्री गोवर्द्धनदेव, १८. श्री श्यामदेव, १९. श्री ऋषिकेशदेव, २०. श्री मधुसूदनदेव, २१. श्री गोपदेव, २२—श्री रूपनिधानदेव, २३—श्री जनहरियादेव, २४—श्री मथुरानाथ, २५—श्री प्रेमनारायण, २६—श्री अनन्यदेव, २७—श्री श्यामखरेजी, २८—श्री लघुवीठल, २९—

श्री मोहनदेव, ३०—श्री त्रिभंगदेव, ३१—श्री हरिविलासदेव, ३२—श्री यशोदानन्दन, ३३—श्री जयदेव कवि, ३४—श्री जनगोपाल, ३५—श्री माधव जू, ३६—श्री विष्णुदेव, ३७—श्री बालगोविन्ददेव, ३८—श्री रामकृष्णदेव, ३९—श्री परमानन्ददेव, ४०—श्री भागवतदेव, ४१—श्री जनभगवानदेव, ४२—श्री कृष्णदेव, ४३—श्री पुरुषोत्तमदेव, ४४—श्री नन्दलाल, ४५—श्री हरिदेव, ४६—श्री आशुधीर, ४७—श्री स्वामी हरिदास।

स्वामी हरिदास जी द्वारा प्रवर्तित हरिदासी शाखा-सम्प्रदाय आगे चलकर कई प्रमुख परम्पराओं में विकसित हुआ जिनका उल्लेख उनके प्रकरण में यथास्थान किया जायगा।

हरिव्यासदेव जी के बारह शिष्यों में से आजकल स्वभूरामदेव एवं परशुरामदेव जी की शाखा का विशेष विस्तार पाया जाता है। इन सबसे बहुत पूर्व देवाचार्य जी की दूसरी शाखा चली, वह आजकल हरिदास स्वामी जी के टट्टीस्थान, रसिकबिहारी मंदिर एवं गोरेलालजी की कुञ्ज वृन्दावन में प्रचलित हैं। प्रसिद्ध रसिकभक्त जयदेव कवि इसी परम्परा में उत्पन्न माने जाते हैं[1]। स्वामी हरिदास जी के पश्चात् उनकी परम्परा अन्य निम्बार्कियों से कुछ पृथक्-सी हो गयी। उनकी उपासना की रीति अन्तरंग-रहस्य निकुञ्ज-विहारोन्मुखी होने से परम्परागत आचारों में उनके कुछ शिष्यों ने यत्रतत्र परिवर्तन कर दिया। इस दशा में बाह्य आचारों की उपयोगिता न रहने से ये यज्ञ-सूत्र आदि को महत्त्व नहीं देते। जलपात्र के लिए मिट्टी का करुआ ही रखा जाता है। उपास्यभावनानुकूल गोपाल-मन्त्र और युगल-मन्त्र की इनमें प्रधानता है फिर भी प्राचीन परम्परा को देखते हुए ये निम्बार्क शाखान्तर्गत ही हैं[2] और अपनी विशिष्ट रसिक-भावना में निरत रहते हैं।

साम्प्रदायिक-विकास की दृष्टि से सभी परम्पराओं में श्री हरिव्यासदेव की परम्परा का विशेष स्थान है। फिर भी इस निबन्ध में सामुदायिक रूप से सभी आचार्यों की जीवनचर्या को विकास के क्रम से देखना ही युक्तियुक्त होगा।

सम्प्रदाय के प्रमुख द्वारों का विकास

श्री स्वभूरामदेव जी और उनका द्वारा

स्वभूरामदेव जी का जन्म पञ्जाब में जगाधरी के पास यमुना तटवर्ती बूड़िया नामक ग्राम में हुआ था। कहा जाता है कि इनके माता-पिता ने हरिव्यासदेव जी के आशीर्वाद से यह पुत्ररत्न प्राप्त किया था।

१—भागवत सम्प्रदाय, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ३४६ एवं निम्बार्क-प्रभा, स्वामी हंसदास पृ० ४७।

२—अ—मिश्रबन्धु विनोद भा० २ पृ० ६४६। ब० हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास राजवली पांडेय पृ० सं० ५४५। स० वचनिका सिद्धान्त स्वामी ललितकिशोरदेव कृत, पृ० १५ पैरा ४८।

श्री हरिव्यासदेव जी के बारह शिष्यों में श्री स्वभूरामदेव जी का बहुत ऊँचा स्थान है। परशुरामदेव जी को छोड़कर अन्य कोई शिष्य उनकी समता में नहीं ठहर सकता। इनकी शिष्य-परम्परा में उच्चकोटि के साधु-पुरुष, तपस्वी, महात्मा, प्रचारक, साहित्यकार, आचार्य और समाज-सेवी हुए। निम्बार्क-सम्प्रदाय की कई प्रमुख गद्दियों पर उनकी परम्परा के ही विरक्त साधु अभी भी सुशोभित हैं। मथुरा जी का असिकुण्डा पर हनुमान जी का मन्दिर और मन्दिर राधाकान्त, वृन्दावन में ज्ञान-गुदड़ी, विहारघाट, कँमारवन, पानीघाट, बङ्गाल में वर्द्धमान और ऊखड़ा, राजस्थान में माधौपुर, दक्षिण में एलिचपुर और काठियावाड़ में सेसर आदि अनेक महत्त्वपूर्ण गद्दियों पर उनकी शाखा का ही अधिकार है जिससे स्वभूरामदेव जी की शिष्य-परम्परा की व्यापकता और उनका प्रभाव लक्षित होता है। स्वभूरामदेव जी हरिव्यासदेव जी के प्रथम शिष्य थे[1]। वे मथुरा में ही रहकर स्थायी रूप से गुरु-सेवा में संलग्न रहते थे परन्तु कुछ दिनों पश्चात् नाथ-सम्प्रदाय के कनफटे जोगियों द्वारा किये गये उत्पातों का दमन करने के लिए उनके गुरु जी ने उन्हें पञ्जाब में भेजा[2]। यहीं पर उनका जन्म-स्थान भी था। अपनी जन्म-भूमि में रहकर नाथों के अत्याचारों का उन्होंने दमन किया जिससे उस क्षेत्र के वैष्णव साधकों का त्राण हो सका। कुछ वर्षों तक वहीं निवास करने पर 'बनी' नामक स्थान में उनका आश्रम बन गया।

स्वभूरामदेव जी का अवसान-काल—

आचार्य-परम्परा-परिचय, 'निम्बार्क-माधुरी' और वृन्दावन धामांक में स्वभूरामदेव जी का अवसानकाल सं० १५४५ वि० में १२५ वर्ष की आयु भोगने के अनन्तर लिखा है। उन जैसे आचरणशील विरक्त महात्मा का १२५ वर्ष की आयु प्राप्त करना कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि इस सम्प्रदाय के महात्मा प्रायः दीर्घायु होते आये हैं परन्तु जहाँ तक उनकी निधन-तिथि का सम्बन्ध है वह बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। कारण यह है कि उनके अवसान के वर्ष में से यदि उनकी आयु के १२५ वर्ष कम कर दिये जाँय तो उनका जन्मकाल सं० १४२० वि० में होगा जो किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। गौड़िया साधु बाबा कृष्णदास ने भी इस पर आपत्ति की है जो[3] युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

केशव काश्मीरी जी की चर्चा करते हुए हमने उनका सं० १३५० से १४५० वि० के लगभग तक रहना निश्चय किया है[4]। केशव काश्मीरी के पश्चात् श्रीभट्ट जी एवं उनके शिष्य श्री हरिव्यासदेव जी ने दीर्घायु प्राप्त की थी जिसका उल्लेख उनके प्रसंगों में है। श्रीभट्ट जी का विद्यमान काल कई घटनाओं की संगति से सं० १४६० से १५४२ वि०

१—आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोरदास जी पृ० २०।

२—निम्बार्क माधुरी, ब्रह्मचारी विहारीशरण पृ० ३७।

३—नम्र निवेदन और कुछ समीक्षा, बाबा कृष्णदास कुसुमसरोवर पृ० २९।

४—केशव काश्मीरी भट्ट, इस निबन्ध की पृ० संख्या ३४

तक एवं हरिव्यासदेव जी का सं० १५०० से १६०० तक रखना ठीक होगा। हरिव्यासदेव जी के यथेष्ठ परिश्रम और साधना करने के अनन्तर श्रीभट्ट जी ने उनको अपना शिष्य बनाया था। अतः २० वर्ष की आयु में भी यदि उनका शिष्यत्व ग्रहण करना माना जाय और उसके १० वर्ष पश्चात् ही उनके द्वारा इनको (स्वभूरामदेव को) शिष्य बनाना स्वीकार किया जाय तो सं० १५३० वि० में श्री स्वभूरामदेव जी का उनके गुरु की शरण में आना सिद्ध होता है ऐसी दशा में सं० १४२० वि० में उनका जन्मकाल मानना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इन सभी घटनावलियों के आधार पर उनका जन्मकाल कम से कम एक शताब्दी पीछे होना चाहिए। अर्थात् सं० १५२० से १६४५ वि० तक वे इस संसार में रहे होंगे और सं० १५३५ के लगभग ध्रुवटीला में आकर अपने गुरु जी से दीक्षित हुए होंगे। सं० १६४५ में उनकी मृत्यु भी ठीक ही प्रतीत होती है।

स्वभूरामदेव जी का प्रभाव-विस्तार—

श्री स्वभूरामदेव जी तपोनिष्ठ, निस्पृह एवं दृढ़ चरित्र महात्मा थे। वे लगनशील पुरुष थे, इसी कारण जनसमुदाय में साहित्यकार और उच्चकोटि के साधक भक्त की दृष्टि से नहीं वरन् लोकोपकारी और परदुखपरायण महात्मा के रूप में भी वे अत्यन्त प्रसिद्ध हुए[1]। उनके शिष्य श्री कन्हरदेव जी का चित्र अंकित करते हुए भक्तमालकार लिखते हैं:—

सोभूराम प्रसाद ते कृपा दृष्टि सब पर बसी।
बूड़िये विदित कन्हर कृपाल आत्माराम आगमदर्शी॥

जिससे स्वभूरामदेव जी की परदुखपरायणता और लोक-सेवा का भान होता है।

स्वभूरामदेव जी के ५ प्रधान शिष्य हुए जिनमें परमानन्द जी विशेष प्रसिद्ध हुए। भक्तमालकार ने इनका भी उल्लेख किया है। परमानन्ददेव जी के शिष्य चतुरचिन्तामणि नागा जी महाराज हुए जो अपनी अनुपम कृष्ण भक्ति के कारण अपने समय के सन्तों में बहुत प्रसिद्ध हुए। न केवल निम्बार्क वरन् वल्लभ आदि सम्प्रदायों में भी इनकी बड़ी मान्यता है।

स्वभूरामदेव जी के विरक्त हो जाने के पश्चात् उनके छोटे भाई का जन्म हुआ था जिसका नाम माधवदास रखा गया था। बड़े होने पर उसने स्वभूरामदेव जी से दीक्षा लेकर गृहस्थ-धर्म का प्रचार किया[2]। कालान्तर में इन्हीं माधवदास जी की गृहस्थ-परम्परा का विस्तार हुआ और वे स्वभूरामदेव जी के गोस्वामी प्रसिद्ध हुए। श्री कन्हरदेव जी के प्रमुख पाँच शिष्य श्री परमानन्ददेव जी, मथुरदेव, नारायणदेव, रामगोपालदेव और

१—नाभादास कृत भक्तमाल, छप्पय सं० १६१।

२—सर्वेश्वर, वर्ष ३ अंक १२ पृ० २४ तथा नाभादास कृत भक्तमाल छप्पय सं० १६०।

नारायणदेव द्वितीय ने राजस्थान, बङ्गाल, बिहार, मथुरा, वृन्दावन, उत्तर पूर्वी प्रान्तों में अनेक मठ-मंदिर बनवाये और नई गद्दियों की स्थापना भी की।

इसी शाखा में आगे चलकर पं० पुरुषोत्तमप्रसाद जैसे मर्मज्ञ विद्वान और विविध शास्त्रकार, पं० अनन्तराम जी जैसे महापण्डित एवं धर्मशास्त्र-प्रणेता और ज्ञान-गरिमा से गौरवान्वित वर्द्धमान शाखा के संस्थापक नरहरिदेव जी हुए। स्वभूराम द्वारे के अन्तर्गत सम्प्रदाय की अन्य शाखाएँ भी हैं। जिनमें पन्नामी और आगलशंकर शाखाएँ प्रधान हैं[1]। पन्नामी शाखा का प्रचार प्रधानतः पन्ना, जूनागढ़, जामनगर, काठियावाड़, बुन्देलखण्ड के आस-पास है। मूल सिद्धान्तों में एकता होते हुए भी दैनिक-आचार प्रणाली में ये लोग कुछ भिन्न हैं। विरक्त पन्नामी सन्त अब अपने को निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत हरिदासी शाखा के अन्तर्गत मानते हैं। आगलशंकर शाखा का प्रचार क्षेत्र बङ्गाल में है ये लोग नियमानन्दी और उद्धवी नामों से एक दूसरे को सम्बोधित करते हैं। आचार-मर्यादा में भी वे ब्रजप्रान्तीय निम्बार्कियों से भिन्न हैं। इस सम्प्रदाय का विकास स्वभूरामदेव जी की लोक-प्रियता एवं तपोनिष्ठा का अच्छा प्रमाण है।

स्वभूरामदेव जी की रचनाएँ—

साम्प्रदायिक लेखकों ने श्री स्वभूरामदेव जी को तपस्वी, सिद्ध और प्रचारक के रूप में अंकित किया है परन्तु उनके साहित्यकार होने की सम्भावना की ओर भी कुछ संकेत मिला है। पं० किशोरदास जी ने उनके असंख्य उपदेशामृतों को 'स्वभूराम सागर' नाम दिया है जो प्रधानतः मौखिक और गेय ही रहे हैं। पं० बिहारीशरण ब्रह्मचारी ने स्वभूराम सागर' नामक उनके ग्रन्थ की हरियाना प्रदेश में प्राप्ति होने का विश्वास निम्बार्क-माधुरी में प्रकट किया है। परन्तु अभी तक वह ग्रन्थ देखने में नहीं आया। श्री ब्रजवल्लभ-शरण वेदान्ताचार्य ने लखनऊ में मुद्रित भक्तमाल की चर्चा करते हुए उसकी छप्पय संख्या १९३ की टिप्पणी में स्वभूराम जी द्वारा रचित निम्न दोहे का उल्लेख किया है[2]।

शोभू माला शोभ की, पन की माला नांहि।
ऐंड़ा को सो तड़गड़ा, पाल रह्यौ गल मांहि॥

स्वभूरामदेव जी को पंजाब में नाथ-पन्थियों से लोहा लेना पड़ा था। ये लोग काठ की बड़ी-बड़ी मालाएँ धारण करते थे परन्तु आचार से शून्य थे। स्वभूरामदेव जी ने उनसे कहा 'तुम्हारे गले में यह किसी दृढ़ पन' (विशिष्ट प्रण) की माला नहीं है तुमने तो ऐंड़ा (तराजू का पासंग) का तड़गड़ा (पलड़ों को समतोल बनाने वाला) पासंग जैसा वजन गले में डाल रखा है, उनके द्वारा रचित ऐसे अन्य अनेक छन्दों की सम्भावना की गई है।

१—आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोरदास कृत, पृ० २२।
२—सर्वेश्वर, वर्ष ३ अंक ८ स्वभूरामदेव जी की एक रचना पृ० २१।

स्वभूरामदेव जी के शिष्य कन्हर देवाचार्य की सम्प्रदाय में कई नामों से प्रसिद्धि है। बाल्यावस्था में उनका नाम कन्हर था जिसके आधार पर कन्हरदेवाचार्य अथवा कन्हरदास प्रचलित हुआ। उसीसे मिलता हुआ कर्णहर देवाचार्य चल पड़ा। आजीवन दूध ही इनका भोजन रहा इस कारण ये दूधाधारी भी कहलाते थे। इनके भविष्यद्द्रष्टा होने का संकेत नाभादास जी ने इन्हें आगमदर्शी कहकर दिया है[1]।

नाभादास जी के छप्पय के आधार पर कन्हरदेव का जन्मस्थान जगाधरी के पास बूड़िया ग्राम है। उनके गुरु स्वभूरामदेव जी इसी ग्राम के निवासी थे। कन्हरदेव गुणी महात्मा थे। पञ्जाब में इनके शिष्यों की संख्या अधिक है जिन्होंने स्वधर्म-रक्षा के निमित्त उस प्रदेश में बहुत बड़ी संख्या में मठ-मन्दिर स्थापित किये और उनका विस्तार राजस्थान में भी किया। इन स्थानों से कालान्तर में वैष्णव धर्म-रक्षा का आन्दोलन चलाने में बड़ी सहायता मिली।

कन्हरदेवजी ने ९५ वर्ष की आयु प्राप्त कर परमगति प्राप्त की। अपने जीवन काल में ही इन्होंने अपने गुरुदेव की आज्ञा से बूड़िया से जाकर तिरखूयज्ञ में मठ स्थापित किया था जहाँ पर उनके जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत हुआ।

कन्हरदेव जी के पाँच प्रभावशाली शिष्य हुए जिन्होंने पूर्व-भारत विशेषकर बिहार-उड़ीसा में सम्प्रदाय का अच्छा प्रचार किया।

श्री परमानन्द देवाचार्य—

ये कर्णहरदेव जी के सबसे ज्येष्ठ शिष्य थे। ये गौड़ ब्राह्मण थे और अपने गुरुदेव की प्रमुख गद्दी तिरखूयज्ञ के उत्तराधिकारी हुए। इन्होंने कन्हरदेवजी की भाँति दृढ़ आचरण संतवृत्ति एवं लोक अनुशीलनमयी प्रवृत्तियों के द्वारा राज-दरबारों में अपने पीठ की मान-मर्यादा बढ़ाई। आगे चलकर नादगाँव एवं छुईखदान राज्यों की भी इनके शिष्यों ने स्थापना की। उनकी परम्परा में महन्त सरयूदास जी ने डूँगर स्टेट के महाराज लक्ष्मणसिंह पर अच्छा प्रभाव जमाया और उनसे राजगुरु की उपाधि प्राप्त की[2]। 'सुदर्शन पत्र' के संचालन एवं साम्प्रदायिक उन्नति के अनेक कार्य इन नरेशों ने किये।

श्री मथुर देवाचार्य—

उनके दूसरे शिष्य थे इन्होंने पंजाब को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया और खाँड़ा जिला रोहतक में अपनी गद्दी स्थापित की। इनकी परम्परा में महात्मा नरहरिदेवाचार्य अत्यन्त प्रतापी एवं भगवद्भावनिष्ठ महात्मा हुए जिन्होंने सम्प्रदाय में प्रसिद्ध वर्द्धमान स्थान की नींव डाली[3]।

१—भक्तमाल छप्पय सं० १९१।

२—आचार्य परम्परा परिचय पं० किशोरदास जी पृष्ठ ४३।

३—सुदर्शन वर्ष २ अङ्क १ पृष्ठ १२२।

श्री नारायण देवाचार्य--

कन्हरदेव जी के तीसरे शिष्य थे। इसके शिष्य-प्रशिष्यों ने अनेक मठ-मंदिरों की स्थापना की। उनके एक शाखा-शिष्य श्री महात्मा गोपालदास जी (जन्म संवत् १८७२ विक्रमी) ने वृन्दावन में निवास करते हुए निम्बार्क-जयन्ती-महोत्सव मनाना प्रारम्भ किया[1]। यह उत्सव अब भी बीस दिनों में सम्पन्न होता है। उनके प्रशिष्य श्री बाल-गोविन्ददास जी ने आचार्य-पंचायतन की स्थापना वृन्दावन में एक भव्य मंदिर बनवाकर की। वृन्दावन का प्रसिद्ध निम्बार्क-कोट उनके ही द्वारा बनाया गया[2]। उनके एक शिष्य श्यामदामोदरदास जी के दूसरे शिष्य श्री आत्मारामदेव ने पञ्जाब में मलेरकोटला में एक स्थान निर्माण कराया।

श्री रामगोपाल देवाचार्य--

कन्हरदेव जी के चौथे शिष्य थे। इनकी शिष्य-परम्परा का राजस्थान में विशेष प्रभाव रहा। सुरबाल नामक जयपुर राज्य का सुन्दर स्थान उसी शाखा के अन्तर्गत है। इनसे ११ वीं पीढ़ी में बाबा रामचन्द्रदास जी हुए जिन्होंने वृन्दावन में दतिआवाली कुञ्ज में आजीवन वास करते हुए अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थों का प्रकाशन कराया[3]।

श्री धर्मदेवाचार्य---

कन्हरदेव जी के पञ्चम शिष्य थे। इनकी शिष्य-परम्परा में श्री पुरुषोत्तमप्रसाद जी हुए, जो सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान, पण्डित एवं ग्रन्थकार हुए, इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

(१) २५ श्लोकी पर आपने श्रु त्यन्त सुरद्रुम नाम की एक टीका लिखी है। (२) अर्चरादि पद्धति, (३) मुकुन्द महिमा-स्तोत्र, (४) आध्यात्मकारिकावली और (५) उसकी टीका आध्यात्म-सुधातरङ्गिणी, (६) लघुस्तवराज टीका आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। इसी शाखा के एक दूसरे बिद्वान लेखक अनन्तराम जी भी हुए जो पुरुषोत्तमप्रसाद के गुरुभाई थे। इन्होंने (१) वेदान्तरत्नमाला, (२) पदार्थ बोधिनी (गीता पर भाषा टीका), (३) पुरुषोत्तमचरण भूषण स्तोत्र, (४) हंस शरणापत्ति, (५) श्री मुकुन्दशरणा-पत्ति, (६) द्वैताद्वैत विवरण, (७) आचार्य पञ्चायतन स्तोत्र (८) वेदान्त रत्नमाला, (९) तत्व - सिद्धान्त बिन्दु, (१०) आचार्य परम्परा स्तोत्र टीका सहित, (११) वैष्णव धर्म-मीमांसा, (१२) अवतार भ्रम निवारण ग्रन्थ लिखकर बड़ा काम किया[4]।

१—निम्बार्क प्रभा, आनन्दवर्ग माला पं० केशवदेव प्रणीत पृष्ठ १३५।
२—सर्वेश्वर, वृन्दावनांक पृष्ठ २९४।
३—आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोरदास जी पृष्ठ ४९।
४—आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोरदास जी पृष्ठ ५१।

इसी शाखा में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पं० रामचन्द्र गौड़ भी अच्छे लेखक हुए जिन्होंने 'पुष्पेषुमनुकल्पतरुसौरभ' 'स्वधर्माध्वबोध' और 'गायत्री विवृत्ति' आदि ग्रन्थ लिखे[1]।

पुष्पेषुमनुकल्पतरुसौरभ---

यह गौड़ जी की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसकी सूक्ष्म रचना में ग्रन्थकार ने कामबीज ऊर्ध्व तथा अष्टादशाक्षर गोपालमन्त्र का अभिप्राय बड़े कौशल से संग्रहीत किया है। इस ग्रन्थ में ६ तरंगें हैं जिनका विस्तार १२५ श्लोकों में है। रचना मधुर है किन्तु मन्त्र का विवरण सांकेतिक शब्दों में दिया गया है, अतः रहस्यज्ञ के सिवा कोई पण्डित भी ऐसे ग्रन्थ का अर्थ नहीं कर सकते। परिभाषाओं को जानकर ऐसे श्लोकों के अर्थ करने की प्रणाली मन्त्रोद्धार कही जाती है। ग्रन्थ की इस कठिनाई को दूर करने के लिए वृन्दावनस्थ पं० जयदेव जी ने इसकी सौरभ-वाहिनी नामक हिन्दी टीका की है। 'गायत्री-विवृत्ति' उपासना से सम्बन्ध रखती है।

कन्हरदेव जी के जिन पाँच शिष्यों का उल्लेख ऊपर हुआ है उनमें श्री परमानन्ददेव जी के परिकर की संख्या सर्वाधिक है। ब्रजदूलह श्री नागा जी महाराज जिनका वर्णन आगे की पंक्तियों में किया जायगा इन्हीं के शिष्य थे। नागा जी का ब्रज पर बड़ा व्यापक प्रभाव है। श्री वृन्दावन के निम्बार्काश्रम (काठियाबाबा के दोनों स्थान), कैमारवन, रामगुलेला, विहारी जी का बगीचा, जुगल भवन, निम्बार्क-सदन, पानीघाट स्थान सब इन्हीं नागा जी के परिकर में हैं। इस शाखा के अन्य प्रसिद्ध विद्वान और सन्तों के नाम हैं—(१) ब्रज विदेही पं० किशोरदास जी, (२) श्री बाबा रामदास काठिया, (३) बाबा सन्तदास जी काठिया, (४) तपस्वीदास जी एवं (५) श्री 'हरिप्रियाशरण' (पं० दुलारे-प्रसाद जी[2])।

पण्डित दुलारेप्रसाद शास्त्री---

शास्त्री जी कान्यकुब्ज जातीय तथा काशीस्थ महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री के शिष्य थे, वृन्दावन में ये विविध शास्त्रों का अध्ययन कराते थे। इसी बीच ये भागवती पण्डित तपस्वीदास जी के विरक्त शिष्य हो गये। ये व्याकरण और दर्शन-शास्त्र के अगाध पण्डित और भक्तितत्व पारङ्गत थे। इन्होंने 'दीक्षातत्व-प्रकाश', 'भगवन्नामचन्द्रिका' 'युगलकरचरणाब्ज प्रकाशिका' भक्ति विषयक ग्रन्थ रचे। 'दीक्षा-तत्व-प्रकाश' में वैष्णवों के मन्त्र सम्बन्धी विविध-विधान हैं। इनका महत्वपूर्ण कार्य था भागवत की प्राचीन आठ टीकाओं का संशोधन। इस महासंग्रह को लाखों रुपया व्यय कर बङ्गाल के एक धनपति ने सं० १९५० वि० के लगभग प्रकाशित किया था। खोज के द्वारा प्राप्त अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थों के संशोधन और पाठ-सुधार का श्रेय भी शास्त्री जी को है। आपका सं० १९९१ के लगभग वृन्दावनवास हुआ।

१—आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोरदास, पृष्ठ ५२।

२—वृन्दावन धामांक, पृष्ठ २३२।

चतुर चिन्तामणि श्री नागा जी महाराज—

ये परमानन्द देवाचार्य के शिष्य थे। इनका जीवन-चरित्र भगवान् श्रीकृष्ण और श्री राधा की दया-दाक्षिण्यमयी घटनाओं से परिपूर्ण है। इनका जन्मस्थान मथुरा जनपदस्थ पैगाँव में हुआ था। इनके जन्मकाल, कुल आदि के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। आचार्य-परम्परा के लेखक ने इनकी वृत्ति का बाल्यकाल से ही एकान्त-प्रिय विरक्ति एवं प्रगाढ़ भगवद्भक्ति से पूर्ण होने का उल्लेख किया है। इनका घर का नाम चतुरा था। ये प्रायः घर से बाहर निकल जाते थे और अवधूत वृत्ति से रमते थे इस कारण इनका बाल्यकाल में ही नागा नाम पड़ गया था।

श्री नागा जी की जन्मकुण्डली में अल्पायु का योग था जिसकी प्रायः घर में चर्चा रहती थी। परमानन्ददेव जी एक बार इनके गाँव में आये और बालक नागा ने उनको अपना प्राण विस्तारक जानकर उनका आश्रय ले लिया। इनके माता-पिता ने पुत्र की कल्याण-कामना के लोभ से नागा जी को गृहत्याग की स्वीकृति दे दी और उन्हें नैष्ठिकी दीक्षा दिला कर गुरु के साथ प्रसन्नतापूर्वक भेज दिया[1]।

शिष्य होने के पश्चात् नागा जी ब्रज-यात्रा करते हुए अपने गुरुदेव के साथ तिरखूयज्ञ पहुँचे। उनकी सेवा से प्रसन्न होकर गुरुदेव ने नागा जी को ब्रज में जाने की आज्ञा दी और वे वहाँ जाकर ब्रज-सेवन करने लगे। ब्रज में रहते हुए नागा जी ने ब्रज-परिक्रमा का व्रत धारण किया। नित्यप्रति परिक्रमा-काल में अनन्य भाव से भगवान् का भोग अर्पित करने के प्रसंग में प्रसिद्धि है कि एक दिन नागा जी ने जतीपुरा के निकट बाटी का भोग लगाया तो श्रीनाथ जी स्वयं आरोगने आ गये[2]। इसी प्रकार बरसाने के गहवर वन में हींस वृक्ष में इनकी जटाएँ उलझ गईं तो इन्होंने आग्रह किया कि नन्दनन्दन स्वयं सुलझाएँगे तो यहाँ से चलूँगा अन्यथा नहीं। जिसके परिणामस्वरूप भगवान् ने वृषभानु-नन्दिनी सहित वहाँ आकर जटाओं को सुलझाया[3]।

चलते समय अतिशय प्रसन्नता से युगलकिशोर ने नागा जी से बर माँगने को कहा तब आपने यह वरदान माँगा कि ब्रजवासी हमारे वैष्णवों को आधा दूध दिया करें। उसी समय से वैष्णव लोग ब्रजवासियों के घर से आधा दूध ले आते हैं, कोई निषेध नहीं करता, क्योंकि ऐसा करने से प्रायः पशुओं के थनों में कोई विकार हो जाता है अथवा दूध में कीटादि उत्पन्न हो जाते हैं[4]। ब्रजयात्रा के अवसर पर प्रत्येक वर्ष वैष्णव लोग पैगाँव से तथा आस-पास के अन्य गाँवों से अब भी आधा दूध बिना मूल्य ले आते हैं।

१—आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोरदास पृष्ठ ५३।
२—भक्तमाल, नाभादास कृत छप्पय सं० १४६।
३—भक्तगाथा सर्वेश्वर वर्ष ३, अङ्क १२, पृष्ठ २५।
४—सर्वेश्वर वर्ष ३ अंक १२ पृष्ठ २६।

बहुत दिनों तक ब्रज-परिक्रमा-साधना कर लेने के अनन्तर नागा जी भगवान् की पुनीत लीलास्थली वृन्दावनधाम में विहारघाट पर निवास करने लगे। एक दिन भगवान् ने ध्यान करते समय आपसे कहा 'मेरी एक मूर्त्ति यहीं भूमि में दबी है, तुम उसे निकाल लो और सेवा करो'। निदान नागा जी ने उस श्रीविग्रह को निकालकर बिहारघाट पर मन्दिर बनवा कर ठाकुर जी को पधराया और उनकी सेवा करते हुए अपनी इस लोक की लीला को आश्विन कृष्णा ७ को समाप्त कर दिया। उसी विहारघाट पर नागा जी की समाधि अभी तक बनी है और उसी दिन इनका जयन्ती महोत्सव मनाया जाता है।

नागा जी के ब्रज-रज प्राप्त करने के बाद भरतपुर नरेश उनके द्वारा संस्थापित विहारी जी को बड़े समारोहपूर्वक भरतपुर ले गये और किले में मन्दिर बनाकर उनकी स्थापना की। श्री बिहारी जी की प्रतिमा वहाँ पर अभी तक विद्यमान है। इस मन्दिर में नागा जी का एक कंथा अभी तक ज्यों का त्यों रखा हुआ है जिसका उनकी जयन्ती के दिन दर्शन एवं पूजन होता है।

नागा जी और भक्तमाल---

नाभादास जी ने भक्तमाल में नागा जी को अहर्निशि श्यामसुन्दर के ध्यान में मगन रहने वाला, भक्तजनों में अनुराग रखने वाला, मथुरा और ब्रजभूमि का नित्य सेवन करने वाला और उसकी मान-मर्यादा का सदैव उच्च विचार रखने वाला अंकित किया है[१]।

नागा जी प्रियादास की टीका के आधार पर---

प्रियादास जी ने भक्तमाल की टीका करते हुए यह पुष्ट किया है कि इनके गुरुदेव ने इनकी सेवा से प्रसन्न होकर इन्हें ब्रज-निवास की आज्ञा दी थी। ब्रज में नित्य परिक्रमा करते समय यह क्रम रहता था कि वे प्रातःकाल वृन्दावन में श्री गोविन्ददेव जी के मन्दिर में मंगला करते थे मथुरा जी में केशवदेव जी के मन्दिर में शृङ्गार-दर्शन और नन्दगाँव में राजभोग। वहाँ से लौटते हुए गोवर्द्धन और राधाकुण्ड होकर वे प्रसन्न मन से वृन्दावन लौट आते थे[२]। प्रत्येक समय प्रसन्न चित्त रहना उनकी विशेषता थी[३]। इसी प्रकार आधे दूध के वरदान वाली बात की भी प्रियादास जी ने पुष्टि की है[४]।

श्री नागा जी के ४ शिष्य हुए। (१) श्री मोहनदेवाचार्य, (२) श्री द्वारिकादेवाचार्य, (३) अनन्तदेवाचार्य, (४) श्रीकृष्ण या माखनचोर देवाचार्य। मथुरा जनपद, ब्रज और उसके आस-पास नागा जी का प्रभाव अब भी व्याप्त है।

१—भक्तमाल नाभा जी कृत छप्पय सं० १४६।

२—भक्तमाल पर प्रियादास जी की टीका छन्द सं० ५९५।

३—„ „ „ ५९५।

४—„ „ „ ५९६।

नागा जी और वल्लभ सम्प्रदाय—

वल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य में नागा जी का प्रसंगानुसार उल्लेख हुआ है[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि वल्लभ सम्प्रदाय के विकास-काल में ही नागा जी मथुरा जनपद के आस-पास विशेषकर ब्रज-मण्डल में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके थे इस कारण इस सम्प्रदाय के लेखकों ने नागा जी का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। वे प्रायः गोस्वामी वल्लभाचार्य जी के पास के स्थान पर बैठे हुए उनके विशिष्ट अतिथि की गणना में आते हैं।

इसी प्रकार जमनावत गाँव के किसी धर्मदास के वे गुरु कहे गये हैं और यह धर्मदास अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुम्भनदास के काका थे[2]।

उपरोक्त दोनों घटनाओं से नागा जी के समय पर प्रकाश पड़ता है। स्वभूरामदेव जी निस्पृह संत थे। उनका व्यक्तित्व बहुत श्रेष्ठ था और उनके आचरण का जनसाधारण पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। इस कारण उनके शिष्य-प्रशिष्यों की संख्या एक साथ बढ़ती गई। उनकी शिष्य-परम्परा में अनेक वयशील व्यक्ति भी थे जो अपने गुरु के समान आयु वाले अथवा कभी-कभी उनसे अधिक आयु वाले भी होंगे। इसी कारण स्वभूरामदेव कन्हरदेव, परमानन्ददेव और यहाँ तक कि नागा जी महाराज के समय में थोड़े से अन्तर से प्रायः समसामयिकता ही देखी जाती है। यहाँ तक कि उनके गुरु हरिव्यासदेव जी का भी लगभग वही समय पहुँचता है। ये महात्मा विक्रम की १६ वीं शती में ब्रज-राजस्थान-पंजाब प्रदेशों में स्वधर्म-रक्षा एवं भक्ति-प्रसार द्वारा मानव संस्कार का महत्वपूर्ण कार्य करते रहे।

श्री परशुरामदेव जी का द्वारा—

श्री हरिव्यासदेव जी के शाखा-विस्तारक बारह शिष्यों में परशुरामदेव जी की संख्या छटवीं है। किन्तु इस शाखा का गौरव सर्वाधिक है। एक तो इनके गद्दी-स्थान में

१—महाप्रभु जी एक मास यहाँ रहे, एक दिवस निम्बार्क सम्प्रदाय के चतुरा नागा हजार साधु की जमात के साथ आये और जमात के लिए खीर का भोजन माँगा। आचार्य ने ५ सेर दूध की खीर से सबको तृप्त किया। सब चमत्कृत हुए। आचार्य ने कहा—'नागाजी तुम दीर्घजीवी होगे, अभी ४० वर्ष के हो। ११० वर्ष और जीओगे।'
वल्लभकल्पद्रुम विटप सातयो, अंकुर बीसयो। कोकिलावन की बैठक—शुद्धाद्वैत संसद कार्यालय, अहमदाबाद।

२—और जमनावतौ ग्राम में एक धर्मदास ग्वाल ब्रजवासी हतो, सो बड़ौ भगवद्-भक्त हतो, सो कुम्भनदास कौ काका लागत हतो और चतुरनागा को शिष्य हतो। श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता पृष्ठ ८ लल्लूभाई देसाई, अहमदाबाद।

सर्वेश्वर शालग्राम विराजते हैं, जिनकी सेवा पूर्वाचार्य परम्परा से करते आ रहे थे। दूसरे राजस्थान के अनेक राजा इस शाखा के आचार्यों को सम्मानित करते रहते थे। इस कारण इनका गौरव अधिक है। इसके अतिरिक्त आनन्दघन, रसिक गोविन्द, वृन्दावनदेव नागरीदास आदि कई महत्त्वपूर्ण कवि इस शाखा में हुए जिनके कारण साहित्यिक दृष्टि से भी यह शाखा अग्रगण्य रही। परशुरामदेव जी के द्वारा इस द्वारे का प्रारम्भ हुआ।

परशुरामदेव जी का जीवन-वृत्त—

परशुरामदेव जी के जीवन-वृत्त सम्बन्धी अभी तक कोई ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं है। इनके माता-पिता, जन्मकाल आदि का वृत्तान्त भी अज्ञात है। जनश्रुति और उनकी कविता के आधार पर इतना पता चलता है कि वे जयपुर राज्य में उत्पन्न हुए थे और जाति के आदिगौड़ कुलोत्पन्न ब्राह्मण थे[१]। नाममाहात्म्य के 'वाणी-अंक' में उल्लेख है कि आपने गौड़ ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। आपके पिताजी का नाम वासुदेव जी था जिनके घर में सं० १५४४ वि० में आपका आविर्भाव हुआ[२] परन्तु इस कथन का कोई आधार नहीं है। आप जब तक बालक ही थे कि माता-पिता का देहावसान हो गया। अतः संसार से उन्हें विरक्ति हो गई। अपने घर की ओर से निराश्रित होकर वे उस समय के प्रसिद्ध महात्मा श्री हरिव्यासदेव जी के शिष्य हो गये।

श्री हरिव्यासदेव जी के समय में यवनों का आतंक चारों ओर फैला हुआ था। इनके दादा-गुरु श्री केशव काश्मीरी भट्ट ने उनसे मथुरापुरी में लोहा लिया था। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया मुसलमानों की स्थिति निरन्तर दृढ़ होती गई, जिसके साथ-साथ मुल्ला, मौलवी, काजी, पीर, फकीरों का चारों ओर बोलबाला दिखाई देने लगा। परिणाम यह हुआ कि सत्रहवीं शती के प्रारम्भ में ही आगरा, दिल्ली, अजमेर, जौनपुर, फतेहाबाद, चम्पानेर, अहमदाबाद आदि अनेक नगरों में मसजिद और दरगाहें बनी। वहाँ पर मुसलमानी धर्म का विशेष जोर बढ़ा। उपरोक्त नगरों में अजमेर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। सूफी सन्तों में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती नामक पहुँचे हुए एक महात्मा हुए हैं। इनका जन्म सं० ११६८ वि० में मध्य एशिया में हुआ था। ये थोड़े ही दिनों में चिश्ती सम्प्रदाय के अध्यक्ष हो गये और समरकन्द, बगदाद, इमादन, तबरेज, मक्का आदि मुसलमानी तीर्थ-स्थानों की यात्रा करते हुए सं० १२२३ में अजमेर में आये, जो चौहान राजाओं की राजधानी थी। उन्होंने अजमेर को अपने धर्म-प्रचार का मुख्य केन्द्र बनाया और स्थायी रूप से रहते हुए ७० वर्ष तक साम्प्रदायिक प्रचार करने के पश्चात् सं० १२९३ में पंचत्व प्राप्त

१—ब्रह्म कर्म कारिणी गई, गई जनेऊ जाति।
अब हम हुए राम जन, 'परसा' परम सुजाति॥
परशुराम सागर, दोहा खंड, सं० वियोगी विश्वेश्वर दोहा सं० ६५३।

२—नाममाहात्म्य, वाणी अंक, पृष्ठ ३७।

किया[1]। कहा जाता है कि ख्वाजा ने एक हिन्दू महान्त को मुसलमान बनाया था और एक राजा की कन्या के साथ अपना विवाह किया था। उन्होंने अपने पुत्र जमाल और पुत्री हाफिजा को धर्म-प्रचार करने के लिए भारत के विभिन्न प्रान्तों में भेजा था। हिन्दुओं के स्त्री-समाज पर बीबी हाफिजा के प्रचार का बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ा और हजारों की संख्या में हिन्दू महिलाओं का धर्म-परिवर्तन हो गया। ख्वाजा की मृत्यु के अनन्तर अजमेर में उनकी एक भव्य समाधि बनाई गई जिसका दर्शन करने के लिए लाखों मुसलमान और हिन्दू जाते रहते थे। अकबर आदि अनेक मुसलमान सम्राटों के ख्वाजा पीर की समाधि का प्रतिवर्ष दर्शन करने जाने की पुष्टि इतिहास से भी होती है।

ख्वाजा की परलोक-यात्रा के अनन्तर अजमेर मुसलमानी धर्म का मुख्य केन्द्र बन गया। वहाँ पर कोई न कोई प्रतिष्ठित सिद्ध और धर्म-प्रचारक ख्वाजा की संस्मृति को नव-जीवन देने के लिए धर्म-प्रचार में संलग्न रहता था। कालान्तर में इन धर्म-प्रचारकों ने अत्याचार प्रारम्भ कर दिए जिनका आस-पास के प्रदेशों पर बुरा प्रभाव पड़ा। वहाँ की हिन्दू जनता नित नई समस्याओं में ग्रस्त रहती हुई भगवान् की शरण माँगने लगी। प्रसिद्ध है कि श्री हरिव्यासदेवाचार्य के समय में वहाँ पर सलीमशाह चिश्ती नामधारी कोई यवन साधु महान अत्याचार कर रहा था[2]। अजमेर के निकट ही पुष्कर क्षेत्र में हिन्दुओं का पुरातन तीर्थ था। उस स्थान पर मुसलमानों का अत्याचार विशेष रूप से था। इससे घबराये हुए कुछ लोगों ने ब्रज में आकर श्री हरिव्यासदेव जी से मुक्ति की प्रार्थना की और गुरुदेव ने परशुरामदेव जी को अत्याचार रोकने के लिए वहाँ भेजा। ब्रज परित्याग कष्ट से परशुरामदेव जी का मन कुछ डावाँडोल होने लगा तो गुरु जी ने उन्हें समझाया:—

श्री गुरु शबद समझि सर बोलै, चालै तहीं परवाणें।
ताकौ भजन मरम को भेदै, पहुँचै ठौर ठिकाणें[3]॥

अतः गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर परशुरामदेव जी दलबल सहित पुष्करारण्य पहुँचे और उन्होंने सलीमशाह चिश्ती को अपनी सिद्धि द्वारा पराजित कर दिया। शनैः-शनैः उनका प्रभाव चारों ओर व्याप्त हो गया। राजस्थान के अनेक राजा, महाराजा, सरदार और अमीर उनके दर्शनार्थ आने लगे। मुसलमान शासकों में भी उनकी कीर्ति की चर्चा चलने लगी। कुछ समय पश्चात् सलीमशाह ने अपनी इहलोक लीला संवरण की। उसकी मृत्यु के स्थान पर एक सुन्दर समाधि बनाई गई और उसके आस-पास कालान्तर में जो बस्ती बनी वह सलेमाबाद कहलाने लगी। इसी के आस-पास वह स्थान था जहाँ पर परशुरामदेव जी ने सलीमशाह की सिद्धियाँ नष्ट करके उसे परास्त किया था अतः वह

१—भारत का वृहद् इतिहास, नेत्र पाण्डेय, भाग २, पृष्ठ ३३५।

२—नाममाहात्म्य, वाणी अंक, पृ० ३७।

३—परशुरामसागर, दोहा संख्या, १२५।

स्थान परशुरामपुरी कहलाने लगा। दोनों बस्तियों से मिली-जुली विशाल बस्ती अब परशुरामपुरी (सलेमाबाद) नाम से सम्बोधित की जाती है। पुष्करक्षेत्र में परशुरामदेव जी द्वारा पुनरुद्धारित यह आचार्यपीठ अब निम्बार्क-सम्प्रदाय का सर्व प्रमुख पीठ माना जाता है[१]।

परशुरामदेव जी का समय—

परशुरामदेव जी के इहलोक लीला संवरण करने से अनन्तर उनके शिष्य श्री हरिवंश देवाचार्य परशुरामपुरी की गद्दी पर प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने अपने गुरुदेव की स्मृति में उनकी समाधि और उनकी गुफा के निकट एक स्थान का निर्माण कराया जो अब परशुराम द्वारे के नाम से प्रसिद्ध है। इस समाधि के पुष्कर वाले द्वार पर एक शिलालेख है जिसमें इसका निर्माणकाल सं० १६८९ वि० अंकित है। परशुरामदेव जी की प्रसिद्धि और उनके प्रति राजा-महाराजाओं की निष्ठा से यह निश्चित है कि परशुरामदेव जी के निर्वाण के १०-१२ वर्ष पश्चात् ही उनकी समाधि का निर्माण हुआ होगा अतः सं० १६८० वि० के आस-पास उनका अन्तर्धान मानना चाहिए। वे महाकवि तुलसीदास जी के सम-सामयिक थे[२]।

सलेमाबाद के वर्तमान प्रबन्धाधिकारी श्री वियोगी विश्वेश्वर ने परशुरामदेव जी कृत परशुरामसागर के दोहों का संकलन संवत् १९९९ वि० में प्रकाशित किया था। उसकी भूमिका में उन्होंने परशुरामसागर की चार प्रतियों की प्राप्ति का उल्लेख किया है। इनमें से एक प्रति में उसका रचना-लिपि काल सं० १६७७ वि० दिया हुआ है जिससे भी उक्त सं. में (१६८० के आस-पास) उनके निर्वाण-काल की पुष्टि होती है[3]। साम्प्रदायिक उनका जन्मकाल १५०० वि० के लगभग मानते हैं जो असंगत प्रतीत होता है[४]।

परशुरामदेव जी की रचनाएँ—

मिश्रबन्धुविनोद में उनके द्वारा रचित पाँच ग्रन्थों का उल्लेख है परन्तु साम्प्रदायिकों में केवल परशुरामसागर की ही प्रसिद्धि है। परशुरामसागर में ही मिश्रबन्धुओं द्वारा उल्लिखित पाँचों ग्रन्थों का समावेश है।

'परशुरामसागर' एक विशाल ग्रन्थ है। यह उनकी समस्त वाणियों का संग्रह है। इसमें प्रधानतः नीति, सदुपदेश, सत्संग, सन्त-स्वभाव-निरूपण, माया का त्याग, गृहस्थ-धर्म, भगवद्-शरणागति, संन्यास, गेरुआवस्त्र धारण, कलियुग, दास-भाव, ज्ञान, कर्म, गुरु-सेवा आदि अनेक धार्मिक विषयों पर रचनएँ हैं। परशुरामदेव जी के व्यक्तित्व और साहित्यिक योगदान पर इस निबन्ध में अलग से विचार किया गया है।

१—भागवत सम्प्रदाय, बल्देव उपाध्याय, पृष्ठ २३०।
२—,, वही वही पृष्ठ २३०।
३—परशुरामांक, वियोगी विश्वेश्वर, पृष्ठ ८।
४—युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ १३, ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य।

श्री हरिवंश देवाचार्य—

परशुरामदेव जी के पश्चात् उनके शिष्य श्री हरिवंशदेव जी सलेमाबाद पीठ की आचार्य गद्दी पर सुशोभित हुए। उन्होंने अपने गुरुदेव की कीर्ति को अधिक प्रकाशित किया[1]। संवत् १६८६ वि० में उन्होंने अपने गुरुदेव की समाधि और उनकी गुफा के निकट परशुराम-द्वारे का निर्माण कराया। इनके समय से सलेमाबादपीठ में राजसी ठाठ, पालकी, हाथी, घोड़े, दलबल, भृत्यवर्ग आदि का स्थायी रूप से साधन रखना प्रारम्भ हो गया[2]। संस्कृत में आपके द्वारा रचित कुछ स्तोत्र उपलब्ध हैं।

श्री नारायणदेवाचार्य—

उच्चकोटि के पण्डित थे। हरिवंशदेव जी के पश्चात् वे परशुरामपुरी की गद्दी पर आसीन हुए। श्री नारायणदेवाचार्य का जयपुर, जोधपुर एवं उदयपुर नरेशों द्वारा भारी सम्मान हुआ। इनके द्वारा उन राज्यों में सम्प्रदाय के अनेक स्थान, मठ-मन्दिरों की स्थापना हुई।

नारायणदेव जी ने अपने गुरुदेव श्री हरिवंशदेवाचार्य का स्मृति महोत्सव श्री गिर्राज पर्वत की तलहटी में गोविन्दकुण्ड के निकट सम्पन्न कराया था। वह एक अभूतपूर्व पर्व था जिसमें लाखों की संख्या में वैष्णव एकत्र हुए थे। 'जयसाहिसुजसप्रकाश' में कविराज मण्डन ने इस उत्सव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इसमें लाखों वैष्णव आये और दस-बीस लाख रुपया व्यय हुआ[3]। ये पण्डित और कवि भी थे इन्होंने संस्कृत में एक 'आचार्य-चरित' लिखा है जिसमें निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों का वर्णन है। इनके द्वारा रचित कुछ संस्कृत स्तोत्र भी उपलब्ध हैं।

श्री नारायणदेवाचार्य जी के शिष्य—

श्री नारायणदेव जी के शिष्यों में श्री वृन्दावदेव और श्री हरिदास जी प्रमुख थे। श्री वृन्दावनदेव जी सं १७५४ में सलेमाबाद की गद्दी पर आरूढ़ हुए और सं०१७५६ वि० में जयपुर-नरेश की प्रार्थना पर उनके यहाँ पधारे। श्री हरिदास जी सं० १७८१ के लगभग उदयपुर में विराजे। वहाँ उन्होंने अपने ठाकुर नवनीतराय जी की प्रतिष्ठा की।

१—जयसाहि सुजसप्रकाश, छन्द ३६, मण्डन कविकृत।

२—सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक, पृष्ठ २२१।

३—परशुदेव महाराज के, भये देव हरिवंश।
तिनके नारायण भये, देव देव अवतंश॥
गोविन्द गोवर्द्धन निकट, राजत गोविन्द कुण्ड।
तँह लाखन भेले किये, हरिदासन के झुण्ड॥
किय नारायणदेव ने मेला जग जस छाय।
धन जामें दस बीस लख, दीन्हों तुरत लगाय॥
जयसाहि सुजसप्रकाश, पृष्ठ ५, मंडन कवि कृत।

उनके दो शिष्य श्री ईश्वरीदास एवं प्रयागदास थे। श्री ईश्वरीदास को सं० १८०६ में कुण्ड (उदयपुर) की गद्दी प्राप्त हुई और श्री प्रयागदास उदयपुर के स्थल नामक स्थान के महन्त बने।

श्री वृन्दावनदेवाचार्य--

श्री नारायणदेवाचार्य के शिष्यों में श्री वृन्दावनदेव परम प्रतापी एवं अपने युग के प्रभावशाली महापुरुष थे। निम्बार्क सम्प्रदाय में अनेक महात्मा ऐसे हुए हैं जिन्होंने धर्म-रक्षा के लिए सार्वजनिक रूप से सतत प्रयास किये हैं। श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य ने खिलजी वंश के शासनकाल में धार्मिक क्रान्ति करके सहस्रों हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन करने से बचाया था। श्री स्वभूरामदेव और श्री कन्हरदेव ने इसी प्रकार की क्रान्ति पञ्जाब में की थी और श्री परशुरामदेव जी ने पुष्कर क्षेत्र (राजस्थान) में विधर्मियों का आतंक दूर किया था जिसकी लोकप्रसिद्धि अब भी चली आ रही है[1]। श्री वृन्दावनदेवाचार्य का व्यक्तित्व उपरोक्त महात्माओं से कुछ विशेषता रखता है। उनके समय तक पहुँचते-पहुँचते निम्बार्क के अतिरिक्त अन्य वैष्णव सम्प्रदाय भी प्रभावशाली हो चुके थे। इनके आचार्य एवं मठ-मन्दिरों के स्थानधारी महन्त देश के धार्मिक जीवन को प्रभावित करने लगे थे। राजस्थान में श्री कृष्णदास पयहारी ने शैवों को पराजित कर गलता की गद्दी पर अपना अधिकार उनसे लगभग सौ वर्ष पूर्व जमाया था। वे रामानन्दी थे और आमेर के महाराज पृथ्वीराज एवं उनकी रानी बालाबाई पर उनका अच्छा प्रभाव था[2]। श्रीकृष्णदास पयहारी के बढ़ते हुए प्रभावस्वरूप इसी सम्प्रदाय के एक दूसरे महापुरुष श्री बालानन्द जी हुए। ये श्री रामानन्द जी के शिष्य श्री सुरसुरानन्द जी की परम्परा में श्री ब्रजानन्द जी के शिष्य थे। जयपुर की बसावट होने के समय ही बालानन्द जी के मंदिर की नींव पड़ चुकी थी। कालान्तर में राजस्थान विशेषकर जयपुर राज्य की धार्मिक परम्पराओं एवं उसकी विभिन्न परिस्थितियों के निर्माण में बालानन्द जी का विशेष हाथ रहा। बालानन्द जी के उत्थानकाल में जयपुर और उसके आस-पास के प्रदेश में शैवों का बड़ा जोर था और दशनामियों के अत्याचार इतने बढ़ गये थे कि वैष्णवों को ढूँढ़-ढूँढ़कर उनका नित्य वध करना उनके धार्मिक कृत्यों का एक प्रमुख अंग बन गया था[3]। इस आतंक के कारण उत्तर भारत में प्रमुखतः राजस्थान के आस-पास बड़ी अशांति फैली हुई थी। वहाँ का धार्मिक जीवन संकट में पड़ गया था। वैष्णव-धर्म के अस्तित्व की इस प्रदेश में किस प्रकार रक्षा हो यह एक विचारणीय समस्या थी। इसके अतिरिक्त मुसलमानों की विजय के साथ राजस्थान में उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा था। वहाँ वे अपने धार्मिक

१—इस निबन्ध की पृष्ठ संख्या ५१।
२—आमेर के राजा पृथ्वीराज, सार्वजनिक पुस्तकालय जयपुर के संग्रह से।
३—बालानन्द जी का मन्दिर, जयपुर पुरातत्व मन्दिर के संग्रह से।

प्रचार और प्रसार के लिए भरसक प्रयत्न कर रहे थे। जिन हिन्दू नरेशों की मुसलमान शासकों से सन्धि हो जाती थी अथवा जिन्होंने उनकी वश्यता स्वीकार कर ली थी उनकी रियासतों में मुसलमानी धर्म के प्रवेश के लिए प्रायः द्वार खुल ही जाता था।

इस प्रकार वैष्णव धर्म पर सब दिशाओं से काले बादल उमड़कर आ रहे थे। निदान सभी वैष्णव सम्प्रदायों के सम्मिलित प्रयास से ब्रह्मपुरी (जयपुर के पास) में एक धर्म-सम्मेलन हुआ जिसके संयोजक श्री पद्माकरपुण्डरीक थे। इस संकट के निवारण में राजस्थान के नरेशों का भी सहयोग था। वहाँ के नौ राजाओं ने उक्त सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर इस संगठन को बल प्रदान किया। गलता के आचार्य श्री बालानन्द जी और सलेमाबाद निम्बार्क गद्दी के आचार्य श्री वृन्दावनदास (उनका उस समय का नाम था) का इस सम्मेलन में प्रमुख हाथ रहा[1]। सभी उपस्थित लोगों ने वैष्णव धर्म की महानता को स्वीकार करते हुए उसकी रक्षा के उपायों को अपनाने का दृढ़ संकल्प किया। सम्मेलन में निश्चय हुआ कि तात्कालिक धर्म संकट के निवारणार्थ त्यागी वैरागी वैष्णवों की एक सेना तैयार की जाय और वैष्णव सैनिक-विद्या में निपुण किये जाँय[2]।

१—बालानन्द जी का मन्दिर डा० जगन्नाथ शर्मा, जयपुर।

२—सर्वेश्वर वर्ष ५, अंक ८, वैष्णव अनीअखाड़े पृष्ठ १२।

सर्वेश्वर के सम्पादक ने उसके वर्ष ४ अंक ८ वैष्णव अनी अखाड़ों की चर्चा करते हुए अपने लेख में इस सम्मेलन के सं० १७६१ में होने का उल्लेख किया है। उनके अनुसार यह स्थान (ब्रह्मपुरी) आगे चलकर गणेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने इस सम्मेलन के सभापति श्री वृन्दावनदेव जी माने हैं जो जयपुर राज्य से प्राप्त लेखों से पुष्ट नहीं होता। जयपुर के लेखों के अनुसार वे द्वितीय सम्मेलन के सभापति थे। जो कुछ भी हो, वृन्दावनदेव जी का दोनों सम्मेलनों में महत्वपूर्ण योग था और वे वैष्णव धर्म-रक्षा के हेतु सदा तत्पर रहते थे।

सर्वेश्वर में उक्त विवरण इस प्रकार है—

सुना जाता है कि सं० १५५० के लगभग किसी कुम्भ के अवसर पर नंगे होकर तीर्थों में स्नान करने वाले शैव-शाक्त गुसाइयों को वैष्णवों ने रोका कि तुम ऐसा शास्त्र-विरुद्ध आचरण न करो। तीर्थ-जलाशयों में नग्न होकर स्नान करना निषिद्ध है। किन्तु वे चिढ़ बैठे और अकेले-दुकेले फिरने वाले वैष्णवों को मारने लगे। उनमें से किन्हीं 'लच्छीगिरि' 'भैंरोंगिरि' गुसाईं ने प्रतिदिन कम से कम पाँच वैष्णवों को मार कर ही भोजन करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। उत्तर भारत का यह भयंकर आतंक सम्भवतः दक्षिण भारत तक नहीं पहुँच पाया। इसीसे अनुमान होता है कि श्री रामानुज, श्री मध्व एवं बारकरी आदि दक्षिण के सम्प्रदायों वाले वैष्णव इन अनी अखाड़ों में सम्मिलित नहीं हो पाये। उस समय राजस्थान में वैष्णवाचार्यों का अच्छा प्रभाव था और जयपुर बस जाने के कारण सभी सम्प्रदायों के आचार्य भी वहाँ विराज रहे थे। अतः जब आर्तनाद के साथ यह

वैष्णव सम्प्रदायों के इस प्रथम सम्मेलन में त्यागी वैरागी साधुओं की सेना संगठित करने का निश्चय तो हो गया परन्तु सम्प्रदायों के व्यक्तिगत महत्व की रक्षा एवं मर्यादाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट नीति का निश्चय न हो सकने के कारण इस सम्मेलन का निश्चय न तो आन्दोलन का रूप ही ले सका और न वे लोग मिल-जुलकर अन्य प्रकार से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके। सम्प्रदायों की आचार सम्बन्धी अपनी मर्यादाएँ थीं। उन सबको एक साथ किसी पूर्व निश्चय के बिना छोड़ना अथवा थोड़े हेर-फेर के साथ उनका पालन करना किसी को स्वीकार न था। आवश्यकता इस बात की थी कि पूर्ववत् पुनः एक ऐसा ही साम्प्रदायिक सम्मेलन हो जिसमें आचार सम्बन्धी मर्यादाओं का विश्लेषण करके सभी को सुलभ कुछ नैमित्तिक आचार निश्चित कर लिए जाँय जिनका पालन करना सभी साम्प्रदायिकों के लिए अनिवार्य हो। इसी उद्देश्य को लेकर वैष्णवों की एक दूसरी सभा गालवाश्रम, तोरावाटी में बुलाई गई। इसके सभापति श्री वृन्दावनदेव जी निर्वाचित हुए थे। तोरावाटी के राजपूतों ने सामयिक परिस्थितियों का अनुभव करते हुए उदारतापूर्वक सम्मेलन में सहयोग दिया। सम्मेलन का काम गणपति जी की स्थापना से प्रारम्भ हुआ इस कारण इस स्थान का नाम पीछे 'गणेश्वर' पड़ गया[1]। कहा जाता है कि इस सभा में ऐसी ५२ भारी प्रतिज्ञाएँ थीं, जिनको सभी सम्प्रदायों के नैमित्तिक आचार के रूप में वहाँ पर उपस्थित आचार्यों ने एक मत से निश्चय किया था। इन प्रतिज्ञाओं में १३ निम्बार्क सम्प्रदाय की थीं जैसे युगल तुलसी-माला धारण करना, गोपीचन्दन का तिलक लगाना, एकादशी में ४५ घड़ी का मान अर्थात् 'कपाल-वेध' मानना, दण्डवत् प्रणाम की विधि आदि।

उपरोक्त विवरण से वृन्दावनदेव जी के महान व्यक्तित्व की कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। वे उस काल में सफल होने वाले धार्मिक नेताओं के गुणों से परिपूर्ण थे।

समस्या वहाँ पहुँची तो सभी ने एक सभा करने का निश्चय किया। जयपुर राज्य की तवारीख और वहाँ के पुरातत्व संग्रहालय के लेखों से पता चलता है कि सर्वप्रथम श्री निम्बार्काचार्य पीठाधिपति श्री वृन्दावनदेवाचार्य जी के सभापतित्व में जयपुर से उत्तर की ओर लगभग ३० कोस की दूरी पर एक मैदान में वैष्णवों की महती सभा हुई। इस सभा का श्रीगणेश सं० १७९१ में गणेश्वर नामक स्थान पर हुआ। वहाँ से २-३ कोस की दूरी पर उत्तर में जो द्वितीय बैठक हुई, उसका नाम 'निम्बार्क स्थान' पड़ा जो कि आजकल 'नीम का थाना' नाम से अच्छा कस्बा बन गया है। यहाँ की निजामत सवाई रामगढ़ की निजामत कहलाती थी, जैसा कि जयपुर राज्य के कागजातों में उल्लेख है। इस बैठक में एक साथ मिलजुलकर रहने के लिए कुछ ऐसे साधनों और आचरणों का समन्वय किया गया जिन्हें चारों सम्प्रदायों ने स्वीकार किया था।

सर्वेश्वर वर्ष ४, अंक ८, पृ० १०।

१—बालानन्द जी का मन्दिर, डा० जगन्नाथ शर्मा, पुरातत्व मन्दिर जयपुर।

वैष्णव अनी-अखाड़ों के द्वारा मध्यकालीन युग में स्वधर्म-रक्षा में जितना कुछ सहयोग मिला उसका बहुत कुछ श्रेय श्री वृन्दावनदेव जी को है।

जीवन-चरित्र—

साम्प्रदायिक लेखकों ने सर्वमत से वृन्दावनदेव जी को गौड़ ब्राह्मण-कुलोत्पन्न कहा है। उनका आविर्भाव राजस्थान के सराय-सूरपुरा ग्राम में हुआ ऐसा प्रसिद्ध है। 'निम्बार्क-माधुरी' के सम्पादक ने आपका सं० १७०० के लगभग सम्प्रदाय में दीक्षित होना लिखा है[१]। सलेमाबाद पीठ के पत्र-पत्रकों में एवं जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, किशनगढ़, भरतपुर उन सभी स्टेटों की इतिहासमाला में जहाँ निम्बार्क सम्प्रदाय की चर्चा है इनके नाम का सं० १७३५ से १७९७ तक उल्लेख मिलता है[२]। आप १७५४ से १७९७ तक उक्त पीठ में सिंहासनारूढ़ रहे। आपने ४३ वर्ष तक त्याग, तपश्चर्या, विद्वत्ता और सरलता से लोक-हित-चिंतन किया। जयपुर, उदयपुर, किशनगढ़, जोधपुर आदि के नरेशों ने आपको सदैव पूज्य दृष्टि से देखा और धर्म एवं सम्प्रदाय के लाखों अनुयायी सेवक बने हुए उनके निर्देशों का पालन करते रहे। वृन्दावनदेव जी संवत् १७९७ में स्वर्गलोक[३] सिधारे। उनकी गद्दी पर उनके शिष्य जयरामदास शेष को कई राजाओं ने बिठाना चाहा। शेष जी केवल ३ वर्ष संवत् १७९७ से १८०० तक सिंहासनारूढ़ रहे। किन्तु उनके विरुद्ध निरन्तर संघर्ष होता रहा और अन्त में श्री गोविन्ददेवाचार्य जी परशुरामपुरी के आचार्य पद पर सुशोभित हुए।

श्री वृन्दावनदेव जी का राज-परिवारों से सम्बन्ध—

महाराज जयसिंह द्वितीय विष्णुसिंह के पश्चात् अजमेर की गद्दी पर बैठे। उन्होंने सं० १७५६ से १८०० वि० तक राज्य किया[४]। उनके गद्दी पर बैठने के पूर्व ही वृन्दावन-देव जी की बहिन जमुनाबाई का आमेर आना-जाना प्रारम्भ हो गया था और वे भी आमेर पधारे थे[५]। अतः राजा होने से पूर्व जयसिंह उनसे प्रभावित हो चुके थे। शासक होने पर वे उन्हें गुरुवत् मानने लगे। इन्हीं महाराज ने जयपुर नगर की नींव डाली जिसकी बसावट की योजना बङ्गाल के एक विद्वान् विद्याधर ने बनाई थी। वृन्दावनदेव जी ने भी इस सम्बन्ध में सत्परामर्श दिया था[६]। जयपुर की नींव सं० १७८४ वि० माघ कृष्णा ५ बुधवार के शुभ समय में लगाई गई और कुछ दिनों पश्चात् वहाँ अनेक विद्वान्, कवि, धर्माचार्य, सूर-सामन्त, व्यवसायी, श्रेष्ठी-वर्ग निवास करने लगा। इसके कुछ ही दिनों पश्चात् उक्त

१—निम्बार्क माधुरी, सं० बिहारीशरण ब्रह्मचारी, पृष्ठ १४३।
२—गीतामृत गंगा भूमिका भाग, पृष्ठ सं० (क) सं० श्री ब्रजवल्लभशरण।
३—श्री सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक, पृष्ठ २२३।
४—आमेर का इतिहास, पब्लिक लाइब्रेरी, जयपुर।
५—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, निम्बार्क शोध मंडल, वृन्दावन के संग्रह से।
६—मंडन कवि कृत, 'जयसाहि सुजसप्रकाश' की भूमिका, पृष्ठ ९।

महाराज ने राजसूय यज्ञ किया। इस यज्ञ में श्री वृन्दावनदेव जी को प्रधान आचार्य पद पर सम्मानित किया गया। कहते हैं कि इस यज्ञ के पश्चात् कुछ लोगों के कहने से नरेन्द्र ने वृन्दावनदेव जी से गृहस्थ होने के लिए कहा जिसे आचार्य ने स्वीकार न किया। उनके सलेमाबाद लौट जाने के अनन्तर कुछ ही दिनों पश्चात् निम्बार्क सम्प्रदाय की जयपुर स्थित गद्दी पर वृन्दावनदेव जी के शिष्य जयराम शेष बिठाये गए जो अपने समय के प्रकांड पण्डित थे और गृहस्थ थे। उनके अभिषेक की घटना सं० १७९७ में हुई[१]। वृन्दावनदेव जी इसके पूर्व ही परमधाम पधार चुके थे[२]।

महाकवि आनन्दघन वृन्दावनदेव जी के शिष्य थे उन्होंने उनके सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि ये अपने से विमुख रहने वालों का दमन करते थे, सर्वथा निर्भीक थे, वाक्चातुर्य से पूर्ण थे और सुन्दर रचना करते थे। वे अपनी बात पर दृढ़ रहकर उसे विजय करके मानते थे। वे दयावान्, दीनों को शरण देने वाले और उनके सब प्रकार के कष्टों का निवारण करने में सफल होते थे। उनकी आचार्य-गद्दी अनेक प्राणियों को सन्तोष प्रदान करने के लिए ही थी[3]।

वृन्दावनदेव जी की रचनाएँ--

निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि वृन्दावनदेव जी ने संस्कृत एवं राजस्थानी तथा व्रजभाषा में कई रचनाएँ कीं परन्तु इस समय उनकी 'गीतामृतगङ्गा', 'दीक्षामंगल' एवं 'युगल परिवार चन्द्रिका' आदि ही उपलब्ध हैं। गीतामृतगङ्गा एक वाणी ग्रन्थ है जिसमें कवि ने विविध विषयों पर लिखा है। उसमें काव्यधारा मंदाकिनी की भाँति अबाध गति से बहती है जिसे कवि ने चौदह घाटों में बाँधने का प्रयास किया है[४]। ग्रन्थ-रचना प्रधानतः पदों में हुई है परन्तु अन्य छन्दों का भी अभाव नहीं है। कवि ने यथावसर दोहों का यथेष्ठ प्रयोग किया है और विभिन्न प्रकार के सवैये भी पदों के बीच-बीच पाये जाते हैं जिनको भी कवि ने पद संज्ञा देकर ही सम्बोधित किया है। गीतामृतगङ्गा भाषा, भाव, काव्य-सौन्दर्य, शैली, रस-प्रवाह सभी दृष्टियों से प्रौढ़ रचना है जो कवि-जीवन की परिपक्व क्षमता एवं अनुभूति का प्रतिफल है। कवि ने इस ग्रन्थ में कहीं भी सामयिक घटनाओं का

१—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, संग्राहक निम्बार्क शोधमंडल, वृन्दावन।

२—कृष्णगढ़ राज्य के इतिहास के अन्तर्गत राजकुमार सावन्तसिंह का इतिहास।

३—सदा कृष्ण गुन कथन रत, मत मण्डन जयरूप।
विमुखनि खंडन बचन बर, रचना तुण्ड अनूप ॥
दीनशरन दायक, करुन, हरत अखिल दुख दोष।
अब तिन पाट प्रसिद्ध जग, करन जीव परितोष ॥

परमहंसवंशावली, घनानन्द कवि कृत, पृष्ठ ६१०, सम्पादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

४—गीतामृतगंगा की भूमिका, सम्पादक ब्रजवल्लभशरण, पृष्ठ ग।

वर्णन नहीं किया है और न ग्रन्थ के रचना-काल का ही कोई निर्देश है जिससे समय सम्बन्धी संकेत मिलता[1]।

श्री वृन्दावनदेव संगीत के विशेषज्ञ थे। उनका विभिन्न राग-रागनियों एवं संगीत-शास्त्र पर अच्छा अधिकार था। कहा जाता है कि उन्होंने कृष्णगढ़ के राजकुमार सावंतसिंह एवं घनानन्द जी को संगीत की शिक्षा भी दी थी[2]। अतः गीतामृतगङ्गा में काव्य के अतिरिक्त संगीत की भी प्रधानता है। उसका चतुर्दश-घाट तो प्रमुखतः उनके संगीत-ज्ञान के प्रदर्शन के लिए ही लिखा गया है। साम्प्रदायिक मर्यादानुसार इस ग्रन्थ में श्री राधा-कृष्ण की दाम्पत्यलीला का प्रतिपादन है परन्तु बाल, पौगंड एवं कैशोर-लीलाओं का भी वर्णन हुआ है। कवि ने राधा जी के स्वकीया भाव पर विशेष बल दिया है। वैसे परकीया भावान्तर्गत दूती-कार्य, मान, विरह, संयोग वर्णन आदि विषयों का भी समावेश है परन्तु विशेषता स्वकीया भाव की ही मानी गई है। उपरोक्त विषयों को अपनी वाणी में स्थान देना सामयिक परिस्थितियों का प्रभाव ही कहना चाहिए।

गीतामृत-गंगा का प्रतिपाद—

गीतामृतगङ्गा गीत छन्दों का मुक्तक काव्य है जिसमें अनेक विषयों का प्रतिपादन है। कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अपना काव्यगत दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। कवि के अनुसार सच्चिदानन्द भगवान् ही रस-स्वरूप है। श्री राधा उसी ब्रह्म की आल्हादिनीशक्ति हैं जो एकाकी नहीं रहती वरन् प्रत्येक समय उनके साथ रमण करती हैं। भगवान् मानो मूर्तिमान श्रृङ्गार ही हैं जो रसपोषक शक्ति के साथ ब्रज में विहार करते हैं। मुनीन्द्र नारद ने इसी ब्रज-रस को,जो ब्रह्मानन्द का सहोदर भी है, सबसे पहले आनन्द प्राप्त किया। इस रस में स्थावर, जंगम, देव-गंधर्व सभी को मोहित करने की शक्ति है। जो प्राणी इस रस में मुग्ध नहीं होता वह पशु से भी गयाबीता है। श्री मद्भागवत में भी इसी रस का प्रतिपादन किया गया है परन्तु कवि ने कहा है कि मैंने अन्य अनेक शास्त्रों का मंथन कर एवं श्री श्यामाश्याम की कृपा का वरदान लेकर गङ्गा में उसी रस का प्रतिपादन किया है[3]। उसने बाल्यावस्था को भी तीन भागों में विभाजित किया है। बाल्यावस्था, पौगण्ड एवं किशोरावस्था। बाल्यावस्था के वर्णन का प्रारम्भ श्रीकृष्ण की बधाई से हुआ है। नन्द जी के यहाँ महान आनन्द है। माँ यशोदा यमुना-पूजन करने के लिए सखी-समाज सहित जाती हैं और यथाविधि वरुण देवता को सन्तुष्ट करती हैं। तदनन्तर श्रीकृष्ण जी की शिशु-लीलाओं का वर्णन है[4]। शिशु कृष्ण का पैर का अँगूठा पान करना, उनका पालने

१—**सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक** पृष्ठ २२४।
२—**सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक** पृ० २२२।
३—**गीतामृत गंगा, वृन्दावनदेव जी कृत** पृ० १।
४—**वही वही** पृ० ३।

में झूलना एवं माता का अत्यन्त प्रसन्न होते हुए उनको लोरी गाते हुए झुलाना, तदनन्तर उनका आँगन में खिलवाड़ करना, माता का चिन्तनपूर्वक उनके लिए सद्य नवनीत लिए कलेवा करने की अभिलाषा करते रहना, पुनः गोपाल की वर्षगाँठ और उनके कुछ बड़े होने पर बाल-गोपालों सहित माखन-चोरी के लिए सूने घरों में घुसना और भाँड़ों को तोड़कर दधि लिपटे मुख से निकल भागने का प्रयास करना आदि बाल लीलाओं का सुन्दर वर्णन है। यहीं तक नहीं श्रीकृष्ण जी की सगाई चढ़ने का अवसर शीघ्र ही आता है क्योंकि उसका बढ़ावा देकर यशोदा जी उन्हें अच्छे वस्त्राभूषण पहनाने में सफलीभूत होती हैं।

श्रीकृष्ण की भाँति श्री वृषभानुदुलारी का जन्मोत्सव, उनकी जन्मगाँठ एवं आस-पास के ग्रामों की स्त्रियों का उनके दर्शन करने के लिए आना सुन्दर रूपेण वर्णित हुआ है। श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य ने अजब ठगोरी की है सब कोई एक स्वर से यही कहती प्रतीत होती हैं[१]।

"अरी हारी मो पै डारी सखी कछु मोहनी, बनि सांवरि सूरति सोहनी"

गोदोहन करते समय, पनघट पर जाते समय, यमुना के मार्ग में गमन करते हुए उनकी गोपियों से प्रायः भेंट हो जाती है और उनकी छेड़छाड़ गोपियों को आनन्ददायिनी है। चीर-हरण लीला में इन सभी लीलाओं का समाहार हो जाता है।

गोपियों के अनेक गुणों से पूर्ण सौन्दर्य, हावभाव, वस्त्राभूषण, शृङ्गारादि के वर्णन कलापूर्ण लम्बे छन्दों में, अलङ्कार-भावादि से परिपूर्ण कवि ने किए हैं। सूर की गोपियों के स्वर में स्वर मिलाकर यहाँ भी सखियाँ इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं[२]।

नेह निगोड़े को पैंड़ो ही न्यारो।
जो कोई होय के आँधौ चलै सु लहे प्रिय वस्तु चहूँधा उज्यारौ॥
सो तौ इतै उत भूल्यौ फिरै न लहै कछु जो कोउ होय अँख्यारौ।
'वृन्दावन' सोई याको पथिक है जापै कृपा करै कान्हर कारौ॥

और उन्हें केवल यही पछतावा रहा कि विधाता ने उनकी आँखों को पङ्ख क्यों नहीं दिये।

आँखिन पांखि दई न दई किन।
प्रीतम बदन नलिन मकरन्दहिं मधुप ज्यों पीपी आवति प्रतिदिन॥
क्यों हूँ चैन परै दिन रैन सुमैन दहै तनकों छिन ही छिन।
'वृन्दावन' प्रभु विरह वसाई मोहि करी जकरी बकरी इन[३]॥

१—गीतामृत गंगा, पृ० ६, पद २०।
२—गीतामृत गंगा, चतुर्थ घाट छन्द संख्या ७०।
३—गीतामृत गंगा, चतुर्थ घाट छन्द सं० ७४।

श्री वृन्दावनदेव जी का प्रभाव विस्तार—

वृन्दावनदेव जी ने अपने समय के अनेक ऐतिहासिक, धार्मिक एवं साहित्यिक पुरुषों को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित किया था। श्री सवाई जयसिंह द्वितीय, श्री जयराम शेष, महाकवि घनानन्द, राजकुमार सावन्तसिंह जो आगे चलकर कृष्णगढ़-नरेश बने एवं प्रसिद्ध कवि नागरीदास हुए, उनके शिष्य थे। उन्होंने कृष्णगढ़ राज्य-परिवार को बहुत अधिक प्रभावित किया[१]।

यहाँ के राजकुल का श्री वृन्दावनदेव जी के चरणों में अतिशय अनुराग बढ़ा। महाराज श्री राजसिंह, राज-महिषी श्री बाँकावती, राजकुमारी सुन्दरिकुँवरि ही नहीं इनके परिवार के दास-दासी भी विशिष्ट भक्त एवं कवियत्री बने। श्री बनीठनी जी का नाम इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। राजकुमारी सुन्दरिकुँवरि ने अपनी रचनाओं में श्री वृन्दावनदेव जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है[२]।

जयपुर के प्रसिद्ध कवि मण्डन ने वृन्दावनदेव जी की प्रशंसा करते हुए उनमें सवाई जयसिंह की निष्ठा रखने का वर्णन किया है और देवर्षियों द्वारा उनके गुणों की दाद देने का उल्लेख किया है[3]।

श्री घनानन्द जी ने वृन्दावनदेव जी को अपने गुरु-रूप में सर्वश्री संयुक्त, पृथ्वी-मण्डल का शिरोमणि और वृन्दावनधाम के तुल्य महिमावान कथन किया है[४]।

कृष्णगढ़ राज्य के चित्रकोष से वृन्दावनदेव जी के दो चित्र संग्रह किये गए हैं जो श्री निकुञ्ज वृन्दावन के संग्रहालय में संग्रहीत हैं। इन चित्रों में से एक की प्रशस्ति में निम्नलिखित अंकित किया गया है[५]।

चित्र नम्बर १४८ "हरिभक्ति निवास, विद्याप्रकाश, महामहन्त स्वामी श्री वृन्दावन-देव जी महाराज सलेमाबाद स्थल"।

१—गीतामृत गंगा की भूमिका पृष्ठ (ख)

२— वही वही पृष्ठ वही।

३—जयसाहि सुजसप्रकाश, मण्डन कविकृत, पृष्ठ ५ छन्द सं० ४३।

४— जग बोहित मोहित प्रगट, हरि विनोद निज धाम।
अवनी मनि श्री युत सदा, वृन्दावन अभिराम॥
बिसे बीस महिमा तिन्हें, ताहि कोस है बीस।
सदा बसौ नीके लसौ, कृष्ण ईस मो सीस॥

परमहंसवंशावली, घनआनन्द कृत, पृष्ठ ६१०, छन्द सं०४४, ४५, सं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र।

५—निम्बार्क शोध-मण्डल संग्रहालय, वृन्दावन में संग्रहीत चित्र।

दिनकर लों जगमग प्रताप जशजक्त अखंडित।
रस भाषा कविराज, महा दिग्विजयी पंडित॥
अति निबह्यौ ऐश्वर्य, भूप भये आज्ञाकारी।
अन्त समय लौं परम धर्म, मरजादा पाली॥
श्री निम्बादित्य पद्धति बहे, हरिव्यासदेव गादी स्थित।
श्री वृन्दावनदेव महन्त से दिग्गज भये न होंहि छित॥

श्री जयरामदास शेष—

श्री जयरामदास शेष का सलेमाबाद की गद्दी के लिए सं० १७९७ में मेड़ता में अभिषेक हुआ था जिसमें सवाई महाराज जयसिंह के प्रभाव से राजस्थान के कई राजाओं ने भाग लिया था और भेंट भी प्रस्तुत की थी। श्री जयराम शेष महाराष्ट्र थे। इस कारण जैसे ही महाराज जयसिंह का स्वर्गवास हुआ शेष जी को सलेमाबाद की गद्दी से हटना पड़ा[1]। ये काशी के रहने वाले, वेद-शास्त्रों के ज्ञाता, प्रकांड पण्डित, यशस्वी और विद्वान थे। कविवर घनानन्द जी श्री वृन्दावनदेव जी के शिष्य थे परन्तु शेष जी में भी पूज्य-भाव रखते थे। उन्होंने अपने गुरुदेव की प्रशंसा करते हुए शेष जी की विशेषता का भी वर्णन किया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि सम्प्रदाय की रीति उन्हें शेष जी से ही ज्ञात हुई थी[2]।

शेष जी के ३ वर्ष के (१७९७ से १८००) अधिकार काल को सलेमाबाद आचार्य पीठ के इतिहास में सम्मिलित नहीं किया है[3]।

श्री गोविन्ददेवाचार्य--

श्री गोविन्ददेवाचार्य श्रेष्ठ महात्मा, विद्वान और साधननिष्ठ पुरुष थे। उन्होंने सं० १८०० से १८१४ तक बड़ी योग्यता के साथ आचार्य पद का निर्वाह किया। इस समय कृष्णगढ़ में महाराज बहादुरसिंह का शासनकाल था। उनकी गोविन्ददेव जी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी।

१—किशनगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, संग्राहक निम्बार्क शोधमण्डल, वृन्दावन।

२—काशी वासी शेष जन, निगमागमन प्रवीन।
निम्बादित्य अनुगम सबैं, परम पुनीत कुलीन॥
तिनको बस प्रसंस जग, जगमग ज्यों द्विजराज।
गन मण्डित मण्डित बिबुध, सोभित सदा समाज॥
तिनकरि यह निहचय करी, परम्परा की रीति।
स्मृति सुमृति पुरान की कथा पुरातन नीति॥
परमहंसवंशावली, घनानन्द कृत, पृष्ठ ६११।

३—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, निम्बार्क शोधमण्डल, वृन्दावन के संग्रह से।

रचनाएँ—

गोविन्ददेवाचार्य सत्कवि भी थे। उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे बड़ी सरस और भावपूर्ण रचनाएँ किया करते थे जिनका जन साधारण पर बहुत अच्छा प्रभाव होता था[१]। उनके 'जयति चतुर्दश' आदि अनेक फुटकर पद उपलब्ध हैं, जिनमें श्री राधारमण जी, सम्प्रदाय के आचार्य वर्ग, श्री राधिका स्वामिनी जी प्रभृति की वन्दना की गई है। पदों की भाषा मधुर परन्तु संस्कृत के तत्सम शब्दों से पूर्ण ब्रजभाषा है।

गोविन्दशरणदेवाचार्य—

श्री गोविन्ददेवाचार्य के परलोक गमन के अनन्तर उनके शिष्य श्री गोविन्दशरण देवाचार्य आचार्य पीठासीन हुए[२]। वे सं० १८१४ से १८४१ वि० तक आचार्य रहे। जिस वर्ष श्री गोविन्दशरण जी सलेमाबाद (परशुरामपुरी) की गद्दी पर बैठे उसी वर्ष राजा सरदारसिंह कृष्णगढ़ाधीश हुए[३]। इनके समय में सलेमाबाद पीठ में शेष जयरामदास जी के समर्थकों ने षडयन्त्र किये परन्तु उनके प्रयास सफलीभूत न हो सके।

उसी के कुछ समय पश्चात् (सं० १८२३ वि० में) उन्होंने ठाकुर राधामाधव जी को सलेमाबाद में पधराया। राजा साहब दर्शनार्थ वहाँ स्वयं भी पधारे और २२४ बीघा भूमि मन्दिर को भेंट की[४]।

गोविन्दशरणदेव जी का व्यक्तित्व एवं रचनाएँ—

गोविन्दशरणदेव जी प्रभावशाली विद्वान और पण्डित थे। जिस किसी को उनसे साक्षात्कार करने का अवसर मिलता वह अपने को कृतकृत्य मानता था[५]। जयपुर में आपका प्रधान मन्दिर अद्यावधि 'श्री जी की मोरी' के नाम से विख्यात है।

गोविन्दशरणदेव जी की वाणी का संग्रह सलेमाबाद में सुरक्षित है। इसमें मंगल बधाई के पद, नीति विषयक काव्य, संसार की असारता, ईश्वर अनुरक्ति एवं शरणागत धर्म, राधाकृष्ण सौन्दर्य, अष्टयाम सेवा-विधि, साम्प्रदायिकभक्त - स्वरूप आदि विषयों पर रचनाएँ हैं। होली का वर्णन उन्होंने बहुत ही सुन्दर किया है[६]।

नित्यविहार के अन्तर्गत अभिसार का वर्णन उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है[७]।

१, २—सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक, पृष्ठ २२४।
३—महाराज राजसिंह का इतिहास, निम्बार्क शोधमण्डल, संग्रहालय, वृन्दावन।
४—महाराज राजसिंह का इतिहास, निम्बार्क शोधमंडल, वृन्दावन।
५—सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक पृष्ठ २२४।
६—निम्बार्क माधुरी, ब्रह्मचारी बिहारीशरण, पृष्ठ १८३।
७—,, वही वही पृष्ठ १८७ पर उद्धृत।

प्रातः काल नन्दलाल बाल उठि बैठे सेज ।
सरस रसीली छविपुञ्जन कही परै ॥
खुले कल बार अंक हारन उरझि रहे ।
मरगजे वसन अब नई दुति को धरै ॥
पीकवर लीक हू लगी ललित गण्डस्थल ।
अधखुले नैन गुन - मंजरी हिये हरै ॥
रजनी व्यतीत भई रुचि पल पल नई ।
उठिबौ चहत पै न उठिबौ सह्यौ परै ॥

अभी थोड़े दिन पूर्व एक ग्रन्थ 'श्री हरिगुरु सुयश भास्कर' श्री मुनि कांतिसागर जी को प्राप्त हुआ था जिसमें आपकी कई रचनाएँ संगृहीत हैं ।

श्री सर्वेश्वरशरण देवाचार्य—

श्री गोविन्दशरण देवाचार्य जी के पश्चात् श्री सर्वेश्वरशरण जी गद्दी पर सुशोभित हुए। उन्होंने इस पद को संवत् १८४१ से १८७० वि० तक अलंकृत किया। आपका जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत सराय सूरपुरा में हुआ था[१]। इनका पूर्व नाम शालग्राम था। मंडन कवि आपके समकालीन थे। उन्होंने आपका आँखों देखा वर्णन किया है[२]।

'मण्डन' सर्वेश्वरशरण, विधि यों किये समर्थ ।
कठिन कठिन थल खोलि कें, लिख्यौ भागवत अर्थ ॥

वे लाखों ब्राह्मणों को बुलाकर भोजन कराते थे। यह भी मण्डन जी ने स्वीकार किया है।

"जयसिंहसुजसप्रकाश" के आधार पर यह भी प्रमाणित होता है कि जयपुर नरेश महाराज श्री माधवसिंह जी पुत्र श्री प्रतापसिंह जी आपके शिष्य थे और आपके निर्देश के अनुसार महाराज ने वैष्णवों के चारों सम्प्रदायों को जयपुर में विशेष सम्मान दिया था जिससे वहाँ पर वैष्णव धर्म की साख फिर से जमी और साधु-सन्तों का जमघट रहने लगा। अनेकों राजा उनका सम्मान करते थे[3]।

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि रसिकगोविन्द आपके शिष्य थे। उन्होंने श्री सर्वेश्वरशरण जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने कहा है मेरे गुरु जनक के समान

१—सर्वेश्वर, श्री वृन्दावन धामांक पृष्ठ २२५ ।
२—जयसाहि सुजसप्रकाश, मंडन कवि कृत, पृष्ठ ६ छन्द सं० ४६-५० ।
३—„ वही वही छन्द सं० ४८ ।

ज्ञानी, शुकदेव से वैराग्यधारी, चैतन्य महाप्रभु जैसे भक्त, सुकवि, राजनीतिज्ञ और परम साधु हैं[1]।

जयपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह जी के गुरु होने के कारण श्री सर्वेश्वरशरण देवाचार्य प्रायः जयपुरस्थ आचार्य गद्दी पर ही विराजते थे परन्तु उनकी वृन्दावन में भी बड़ी निष्ठा थी। ज्येष्ठ बदी ६ संवत् १८६९ को उन्होंने वृन्दावन को प्रस्थान किया परन्तु मार्ग में ही नांगल नामक ग्राम में ज्येष्ठ बदी ८ को स्वर्ग पधारे। इनकी कई रचनाएँ उपलब्ध हैं।

निम्बार्कशरण देवाचार्य—

श्री सर्वेश्वरशरणदेव के निकुञ्ज-प्रवेश के पश्चात् उनके शिष्य श्री नन्दकुमारदेव परशुरामपुरी (सलेमाबाद) की आचार्य गद्दी पर अभिषिक्त किये गए और उनका नाम श्री निम्बार्कशरणदेव रखा गया।

नन्दकुमार जी अपने गुरुदेव के जीवन काल में ही श्रीमद्भागवत की बहुत अच्छी कथा कहते थे। उनके उपदेश भी बड़े प्रभावशाली होते थे। इस कारण उनके आचार्यपीठ पर आसीन होने के पूर्व ही अनेक राज्यों में इनकी अच्छी प्रतिष्ठा जम चुकी थी इस कारण अभिषेक के समय चारों ओर प्रसन्नता हुई। ये सं० १८७० से १८९२ तक आचार्य-गद्दी पर रहे।

निम्बार्कशरणदेव के आचार्य काल की दो घटनाएँ सलेमाबाद के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इनमें से प्रथम तो यह कि अँग्रेजों ने जब भरतपुर राज्य को त्रस्त कर अपने अधिकार में लाने का प्रयास किया तो आचार्य श्री निम्बार्कशरणदेव की जमात ने, जिसका सञ्चालन वे स्वयं कर रहे थे, भरतपुर नरेश का साथ दिया। उस समय उनके साथ रहने वाले सैकड़ों वीर वैष्णवों ने अँग्रेजों का खुलकर सामना किया, जिसके परिणामस्वरूप अँग्रेज लोग लगभग १२ वर्ष तक भरतपुर पर अपना अधिकार न कर सके

१—**जनक कौ, ज्ञान शुकदेव कौ विराग, पूजा**
पृथु की, सुभक्ति चैतन्य भक्तराज की॥
गोपन कौ प्रेम, श्री गोविन्द जू कौ माधुरज।
दासता हनू की राजनीति रघुराज की॥
सत्य दशरथ कौ जुधिष्ठर कौ धर्म-धैर्य,
काव्य वाल्मीकि जयदेव कविराज की॥
नारद की सीख सनकादिक की साधुता।
कथा श्री सर्वेश्वरशरण महाराज की॥

रसिक गोविन्द जी की वाणी हस्त लिखित।

प्रत्येक बार हताश होकर भागते ही बने। भरतपुर के राजा सम्प्रदाय के शिष्य होते आये हैं इस कारण उनकी सहायता करना उनके लिए आवश्यक था ।

निम्बार्कशरणदेव के द्वारा अँग्रेजों के इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने सलेमाबाद के गाँवों को ज़ब्त कर लिया परन्तु श्री निम्बार्कशरण जी की सर्वप्रियता के कारण इस कठिनाई के समय में भी परशुरामपुरी के पीठ का प्रबन्ध समुचित रूप से चलता रहा[1]। जयपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह के पश्चात् उनके पुत्र युवराज जगतसिंह जयपुर की गद्दी पर विराजमान हुए। उन्होंने १८७५ वि० तक शासन-कार्य सञ्चालित किया[2]।

श्री निम्बार्कशरणदेव जी की कृपा से उक्त महाराज की महारानी भाटियानी के गर्भ से सं० १८७६ वि० बैशाख शुक्ला प्रतिपदा रविवार को चिरअभिलषित राजकुमार जयसिंह तृतीय का जन्म हुआ।

श्री निम्बारक शरन नैं, किय वशिष्ठ के काज।
भाटियानी के सुत भये, रघुकुल के महाराज[3] ॥

जन्म के अनन्तर श्री भाटियानी महारानी ने आमेर के मार्ग में एक विशाल एवं दिव्य मन्दिर (माघ संवत् १८७८ में) बनवाकर श्री निम्बार्कशरणदेव जी की भेंट किया जो अभी तक 'परशुरामद्वारे' के नाम से प्रख्यात है[4]। अन्य भी कई मन्दिर-देवालय इसी समय जयपुर में बनाये गये और संवत् १८८३ वि० में वृन्दावनस्थ श्री श्रीजी की बड़ीकुंज का निर्माण महारानी भाटियानी जी ने कराया। इस प्रकार वि०की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जयपुर नरेशों पर निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों का अच्छा प्रभाव रहा। ये नरेश उनके पूरे भक्त बने रहे ।

श्री निम्बार्कशरणदेव जी ने कुछ फुटकल पदों की रचना की है जिनमें से एक नीचे प्रस्तुत किया जाता है। श्री निम्बार्क स्वामी की बधाई कीर्ति इसमें वर्णित है।

१, २—सर्वेश्वर, वृन्दावनांक पृ० ३२६ ।

३—जयसाहि सुजसप्रकाश, मंडन कवि कृत, पृ० १५ छन्द सं० ८०।

४—'मंदिर ठाकुर श्री बल्देव जी' विराजमान आमेर का गैला में मुत्तसिल हणूंत बाई ।

यह मन्दिर व बाग माजी साहिबा बड़ा भाटियानी जी महल महाराजा श्री सवाई-जगतसिंह जी ने बनाया और ठाकुर जी ने जनाना ढ्योढ़ी मन्दिर में ले जाकर मिती माघ सुदी ६ सोमवार सं० १८७८ को विराजमान किया और यह मन्दिर श्री निम्बार्कशरण जी सलेमाबाद वालों को उसी रोज दिया गया।
"भोग में इनके गाँव बैनाड़ा माटा परगना, सवाई जयपुर का दिया गया।"
जयपुर राज्य धर्मादा-विभाग के लेख से संगृहीत।

अरुन सदन नव मंगल माई।
कूख जयंती सुभग मुक्ति ते इन्द्रमणी प्रगटाई ॥
अपनो तेज निम्ब पर धारे कमल जयंती अति बौराई।
श्री निम्बारक नाम पाय मुनि नारद चरन शरन मति धाई ॥
जगमगात जग में जस जिनकी सम्प्रदाय सनकादिक पाई।
श्री निम्बारकशरणदेव पद पंकज परसि अभय भये आई ॥

श्री निम्बार्कशरणदेव का संवत् १८६२ वि० में कार्तिक बदी ५ को जयपुर में स्वर्गवास हुआ। यह समाचार जब सलेमाबाद पहुँचा तो उनके स्थान पर श्री ब्रजराज-शरण का आचार्य पीठान्तर्गत अभिषेक किया गया। परन्तु उनका थोड़े ही समय पश्चात् स्वर्गबास हो गया।

शुकसुधी—

सलेमाबाद पीठ के आचार्य श्री निम्बार्कशरण देवाचार्य के कृपा-पात्र थे। निम्बार्क सम्प्रदाय के विधि-विधान और आचार के व्यवस्थापक रूप में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। उनके द्वारा संगृहीत ग्रन्थ "स्वधर्नामृत सिन्धु" में सभी साम्प्रदायिक व्यवहारों का निर्णय है। समस्त निम्बार्कीय वैष्णवों में इसका आदर किया जाता है। आपका जन्म गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। निरन्तर शास्त्र-चिन्तन और श्री युगलकिशोर की भाव-भक्ति में मनोयोगपूर्ण कालयापन ही इनकी जीवन-साधना थी। श्री निम्बार्कशरण-देवाचार्य के निकुञ्ज-प्रवेश के पश्चात् संवत् १८६७ में श्री शुकसुधी से सलेमाबाद पीठ की आचार्य गद्दी पर आसीन होने के लिए आग्रह किया गया परन्तु उन्होंने उसे झंझट जानकर स्वीकार नहीं किया। आपने श्रीमद्भागवत पर 'सिद्धान्त प्रदीप' नामक सुन्दर टीका लिखी। इसके अतिरिक्त "विष्णु सहस्रनाम" पर भी आपने अत्यन्त सुन्दर टीका लिखी है। आप निम्बार्क सम्प्रदाय के शुकदेव कहे जाते हैं।

श्री ब्रजराजशरण एवं गोपीश्वरशरणदेवाचार्य—

श्री ब्रजराजशरणदेवाचार्य के थोड़े ही दिनों के बाद परमधाम होने पर संवत् १६०१ में श्री गोपीश्वरशरणदेव जी गद्दी पर विराजे परन्तु कृष्णगढ़ राज्य में कलह बढ़ता ही गया। संवत् १६०३ में इस संघर्ष ने विकट रूप ले लिया परन्तु अन्त में श्री गोपीश्वरशरणदेव ही आचार्य-गद्दी पर रहे। महाराज जयसिंह जी के पश्चात् श्री रामसिंह जी जयपुर की गद्दी पर बैठे। ये महाराज प्रारम्भ में वैष्णव धर्म के दृढ़ अनुयायी थे परन्तु धीरे-धीरे बख्शीराम व्यास नामक एक शैव पुजारी के प्रभाव से इनकी आस्था शैव धर्म में बढ़ गई थी[1]। महाराज जगतसिंह के समय से वैष्णवों का जयपुर में विशेष प्रभाव हो गया था। वहाँ चारों सम्प्रदायों के आचार्यों की गद्दियाँ स्थापित हो चुकी थीं। महाराज

१—निम्बार्क शोध-मंडल संग्रहालय, वृन्दावन के हस्तलिखित संग्रह से।

रामसिंह के शैव-प्रभाव में आ जाने पर उनका वैष्णवों के प्रति पूर्वरूपेण सद्भाव न रहा और वैष्णवों के स्थानों पर शैवों को राज्य की सहायता एवं सहानुभूति प्राप्त होने लगी। रामानुज सम्प्रदायी वैष्णवों को शैवों से घृणा थी। वे लोग श्री शङ्कर जी के दर्शनार्थ जाना भी अनुचित समझते थे। रामानन्दी भी शैवों का तिरस्कार करते थे। इधर शैवों को राज्य का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। वे निरन्तर निर्भीक होते जा रहे थे। निदान शैवों ने चिढ़कर एक प्रश्नावली तैयार की जिसे उत्तर या प्रत्युत्तर का रूप देकर उन्होंने 'बिद्वन्मनो-नुरंजन ग्रन्थ' प्रकाशित कराया। यह वैष्णव सम्प्रदायों के विरोध में था। इस ग्रन्थ के प्रसारित होने पर वैष्णवों में चिन्ता का वातावरण बनने लगा। वृन्दावनस्थ श्री रंगदेशिक स्वामी गद्दी के तत्कालीन आचार्य ने "दुर्जनमुख-भंग-चपेटिका" अथवा "दुर्जन-पंचानन" नाम से एक ग्रन्थ में इस प्रश्नावली के सभी आक्षेपों का तात्विक खंडन किया परन्तु फिर भी १०-११ वर्षों तक यह शैव-वैष्णव विवाद निरन्तर चलता ही रहा[1]।

संवत् १९१३ वि० में महाराज रामसिंह जी जगदीश जी की यात्रा को गये। उस समय काशी के समस्त वैष्णवों ने वहाँ के सभी विद्वानों के हस्ताक्षरों से अंकित एक स्मरण-पत्र तैयार कराया जिसमें यह प्रतिपादित किया गया था कि वैष्णव-धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है, वही वैदिक धर्म है। यह निर्णीत हो जाने पर भी रामसिंह ने न माना। इससे वैष्णव-जनता में बड़ा क्षोभ हुआ। निदान जयपुरस्थ अनेक वैष्णवों की श्री गलता जी पीठ के रामानन्दी आचार्य, श्री जी की मोरी स्थान के श्री जी महाराज एवं रामानुज पीठ के आचार्यों के संरक्षण में एक विराट् सभा हुई[2] जिसमें वैष्णव धर्म के अस्तित्व की रक्षा पर विचार किया गया। सभी लोगों ने यह निश्चय किया कि स्वधर्म रक्षा के लिए जयपुर का परित्याग ही इन परिस्थितियों में सबसे अनुकूल होगा। अतः जयपुर का त्याग कर देना चाहिए। इस निश्चय को कार्यान्वित करने में श्री गोपीश्वरशरणदेव ही अग्रसर हुए। उन्होंने वैशाख सुदी पूर्णिमा सं० १९२१ वि० में जयपुर छोड़ दिया[3]।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अन्वेषक श्री पुरोहित हरनारायण जी का कथन है कि महाराज रामसिंह को जैसे ही श्री गोपीश्वरशरणदेव जी के जयपुर-परित्याग का समाचार मिला वे उन्हें लौटा लाने के लिए सवारी लेकर सलेमाबाद मार्ग की ओर गये परन्तु इसके पूर्व ही श्री जी महाराज इतने आगे बढ़ चुके थे कि उनसे भेंट न हो सकी। उनके इस त्याग की भारतवर्ष में सर्वत्र प्रशंसा हुई[4]। आपका पाटोत्सव माघ शुक्ल १० को होता है।

१—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, श्री निम्बार्क शोध संग्रहालय वृन्दावन।
२—सलेमाबाद पीठ के अधिकारी श्री ब्रजवल्लभशरण के अनुसार यह सभा (श्री जी आचार्य श्री गोपीश्वरशरणदेव) के जयपुरस्थ आचार्य पीठ में हुई।
३—निम्बार्क माधुरी, ब्रह्मचारी बिहारीशरण पृ० १८३।
४—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, पृ० २४, संग्राहक निम्बार्क-शोध-मंडल, वृन्दावन।

श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधिपति श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी
(वि० १८१४-४१)

श्रीतत्ववेत्ताचार्यजी महाराज (जयतारण)

श्री घनश्यामशरणदेवाचार्य—

सं० १९२८ वि० में आप श्री गोपीश्वरशरणदेव जी की गद्दी पर विराजे। आप परम निर्लोभी, त्यागशील एवं तपस्वी महात्मा थे। आपकी निस्पृहता एवं स्वाभाविक शील सम्पन्नता से अनेक राजा महाराजा आपके पास भेंट करने आते थे। आप संवत् १९६३ वि० तक आचार्य रहे।

श्री बालकृष्ण देवाचार्य—

आप सं० १९६३ वि० में परशुरामपुरी के आचार्य पद पर विराजे। आप अपनी साधन-निष्ठा के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। अपनी आदर्श चर्या और वृन्दावन निष्ठा के कारण आप नितान्त सम्मान के पात्र रहे। अपने आचार्य काल में आपको अनेक विषम परिस्थितियों को सुलझाने के अवसर आये जिनमें आपने संवत् २००० तक नितान्त योग्यता का प्रदर्शन किया। वैशाख शुक्ला १५ सं० २००० तक आप आचार्य पीठ की गद्दी को सुशोभित करते रहे।

श्री राधासर्वेश्वरशरण देवाचार्य—

आप श्री बालकृष्ण देवाचार्य जी के परमप्रिय शिष्य हैं। उनके निकुञ्ज गमन के पश्चात् सं० २००० में सलेमाबाद गद्दी के आचार्य पद पर सुशोभित हुए हैं। गौड़ ब्राह्मणकुलोत्पन्न गौरवर्ण, सुडौल शरीर, आकर्षक एवं अलौकिक तेज सम्पन्न मुखाकृति से आप आज समस्त वैष्णव सम्प्रदायों के कण्ठहार हो रहे हैं। सुशील एवं दृढ़ चरित्रवान होने के साथ आप अत्यन्त विद्याव्यसनी एवं सद्धर्मपरायण भी हैं। प्रत्येक तीर्थ, पर्व, कुम्भादिक में साम्प्रदायिक रीति-नीति और मर्यादा से सम्मिलित होकर एवं अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से साधुवर्ग की भगवद्-परायणता का सामान्य स्तर ऊँचा करके आपने बड़ी जागृति की है। जयपुर नरेशों से संघर्ष हो जाने के पश्चात् जब सलेमाबाद के आचार्यों ने वहाँ का परित्याग कर दिया तो उसके लगभग ९० वर्ष पश्चात् वहाँ की प्रजा, राजा एवं सेठ-साहूकारों के आग्रह से सं० २००४ में आपने वहाँ पुनः पदार्पण किया। इस समय पर वहाँ सबको अपार हर्ष हुआ।

श्री परशुराम द्वारे की शिष्य-परम्परा—

श्री तत्ववेत्ताचार्य—

श्री परशुरामदेव जी की सलेमाबाद स्थित आचार्य गद्दी को उनके पश्चात् श्री हरिवंशदेव जी ने सुशोभित किया था। इनके एक दूसरे शिष्य श्री तत्ववेत्ता जी थे जिन्होंने जोधपुर राज्य में जयतारण नामक स्थान में गोपालद्वारा गद्दी की स्थापना की थी। तत्ववेत्ता जी का इनकी अतिशय भगवद्निष्ठा के कारण यह नाम पड़ा। इससे पूर्व उनका घरेलू नाम टीकमदास था[1]।

१—निम्बार्क माधुरी, बिहारीशरण ब्रह्मचारी, पृ० १२८।

निम्बार्क माधुरी के सम्पादक श्री बिहारीशरण ब्रह्मचारी ने तत्ववेत्ता जी को हरिव्यासदेव जी का शिष्य लिखा है जो भ्रामक है और प्रमाणों से पुष्ट नहीं है। जोधपुर राज्य के इतिहास और उससे सम्बन्धित सामग्री की जाँच-पड़ताल करने पर एवं जयतारण के महन्त श्री जमुनादास जी से इस सम्बन्ध में पूछताछ करने पर कोई ऐसी बात सामने नहीं आई जिसके आधार पर उन्हें श्री हरिव्यासदेव जी का शिष्य माना जा सके। "सर्वेश्वर" के पौष सं० २०१२ के अंक में भी उनके हरिव्यासदेव जी के शिष्य माने जाने का खंडन भी किया गया है[1]।

श्री तत्ववेत्ता जी का जीवन-परिचय--

पं० किशोरदास जी ने आचार्य परम्परा परिचय में उन्हें परशुरामदेव जी का शिष्य माना है[2]। बाबा हंसदास ने "निम्बार्क प्रभा" में भी इसी की पुष्टि की है[3]। तत्ववेत्ता जी का जन्म जयतारण (मारवाड़) के निकट दाधीच ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनका जन्म-दिन आश्विन शुक्ला ४ चन्द्रवार को माना जाता है परन्तु जन्म संवत् अज्ञात है। बाल्यावस्था से ही इनमें विरक्त महात्माओं के विशेष गुण आ गये थे जो समय पाकर विकसित हुए।

तत्ववेत्ता जी का व्यक्तित्व—

उन्होंने अपने ग्राम फूलमाल के निकट ही "जयतारण" में अपना निवास-स्थान बनाया। जनता इनके सद्गुणों और शीलपूर्ण चर्या से आकर्षित होकर उनके गुण-गान में प्रवृत्त हुई। इनके आशीर्वाद से जोधपुर के राव ऊदावत सरदार, जोधपुरनरेश एवं उनके वंशजों को अनेक सफलताएँ प्राप्त हुईं और जोधपुर नरेश ने सं० १६६६ वि० में जयतारण के "गोपालद्वारा मन्दिर" का निर्माण कराकर उसे तत्ववेत्ता जी को भेंट किया[4]। यह गद्दी आगे भी बहुत प्रसिद्ध हुई।

श्री तत्ववेत्ता जी की रचनाएँ—

इनकी वाणी प्रमुखतः कुछ पदों के अतिरिक्त छप्पय, छन्दों में लिखी गयी है जिसमें भगवान् की विभूतियों, उनकी लीलाओं, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि विषयों का विशद रूप से वर्णन है। इनकी रचना सुन्दर तथा गम्भीर आशय से पूर्ण है। एक-एक छन्द में विविध अन्तर्कथाओं एवं ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी बातों का समावेश करने का प्रयास कवि ने किया है जिसके परिणामस्वरूप उनके निर्गुणी सन्त-कवियों की विषय-

---

१—सर्वेश्वर वर्ष ४, अंक २, पृ० १७।

२—आचार्य परम्परा परिचय, श्री किशोरदास जी कृत, पृ० ३१।

३—निम्बार्क प्रभा, बाबा हंसदास कृत, पृ० ९६।

४—राजस्थान के एक महापुरुष तत्ववेत्ताचार्य सर्वेश्वर, अंक २, वर्ष ४, पृ० १६

वस्तु एवं भाषा शैली से प्रभावित होने का संकेत मिलता है। इनका भाषा प्रमुखतः ब्रज है जिसमें देशज शब्दों का यथेष्ट प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं राजस्थानी के शब्द भी पाये जाते हैं। श्रीकृष्ण जी की लीलाओं एवं अवतारों की मंगलबधाई के पद भी उन्होंने रचे हैं[1]। श्री वृन्दावन की पुण्य-भूमि एवं वहाँ के भगवद्-भाव-भक्ति से पूर्ण वातावरण का उन्होंने सुन्दर वर्णन किया है एवं मथुरा जी का भी स्तवन करते हुए उसे परमेश्वर का स्पर्श-स्थल कथन किया है।

वृन्दावन-महिमा--

श्री वृन्दावन सुखधाम कलव वर वृच्छ विराजै।
कंचन भौभि सुरंग जटित मणि गण जग लाजै॥
कामधेनु सुर गाय पिवत अमृत पयधारा।
सखा-मण्डली सहित कृष्ण नित करत बिहारा॥
बारा मास बसंत रितु निशिवासर फूलैं फलैं।
तत्ववेत्ता तिहुँ लोक में नाँव निरन्तर नहिं टलै॥

राजस्थान विशेषकर मारवाड़ में तत्ववेत्ता जी के छन्दों का बड़ा प्रचार है। वहाँ के भक्तजन एवं कविगण उनके छप्पयों को कंठाग्र कर लेते हैं और प्रयोग करते हैं।

तत्ववेत्ता जी का समय—

तत्ववेत्ता जी की वाणी से उनका निम्बार्क सम्प्रदायी एवं श्री परशुरामदेव जी का शिष्य होना सर्वथा सिद्ध होता है। संस्कृत श्लोकों में उन्होंने अपने गुरु परशुरामदेव जी का बार-बार नामोल्लेख किया है[2]। उनके संवत् १६६६ वि० तक विद्यमान रहने का यह निश्चित प्रमाण है कि उक्त संवत् में माघ शुक्ला १५ को उन्होंने जयतारण स्थान का गोपालद्वारा, मन्दिर बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा कराई थी[3]। अतः यदि सं १६६६ वि० को उनका निधन-काल ही मान लें तो सम्भवतः उनका आविर्भाव विक्रम की १६ वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में हुआ होगा।

श्री परशुराम द्वारा के कवियों की काव्य-साधना--

श्री परशुरामदेव जी के द्वारे के आचार्यों में श्री परशुरामदेव जी, श्री वृन्दावनदेव जी, श्री गोविन्ददेव जी, श्री गोविन्दशरणदेव एवं सर्वेश्वरशरणदेव जी श्रेष्ठ कवि थे। इनके अतिरिक्त महाराज राजसिंह की पत्नी श्रीमती राजरानी बाँकावती, उनकी पुत्री राजकुमारी सुन्दरिकुँवरि और पुत्र महाराज सावन्तसिंह कविनाम नागरीदासजी एवं उनकी

१—राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मनेरिया, पृष्ठ १४१।
२—तत्ववेत्ता जी की वाणी, हस्तलिखित।
३—राजस्थान के एक महापुरुष, तत्ववेत्ता जी, सर्वेश्वर अंक ३, वर्ष ४, पृ० २०

पासवान (बनीठनी जी) तथा नागरीदास जी की पौत्री, राजकुमारी छत्रकुँवरि, सभी सुकवयित्री थीं । इन्होंने श्रेष्ठ कविताएँ की हैं । इन सभी पर इन आचार्यों का अद्भुत प्रभाव देखा जाता है । महारानी बाँकावती, सुन्दरकुँवरि, नागरीदास जी, एवं बनीठनी जी की वृन्दावन-निष्ठा भी प्रसिद्ध है । इन्होंने वृन्दावन में निवास किया और भगवद्भक्ति में निरत रहते हुए ब्रजवास का आनन्द लिया । महारानी बाँकावती की प्रेरणा से उनके पतिदेव महाराज राजसिंह (कृष्णगढ़ नरेश) ने वृन्दावन में "नागर-कुञ्ज" का निर्माण कराया था[१] ।

कृष्णगढ़-नरेश के परिवार के अतिरिक्त श्री सर्वेश्वरशरण देवाचार्य के शिष्य श्री रसिकगोविन्द इस द्वारे के महाकवियों में से थे । इनका वर्णन आगे किया जायगा ।

महाराज सावन्तसिंह कविनाम नागरीदास इस निबन्ध के कवियों के विशेष अध्ययन के अन्तर्गत हैं । शेष महिला कवयित्रियों की काव्य-विषयक सेवाओं का विवरण नीचे दिया जाता है ।

महारानी बांकावती--

महारानी बाँकावती जी कृष्णगढ़-नरेश महाराजा राजसिंह जी की दूसरी रानी थीं । उनकी पहली रानी श्रीमती चतुरकुमारी का सं० १७७६ में देहावसान वृन्दावन में हो गया था । उसके अनन्तर इनका विवाह बाँकावती जी से हुआ[२] । बाँकावती जी लवाण नरेश बांकावत आनन्दसिंह जी की राजकुमारी थीं । इनका ब्रजकुँवरि नाम था । विवाह के अनन्तर बांकावती नाम इनके पिता जी के वंशानुसार पड़ा । श्रीमद्भागवत का मनन करते-करते आपके मन में विशेष स्फूर्ति हुई और आपने उसका पद्यबद्ध अनुवाद "ब्रजदासी भागवत" नाम से प्रस्तुत किया । इस दिशा में आपको परशुरामपुरी (सलेमाबाद) के आचार्य श्री वृन्दावनदेव जी से विशेष प्रेरणा मिली थी । इनका कविता-काल सं० १७९० वि० के आसपास मानना ठीक होगा[३] ।

ब्रजदासी भागवत—बांकावती प्रणीत वह एक विशाल ग्रन्थ है जिसकी रचना दोहा चौपाइयों में हुई है । यह सुमधुर एवं साहित्यिक ब्रजभाषा में लिखा गया है परन्तु राजस्थान की निवासिनी होने के कारण बीच-बीच में राजस्थानी की शब्दावली का आ जाना स्वाभाविक ही है । यत्र-तत्र बैसवाड़ी के शब्द भी पाये जाते हैं । कविता बड़ी सरस और उत्कृष्ट बन पड़ी है ।

दोहे चौपाइयों के अतिरिक्त बीच-बीच में अन्य छन्दों का प्रयोग भी किया गया है । "ब्रजदासी भागवत" की हस्तलिखित एक प्रति सलेमाबाद पीठ में सुरक्षित है । इनकी

१—सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक, पृ० २८६ ।

२—,, वही वही पृ० २८३ ।

३—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, निम्बार्क शोध-मंडल संग्रहालय, वृन्दावन ।

एक दूसरी रचना गीता का पद्यानुवाद भी है। बांकावती जी निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थीं। उन्होंने निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रवर्तकाचार्यों एवं तदनन्तर भागवताचार्यों की वन्दना अपने ग्रन्थ में की है[1]।

बाई सुन्दरिकुँवरि जी—

भक्तिमती बाई सुन्दरिकुँवरि जी कृष्णगढ़ नरेश महाराज राजसिंह (१७६३-१८०५ वि०) की पुत्री थीं। इनकी माता का नाम महारानी बाँकावती था। इनका जन्म संवत् १७९१ में हुआ था। जब इनकी अवस्था पाँच वर्ष की हुई तो उनको पुरोहित मायाचन्द के पास पढ़ने को बिठाया गया और शीघ्र ही श्री वृन्दावनदेवाचार्य जी द्वारा स्मरण करने के लिए सलेमाबाद भेजा[2]। अपने 'मित्र-शिक्षा' ग्रन्थ में सुन्दरिकुँवरि जी ने इस घटना का उल्लेख किया है।

श्री वृन्दावनदेव प्रभु, जिनकी दासित छाप।
लही बालवय में तबहिं, उदये भाग्य अमाप ॥
सो अब यह दरशी प्रगट, महा भाग्य की ओप।
श्री सर्वेश्वरशरन प्रभु दिय, सुभेव निज गोप ॥
स्थल सलेमाबाद की हौं दास्यानजुदासि।
जिहिं प्रभाव यह रहसि किय मेरे हृदय निवास[3] ॥

मिश्रबन्धुविनोद में श्री सुन्दरिकुँवरि जी को राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना गया है जो नितान्त भ्रामक है क्योंकि "मित्र-शिक्षा" आदि ग्रन्थों में सुन्दरिकुँवरि जी ने अपने सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे वे निश्चय ही निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत सलेमाबाद आचार्य पीठ की शिष्या सिद्ध होती हैं[4]।

सुन्दरिकुँवरि की रचनाएँ—

सुन्दरिकुँवरि जी के पिता महाराज राजसिंह, पितामह श्री मानसिंह, प्रपितामह श्री रूपसिंह जी कवियों के आश्रयदाता थे। उनके बन्धु महाराज सावन्तसिंह (नागरीदास) जी श्रेष्ठ कवि थे तथा इनकी माता बाँकावती भी काव्य-रचना करती थीं। अतः इन्हें काव्य-रचना का अच्छा अभ्यास हो गया था। सलेमाबाद पीठ के आचार्य श्री वृन्दावनदेव, गोविन्दशरणदेव एवं सर्वेश्वरशरणदेव जी का भी इन पर प्रभाव पड़ा जिससे इनकी वृत्ति श्री युगलकिशोर की मधुर भक्ति की ओर आकर्षित हुई। श्री राधाकृष्ण जी की मधुर

१—ब्रजदासी भागवत, परशुरामपीठ सलेमाबाद पुस्तकालय, (हस्तलिखित प्रति)।

२—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, निम्बार्क शोध मण्डल, संग्रहालय, वृन्दावन।

३—मित्र-शिक्षा, सुन्दरिकुँवरि कृत, हस्तलिखित, सलेमाबाद पीठ वाली प्रति।

४—मिश्रबन्धु विनोद, तृतीय भाग पृष्ठ ७२३।

लीलाओं और नित्य बिहार से सम्बन्धित कविताओं का गान इन्होंने अपनी सरस एवं पीयूषवर्षिणी वाणी में किया। इनके ग्रन्थों की संख्या १२ है[१]। ये रचनाएँ भी साधारण कोटि की नहीं वरन् गम्भीर हैं। मिश्रबन्धुओं ने इनकी रचनाओं को तोष कवि की श्रेणी में रखा है[२]। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ हैं। कई रचनाओं में उनका निर्माण-काल तथा रचना-स्थल दिया हुआ है।

१—'नेहनिधि' की रचना सं० १८१७ वि० में रूपनगर में हुई।

२—'वृन्दावन गोपी महात्म्य' की रचना सं० १८२६ वि० रूपनगर में हुई।

३—'संकेत युगल' की रचना सं० १८३० वि० में कृष्णगढ़ में हुई।

४—'रसपुञ्ज' का निर्माण सं० १८३४ वि० में राघोगढ़ में हुआ।

५—'प्रेम सम्पुट' की रचना सं० १८४५ वि० में हुई।

६—'सार संग्रह' एवं (७) 'रंगभर' भी सं० १८४५ वि० में रचे गये।

८—'गोपी माहात्म्य' सं० १३४६ वि०।

९—'भावना प्रकाश' सं० १८४९ वि०।

१०—'राम रहस्य' सं० १८५३ वि०।

११—पद तथा फुटकर कविता सम्भवतः पीछे से संकलित किये गए।

१२—'मित्र-शिक्षा' इनकी अतिम रचना है जिसमें इन्होंने अपने जीवन, गुरुवर्ग एवं अन्य घटनाओं का वर्णन किया है।

१३—'युगलध्यान' उनकी अष्टयाम विषयक रचना है जो अभी सलेमाबाद में प्राप्त हुई है। इनका ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था।

बालक कृष्ण के धूलधूसरित होने और मिट्टी खाते हुए घुटनों से चलने के प्रसंग की एक स्वभावोक्ति प्रस्तुत है।

रज माँहि मगन कैसौ खेलत है।
सुभग चिकुर तन धूरि धूसरित डेलिक किलक सकेलत है।
चौंकि चकित चहुँ ओरनि चितवत छिपि माटी मुख मेलत है।
'सुन्दरि कुँवरि' घुटुरुवनि दौरत कोटिन छवि पग पेलत है।

श्री छत्रकुँवरि जी—

श्री छत्रकुंवरि बाई कृष्णगढ़ाधीश महाराज सरदारसिंह की पुत्री एवं महाराज सावन्तसिंह (नागरीदास) जी की पौत्री थीं। अपनी कुल परम्परा के रूप में कवित्व-शक्ति इन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी। इनका विवाह सं० १८३१ विक्रमी में कोठड़े के श्री गोपालसिंह खींची के साथ हुआ। ये निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत सलेमाबाद पीठ की शिष्या थीं। श्री वृन्दावनदेव जी से इन्होंने दीक्षा ली थी जिसका स्पष्ट उल्लेख

१—निम्बार्क माधुरी, ब्रह्मचारी बिहारीशरण, पृष्ठ ५९४।
२—मिश्रबन्धुविनोद, तृतीय भाग पृष्ठ ७२४।

उन्होंने अपने ग्रन्थ "प्रेम-विनोद" में किया है। इस ग्रन्थ में श्री युगलकिशोर की उज्ज्वल रसपूर्ण लीलाओं का उल्लासमयी वाणी में प्रतिपादन किया गया है।

काव्य को पढ़कर रसिकजन श्री ब्रजराजकुमार की रसिकतामयी लीलाओं में अनुरक्त हों, उनकी तद्विषयक प्रीति बढ़े यही उन्होंने अपने काव्य का उद्देश्य बतलाया है[1]। सुन्दरिकुंवरि की भाँति इन्होंने भी प्रेम-विनोद में दोहा, चौपाई, रोला, कुण्डलिया, कवित्त, सवैये आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। प्रिया प्रियतम की चौसर क्रीड़ा का एक छन्द द्रष्टव्य है।

बाढ़ी चित चाह दोऊ खेलत उमाह भरे,
दसा प्रेम पूर छिल अंग हरसत हैं।
प्रिया दाँव देत पिय झूंठे ही रूँगट कहैं,
गहै पानि पानि रिस मिसै परसत हैं॥
चौपर की बाजी माहिं बाजी लागी गति-मति की,
चाल की चहुल मन मौज सरसत हैं।
नैनन में नैन मिले चरचा चरता में रीझ,
रीझवार रीझ तहाँ रंग बरसत हैं॥
—प्रेमविनोद, हस्त-लिखित।

श्री बनीठनी जी—

ये महाराज राजसिंह जी के पुत्र राजकुमार सावन्तसिंह (नागरीदास जी) की पासबान (दासी) थीं। सावन्तसिंह जी के छोटे भाई श्री बहादुरसिंह ने जब रूपनगर के राज्य पर कब्जा कर लिया तो वे विरक्तभाव धारण कर वृन्दावनवास करने लगे थे। उस समय श्री बनीठनी जी ने राजपरिवार को त्याग कर महाराज नागरीदास का साथ दिया। वे वृन्दावन में ही रहने लगीं[2]। वृन्दावन में रहते हुए बनीठनी जी ने स्वामी हरिदास जी की शाखान्तर्गत महात्मा रसिकदेव जी से विरक्त दीक्षा प्राप्त की, अतः वे एक ओर परशुरामपुरी की शिष्या थीं तो दूसरी ओर महात्मा रसिकदेव जी से दीक्षा लेने के

१—रूप नगर नृप राजसिंह जिन सुत नागरिदास।
तिन पुत्र जु सरदारसिंह, होत न यामें जास॥
—प्रेमविनोद, छत्रकुँवरि कृत।

काव्य दोष कवि हेरिहैं, सो मम नाहिन काज।
हेरहु रहसिहिं रसिकजन, मित्र कुँवर ब्रजराज।
रमिहहिं या रस रसिक जे, ते मुहि कहियो तोहि।
सुफल फली आसा यही, यही सुदृढ़ रति होहि।
—प्रेमविनोद हस्तलिखित।

२—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, निम्बार्क शोधमण्डल संग्रहालय, वृन्दावन।

कारण उनका स्वामी हरिदास जी की रसिक शाखा से भी उतना ही दृढ़ सम्बन्ध मानना चाहिए। "रसिकबिहारी" छाप से वे भगवद्भक्तिपूर्ण रचनाएँ करती थीं। इनकी रचनाओं का संग्रह महाराज नागरीदास जी की कृतियों के साथ "नागर समुच्चय" में संकलित किया गया है।

श्री बनीठनी जी की रचनाएँ सत्काव्य का अच्छा उदाहरण हैं। उन्होंने अपने काव्य के लिए ब्रजभाषा को ही चुना है। उनके भाव गम्भीर एवं भगवद्भक्ति से पूर्ण हैं[1]। बनीठनी जी ने महाराज सावन्तसिंह के साथ दुख-सुख भोगकर सच्ची स्वामि-भक्ति एवं भगवद्भक्ति का अनुभव किया था, इस कारण इनकी रचनाएँ अत्यन्त प्रभावोत्पादक, सच्ची प्रेमभक्ति एवं वैराग्य के सच्चे अनुभवों से पूर्ण हैं। राजस्थान की निवासिनी होने के कारण इनकी भाषा में राजस्थानी के शब्द बहुलता से पाये जाते हैं[2]। यथा—

रंगि रह्या युगल रूप रंगमाँही।
कुंज महल में दर्पन साम्हैं दिया रहै गलबाहीं॥
कदेक संभ्रम ह्वै स्यामा रे नेड़ै स्याम छताहीं।
केदक रीझि रहैं 'रसिकबिहारी' देखि देखि परछाहीं॥

और इनकी गोपी सबके समक्ष वार्तालाप करके अपने प्रेम को प्रगट करने वाले श्रीकृष्ण जी का किस प्रकार वर्जन कर रही है, इसे निम्न पद में देखिये।

ये बसुरिया बारे! ऐसे जनि बतराय रे।
यों न बोलिये अरे घरबसे! लाजनि दबि गई हाय रे॥
हौं धाई या गैलहि सौं रे नैंक चल्यौ धौं जाय रे।
'रसिकबिहारी' नाँव पाय कैं क्यों इतनौं इतराय रे॥

श्री आनन्दघन जी—

परशुराम द्वारे के जितने कवि, कवयित्री और आचार्य कवियों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें श्री आनन्दघन जी का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है[3]। आप वृन्दावन में सर्वेश्वर घाट पर निवास करते थे और आपका सखीनाम 'बहुगुनी' था जो इनके द्वारा रचित "वृषभानुपुरसुषमा" नामक ग्रन्थ से भी सिद्ध होता है[4]।

राधा नांव बहुगुनी राख्यौ। सोई अरथ हिये अभिलाख्यौ॥

श्री आनन्दघन जी की विशेष चर्चा "निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों का विशेष अध्ययन" शीर्षक के अन्तर्गत की जायगी।

१—भक्तवर नागरीदास, उनके काव्य के विकास से सम्बन्धित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का एक अध्ययन, डा० फैयाज़अलीखां, टंकन प्रति पृष्ठ ४५१।
२—निम्बार्क माधुरी, ब्रह्मचारी बिहारीशरण, पृष्ठ ६०२।
३, ४—सर्वेश्वर वृन्दावन धामांक पृष्ठ २८७।

श्री परशुराम द्वारे की गृहस्थ गद्दियाँ—

श्री परशुरामदेव जी सलेमाबाद का ठिकाना बाँधने के पश्चात् प्रायः पुष्कर क्षेत्र में ही रहा करते थे। एक बार उन्होंने पुष्करारण्य में सत्र नामक यज्ञ किया और समस्त पण्डितों की सम्मति से अपने छोटे भाई श्री बासुदेव जी को अपना शिष्य बनाया[1] और उन्हें अपने गुरु श्री हरिव्यासदेव जी से प्राप्त श्री गोपीजनवल्लभ की युगल-सेवा की मूर्ति दी तथा आदेश दिया कि तुम गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए गृहस्थियों को निम्बार्क सम्प्रदाय की दीक्षा दो।

श्री गोस्वामी बासुदेव जी की ११ वीं पीढ़ी में श्री गोस्वामी माधवलाल जी हुए। आपने सं० १९४१ वि० में प्रयागराज के महाजनीटोला नामक मुहाल में श्री बिहारी जी के एक अन्य मन्दिर की स्थापना धूमधाम से की। इन गोस्वामी जी के वंशज आज तक जहानाबादी गोस्वामियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। गोस्वामी राधाकृष्ण जी एवं उनके पुत्र गोस्वामी ललितकृष्ण वर्तमान में इनमें विशिष्ट स्थान रखते हैं।

उपरोक्त गोस्वामी परम्परा में श्री गोस्वामी हरिभक्तशरणदेव एवं श्री गोस्वामी माधवलाल जी विशेष प्रसिद्ध हुए। श्री हरिभक्तशरणदेव के समय की एक चरण चौकी सं० १७६० की सनद सहित श्री गोस्वामी राधाकृष्णजी के यहाँ अभी तक सुरक्षित रखी हुई है जिसके लेख के अनुसार वे जहानाबाद में श्री राधिकाबिहारी के मन्दिर के संस्थापक प्रतीत होते हैं[2]। श्री गोस्वामी माधवलाल जी ने उन्हें जहानाबाद से कानपुर में सं० १९४४ में गंगा-सप्तमी के दिन विराजमान कराया था।

साहित्य सेवा—जहानाबादी गोस्वामियों में श्री बासुदेव जी ने 'भक्तिचन्द्रिका' भगवद्विधान विषयक ग्रन्थ लिखा। उनका सिद्धान्त विषयक "द्वैताद्वैतप्रतिष्ठा' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी बताया जाता है। इसी शाखा के गोस्वामी ब्रजलालशरण ने कई ग्रन्थ लिखे जो प्रयाग के निम्बार्क पीठ में सुरक्षित कहे जाते हैं। गोस्वामी मुरलीधर जी लिखित 'निम्बार्क चरित' लगभग ३५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। इन लोगों ने प्रयाग में 'निम्बार्क महासभा' का भी संगठन किया था।

श्री माधवराम जी अवस्थी—

श्री गोस्वामी माधवलाल जी के एक शिष्य श्री माधवराम जी अवस्थी व्यास

१—अकारि शिष्यो विधिवत्सुशीलो भ्राता लघुः श्रीयुत वासुदेवः।
आज्ञेति दत्ता भवतां प्रशाखा गार्हस्थ्यमाशु क्रियतां च लोके॥
—सुदर्शन माघ सं० १९९२ पृष्ठ ९।

२—जहानाबादी गोस्वामी श्री राधाकृष्ण जी ने सनददाता शाह का नाम शाहआलम जलालुद्दीन हैदर दिया है जिसके दरबार की हिजरी सं० ११७३ की सनद उनके पास विद्यमान है। सुदर्शन माघ सं० १९९२ पृष्ठ ४।

(जन्म सं० १६२६ कानपुर के साढ़ ग्राम में, मृत्यु सं० १६६० वि०) नाम के प्रतापी, भक्त, पण्डित एवं साहित्यकार हुए[1]। आपने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की—

(१) भाषानुवाद—

श्रीमद्भागवत्, श्रीमद्भगवद्गीता, रामचरितमानस, महाभारत, श्री सत्यनारायण-व्रत कथा।

(२) धर्म विषयक काव्य—

उपदेश रत्नाकर, भजन रत्नमाला, उपदेश रत्नमाला, उपदेश, होली भजन, द्वादशाक्षरी, युगल छटा, दिव्य प्रयाग वर्णन, भक्ति-प्रेम-पुष्पांजलि, तीर्थयात्रा सागर दयाविचार, जगदीश-स्तोत्र, जगदम्बा-स्तोत्र।

(३) विज्ञान एवं उपदेशात्मक लेख—

विज्ञान लेख, उपदेश, पतिव्रता नारी-नर ब्रह्मचारी, विधवा-विवाह खंडन, भजन रत्नावली, हरिकीर्तनावली आदि।

श्री मुकुन्ददेव जी का द्वारा—

श्री हरिव्यासदेव जी के शिष्य श्री मुकुन्ददेव जी का अपने द्वादश गुरु-भाइयों में विशिष्ट स्थान है। इनकी शाखा की प्रसिद्धि साधु-सेवा, वैष्णवों के सामूहिक सहभोज, कथा-कीर्तनों आदि उत्सव समारोहों के आये दिन आयोजन कराने की दृष्टि से है। यही परम्परा इस द्वारे में आज तक चली आती है।

जीवन परिचय और शिष्य परम्परा—

मुकुन्ददेव जी का पूर्वनाम मुक्ताराम था। इनके पिता जी श्री धर्मसहाय ब्रज में आकर रहे और वहीं इनकी माता रमादेवी की कुक्षि से माघ शुक्ला १५ को इनका जन्म हुआ और ११ वर्ष की अवस्था प्राप्त करके आप श्री हरिव्यासदेव जी की शरण में आ गये[2]। एक वर्ष सेवा करने के अनन्तर आपको नैष्ठिक व्रत की वैष्णवी दीक्षा प्रदान की गई और उसी समय से आपकी भगवान् के ध्यान एवं उत्सव समारोहादि की ओर रुचि बढ़ी। आपने ब्रज और आसपास के प्रदेश में सम्प्रदाय का अच्छा प्रचार किया। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इनका समय संवत् १४५० से १४८५ तक दिया हुआ है जो ठीक नहीं है।

इनके द्वारे का प्रसिद्ध एवं सर्वप्रमुख स्थान टोपीवाली कुन्ज है जो वृन्दावन में बिहारघाट पर स्थित है। इस समय इस स्थान के महन्त श्री सनत्कुमारदास जी हैं। टोपी

१—श्री निम्बार्कमाधुरी, ब्रह्मचारी बिहारीशरण, पृष्ठ ७२३।
२—सर्वेश्वर वृन्दावन धामांक, पृष्ठ २३०।

वाली कुन्ज के बाबा कल्याणदास जी थे जो मुकुन्ददेव जी की दशवीं पीढ़ी में थे[1], बड़े प्रतापी और सिद्ध पुरुष थे।

श्री स्वामी कल्याणदास जी ने सं० १९६५ में वृन्दावनधाम प्राप्त किया और उनके पश्चात् श्री माधवदास जी भक्तमाली इस स्थान की गद्दी पर बैठे। श्री बाबा माधवदास जी का जन्म सं० १९१९ वि० में पौष शुक्ला द्वादशी को हुआ था। इन्होंने सं० १९४३ में घर से उदास होकर वृन्दावनवास करना प्रारम्भ किया और उसी वर्ष आश्विन मास में विजयदशवी के दिन अपने गुरु श्री कल्याणदास जी के शरणागत हुए। श्री कल्याणदास जी ने ही इनका नाम "माधवदास" रखा[2]।

श्री माधवदास जी निम्बार्क सम्प्रदाय की चर्या में इतने रसिक शिरोमणि हुए कि उनकी दूर-दूर तक प्रसिद्धि हो गई। बाबा कल्याणदास जी के निकुन्ज प्राप्त करने के एक वर्ष पश्चात् मंगलवार भादों शुक्ला दशवीं को इन्हें टोपीवाली कुन्ज की गद्दी प्राप्त हुई। सं० १९७२ आते ही मन्दिर छोड़कर बनविहार में निवास करना प्रारम्भ किया। माधवदास जी भक्तमाल के प्रसिद्ध ज्ञाता और महावाणी आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों के मर्मज्ञ थे। इस कारण इनसे दीक्षा लेने के लिए बहुत लोग आने लगे और इनके शिष्यों की संख्या बहुत बढ़ गई।

इन्हीं बाबा माधवदास जी ने सं० १९८९ में "निकुंजप्रेममाधुरी" नामक वृहद् काव्य लिखना प्रारम्भ किया जो सं० १९९१ में पूर्ण हुआ।

बाबा माधवदास जी के तीन प्रमुख शिष्य हुए। (१) सनतकुमारदास, (२) श्री बाबा कुंजबिहारीदास, (३) श्री बाबा माधुरीशरण जी। इनमें से बाबा सनतकुमार दास जी "टोपी वाली कुंज" स्थान के अधिष्ठाता हुए, श्री कुंजबिहारीदास, मुकुन्द-सदन कालीदह और बाबा माधुरीशरण बनविहार वृन्दावन के। बाबा माधुरीशरण ने "बन-विहार" स्थान की प्रतिष्ठा में अच्छी वृद्धि की है। भवन-निर्माण आदि से भी उसको शोभा-सम्पन्न किया है तथा इसके अतिरिक्त एक बड़ा काम वे श्री निम्बार्क महाविद्यालय का कुशल संचालन करके कर रहे हैं। इस संस्था की भी उनके संचालन में यथेष्ट उन्नति हुई है।

निकुंजप्रेममाधुरी में श्री मुकुन्ददेव जी की परम्परा निम्न प्रकार दी हुई है[3]।

(१) श्री मुकुन्ददेव जी (२) ब्रजभूषणदेव (३) बनारसीदेव (४) नारायणदेव (५) रतनदेव (६) नैनादेव (७) रामदासदेव (८) वृन्दावनदास (९) रघुनाथदास (१०) कल्याणदास (११) माधवदास।

१—श्री निकुंजप्रेममाधुरी, बाबा माधवदास कृत पृष्ठ १।

२—श्री स्वामी कल्याणदास जी गुरू कहाये।
माधवदास प्रसिद्ध नाम इनके जु धराये॥
निकुंज प्रेम माधुरी, बाबा माधवदास कृत में ग्रन्थकार का परिचय, पृष्ठ २।

३—निकुंजप्रेममाधुरी, श्री गुरुदेव परम्परा स्तुति, बाबा माधवदास कृत, पृष्ठ १३५

टोपीवाली कुंज का निर्माण बाबा रामदास जी (१७६८-१८७० वि०[1]) ने कराया था। आप टोपी लगाया करते थे इस कारण टोपीवाले बाबा कहलाते थे। मंदिर भी कालान्तर में इसी नाम से सम्बोधित होने लगा। इस स्थान के महात्माओं में माधवदास जी बड़े प्रतापी हुए। वे सुकवि, रसिक एवं कला मर्मज्ञ थे। उन्होंने "निकुंज प्रेम-माधुरी" नामक एक साम्प्रदायिक भक्तिसाधना पोषक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचा।

निकुंजप्रेममाधुरी--

बाबा माधवदास जी का कवि नाम "अलिमाधुरी" था। उन्होंने सरस, सानुप्रासिक एवं मधुर ब्रजभाषा में इस ग्रन्थ की रचना की है परन्तु वे संस्कृत एवं खड़ी बोली पर भी अच्छा अधिकार रखते थे। इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्री राधा नित्यविहाराष्टक-स्तोत्र एवं श्री नित्यविहारिणी जी की अष्टोत्तरशत नामावली की रचना संस्कृत में हुई है। विनयावली की छन्द संख्या १३६ है जिनमें खड़ी बोली का ललित रूप भलीभाँति दृष्टव्य है।

निकुंजप्रेममाधुरी में उपास्य एवं उपासक स्वरूप, वृन्दावन वर्णन, उद्बोधन, युगलकिशोर की पारस्परिक प्रेमचर्या, सखीजन की स्थिति एवं उनके द्वारा युगलकिशोर की परिसेवा, युगलविनय, अनन्यरसिकजन का रूप, भक्तमहिमा, गुरुशरणागति, ब्रह्मजीव एवं प्रकृतितत्व निरूपण आदि अनेक साम्प्रदायिक विषयों का प्रतिपादन अत्यन्त रोचकता से किया गया है।

इस ग्रन्थ की 'सखीनामावली' में महावाणी का अनुसरण देख पड़ता है। वृन्दावन की महिमा वर्णन करते हुए कवि नहीं अघाता। वह उपास्य का अंग ही है। मानव जन्म में ही उसकी उपलब्धि सम्भव है। देवजनों को यह सौभाग्य कहाँ ?

बसिबौ (श्री) वृन्दावन कौ नीकौ।
रसिक जनन कौ प्रेम अखारौ सरबस जीवन जी कौ।
कुंज निकुंजनि केलि करत नित निज घर प्यारी पी कौ[2]॥

कवि सहचरी रूप में वृन्दावन द्वारा अपनाये जाने के लिए अत्यन्त व्याकुल है। उसकी दशा दयनीय हो चली है।

श्रीबन प्रेम स्वरूप मोहि अपनाइये।
भटक फिरी बहुकाल मैं जन्म गंवाइये॥
अब तौ आई चरण शरण की लाज है।
बार बार कहूँ टेर सुनो महाराज है[3]॥

राधानाममहिमामंजरी के अन्तर्गत राधानाममहिमा का प्रतिपादन है। उनसे

१—निम्बार्क माधुरी, ब्रह्मचारी बिहारीशरण पृष्ठ ७७१।
२—निकुंजप्रेममाधुरी, वृन्दावन महिमामृत, पद संख्या ८।
३—निकुंज प्रेम माधुरी, बाबा माधवदास कृत, पृष्ठ ४८।

अच्छा कौनसा नाम हो सकता है जिसको स्वयं श्री श्यामसुन्दर रटते रहते हैं[1]। उनके बिना स्वयं श्यामसुन्दर के लिए भी चारों ओर अंधकार है।

श्यामा प्यारी तुम ही सौं छबि मेरी।
जैसे दिन प्रकाश दिनकर संग ना तो रैन अँधेरी।
अंधकार रजनी के संग जिमि चन्दा रैन उजेरी[2]।

कृष्ण अपनी श्यामता के कारण 'रजनी' के प्रतीक हैं। राधा अपने गौर वर्ण के कारण सूर्य एवं चन्द्र की ज्योतिस्वरूप हैं। बड़ी ही सटीक व्याख्या कवि ने प्रस्तुत की है।

प्रेमलक्षणा भक्ति के अनेक अंगों का विवेचन इस ग्रन्थ में सुन्दरता से हुआ है। गुरुदेव की महिमा कहते हुए कवि नहीं अघाता। वह भूले हुए जीव के उद्धार के लिए उनको (गुरु जी) उसके साथ रहने वाला परमात्मा का रूप ही मानता है। यही कारण है कि ब्रह्म अवतारी श्रीकृष्ण जी स्वयं अपने कंधे पर गुरुदेव की लकड़ी का भार ढोते फिरते थे[3]। भाषा, शैली, छन्द योजना, रस परिपाक, वर्णनचातुर्य, सभी दृष्टियों से यह अनूठा ग्रन्थ है।

श्री उद्धवघमंडदेव जी का द्वारा—

श्री हरिव्यासदेवाचार्य जी के १२ शिष्यों में श्री उद्धवघमण्डदेव जी निम्बार्क सम्प्रदाय में वर्तमान रासलीला अनुकरण के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जीवन परिचय—

उद्धवघमण्डदेवाचार्य का जीवन सम्बन्धी कोई लिखित विवरण प्राप्त नहीं है। उनकी शिष्य-परम्परा के प्रसार एवं उसके अन्तर्गत स्थानों में प्रचलित वार्त्ताओं के आधार पर उनका जन्म-स्थान भीमटोड़ा (जयपुर) के पास दुबरदू माना जाता है। इनकी परम्परा का प्रधान स्थान "कुण्डल" जिला रोहतक में है और इनका समाधि-स्थान भी वहीं पर है। कुछ साम्प्रदायिक कालगा गाँव जिला रोहतक को इनके प्रधान स्थान होने का श्रेय देते हैं। उनका कहना है कि वे कालगा गाँव से जाकर पीछे कुण्डल में बिराजे थे। श्री हरिव्यासदेवाचार्य जी का कालगा गाँव में आगमन हुआ था और वे कुछ दिनों तक वहाँ विराजे भी थे[4]। अतः यह सम्भव है कि उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ये वहाँ से उनके साथ चल पड़े हों और कालान्तर में कुण्डल में उन्होंने अपने स्थान को संस्थापित किया हो।

सम्प्रदाय के आधुनिकीकरण एवं उसके नव विकसित स्वरूप को जन साधारण को हृदयङ्गम कराने के लिए उनको प्रायः प्रचार यात्राओं में अपने गुरु हरिव्यासदेव जी

१—निकुंजप्रेममाधुरी, लालजी बचन राधिका प्रति, पद संख्या ७।
२—वही वही पद संख्या १७।
३—वही वही पृ० १२८।
४—आचार्यपरम्परा परिचय, पं० किशोरदास पृ० २४।

के साथ भी रहना पड़ता था। गुरुदेव के प्रवचन के लिए पहिले से समुचित पृष्ठभूमि तैयार करना उनका कार्य था। ऐसा करने के लिए उन्हें श्रीकृष्ण-नामसंकीर्तन, श्रीकृष्ण नाममहिमा-प्रभाव एवं साम्प्रदायिक चर्चा के प्रमुख तत्वों का यथावसर पूर्व विश्लेषण करके समुचित वातावरण की सृष्टि करनी पड़ती थी। अति सन्निकटता के कारण उनके गुरुदेव उनकी वैष्णव-भक्ति एवं लोकपरायणता से अभिभूत हो चुके थे।

एक समय "कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति" श्लोक की व्याख्या करते हुए उन्होंने मन ही मन यह अनुभव किया कि वास्तव में प्राणी को श्रीकृष्णनाम के स्मरण के अतिरिक्त और कोई अन्य सहारा हो नहीं सकता। इसी भाव से अभिभूत होकर वे बार-बार 'हरेर्नाम केवलम्' कहते हुए चेतना शून्य हो गए। इस पर गुरुदेव ने इनको सावधान कराया और हँसते हुए कहा "मैंने आज से तुझे 'घमण्डी' (कृष्णनाम का) नाम दिया।" बस उसी समय से उन्हें सभी लोग "घमण्डदेव" कहने लगे[1]।

एक दिन रासबिहारी और रासेश्वरी को रासध्यान में देखते हुए उन्होंने उनकी रासलीला का प्रत्यक्ष अनुभव किया। 'निम्बार्क-प्रभाकार'ने लिखा है कि कृपामयी श्री राधा और मंगलदाता श्रीकृष्ण ने उनका हाथ पकड़कर उनसे अनुरोध किया कि 'मेरी पूर्व रासलीलाओं का पृथ्वी पर फिर से अनुकरण करो'[2]। कालान्तर में अपने गुरुदेव से आज्ञा प्राप्त कर घमण्डदेव जी ब्रज के करहला गाँव में निवास करने लगे। वहीं पर उन्होंने १२ वर्ष से कम आयु वाले ब्रजवासी बालकों को लेकर रासलीला अनुकरण का सर्वप्रथम प्रवर्तन किया। उसी समय से रासलीला का निरन्तर प्रसार होता जा रहा है। रासलीला-अनुकरण सम्बन्धी विभिन्न मतों पर हमने सम्प्रदाय की उपासना पद्धति और उत्सव-प्रणाली शीर्षक में अन्यत्र विचार किया है। सर्वेश्वर के सम्पादक ने वृन्दावन धामांक में वृन्दावन के कवि गुपालराय के कथनानुसार रासलीला अनुकरण सुख का श्री वृन्दावन से ही प्रारम्भ होना माना है और उसका स्थान वे सेवाकुंज के निकट मानते हैं[3]।

मदन मोहन अरु मुरली मनोहर राजत रासबिहारी।

सम्भवतः गुपालराय कवि की उक्त पंक्तियाँ ही उनके इस कथन का आधार हैं। इसी युक्ति के अनुसार सेवाकुंज पर घमण्डदेव जी के तीन मन्दिर विद्यमान थे जिनमें (१) ठाकुर मदनमोहन जी, (२) मुरलीमनोहर जी, (३) रासबिहारी जी की प्रतिमाएँ विद्यमान थीं। सम्भव है रासबिहारी की प्रतिमा वहाँ पर रासलीलानुकरण सिद्धि की स्मृति के रूप में प्रतिष्ठित की गई हों।

उद्धव घमंडदेव जी का प्रभाव विस्तार—

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि और गायक श्री ध्रुवदास जी ने उद्धवघमंडदेव जी को 'श्यामाश्याम का अमर गायक' और उनके 'प्रेमरस में दृढ़ता सहित घुमड़ने वाला

१—आचार्य परम्परा परिचय, पृ० २६।

२—निम्बार्क प्रभा, बाबा हंसदास, पृ० ११३।

३—सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक, पृ० २२६।

कहा है। अतः इनका समय ध्रुवदासजी से पहले होना चाहिए क्योंकि उनके समय में इनकी यथेष्ट प्रसिद्धि हो चली थी और इसी कारण उसका उल्लेख ध्रुवदास जी ने किया है[1]। ब्रज में उद्धव घमंडदेव जी का आज भी बहुत सम्मान है। ब्रज की सीमा पर लीखी गाँव में आपकी चरण पादुकाएँ हैं। गोवर्द्धन में किलोलकुण्ड पर श्री नारायणदास जी जितेन्द्रिय रहते थे, वे घमंडदेव जी की शिष्य-परम्परा में से थे, उनके शिष्य श्री राधिकादास जी हुए। वृन्दावन के श्री धर्मदास जी परम भागवती पण्डित, श्री जी की कुंज वृन्दावन के श्री गोकुलदास जी गवैया, परम भागवत् पं० राधिकादास जी, पं० किशोरदास जी वृन्दावन वाले श्री भगवानदास जी और दूधाधारीजी इनकी शाखा के प्रसिद्ध पुरुष हुए। उद्धव-घमण्डदेव जी के द्वारे के विशेष स्थान हरियाना पंजाब, राजपूताना आदि में अधिक हैं। हरियाना में गोली नामक स्थान बहुत बड़ा है। काठियावाड़ में सींगड़ा और पोरबन्दर में भी अच्छे स्थान हैं। मुकुन्द तीर्थ पर एवं गोहद ग्वालियर राज्य में विशेष स्थान हैं। अन्य स्थान द्रुग "मध्यप्रदेश" के 'बड़ामठ' नाम से है। हाटी, बिजौलिया (बिहार में) एवं मेदिनीपुर बङ्गाल के बड़े स्थानों में हैं। वृन्दावन में ज्ञानी जी की बगीची नाम से एक सुन्दर स्थान इसी शाखा का है[2]।

श्री लापरगोपाल जी का द्वारा –

श्री हरिव्यासदेव जी के प्रमुख शिष्यों में एक लापरगोपाल जी भी थे। इनको "लपरा गोपाल" भी कहा जाता है। प्रसिद्धि है कि श्री स्वभूरामदेव, परशुरामदेव आदि शिष्यों को जनकल्याण के निमित्त देश के विशेष भागों में भेजने पर भोजनव्यवस्था का समस्त भार इन्होंने अपने ऊपर लिया था परन्तु उसे वे न निभा सके थे इस कारण विनोद में गुरुदेव ने उनका नाम लपरा (झूंठा) गोपाल रख दिया। इस द्वारे का भारतवर्ष के विस्तृत-राज्याधिकारी एवं राजामहाराजाओं पर विशेष प्रभाव रहा जिसके लिए उसकी प्रसिद्धि चली आती है।

इस द्वारे का प्रधान स्थान धुलेड़ा जिला रोहतक में है। उसके पास मुजफ्फरपुर (पंजाब) जहानगढ़ और जयपुर राज्यान्तर्गत बाँसखोई में इसका अच्छा प्रभाव है।

लापरगोपाल की शिष्य परम्परा का विकास–

लापरगोपाल जी का समय विक्रम की १६ वीं शती के उत्तरार्द्ध से लेकर १७ वीं शती के प्रारम्भ तक माना जाता है। इनकी शिष्य-परम्परा की १३ वीं पीढ़ी में ब्रह्मचारी गिरधारीशरण जी हुए, जो अपने समय के तपोनिष्ठ महात्मा और सिद्ध माने जाते थे।

१—**घमण्डी रस में घुमड़ि रह्यौ, वृन्दावन निज धाम।**
वंशीवट तट वास किय, गाये श्यामाश्याम॥
—ध्रुवदास की **बयालीस लीला** पृ० ३०।

२—**आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोरदास, पृ० २८।**

ब्रह्मचारी गिरधारीशरण--

श्री गिरधारीशरण का बचपन का नाम गणेशराम था। उनका जन्म सं० १८५५ वि० माघ शुक्ला ५ को सवाई माधौपुर के निकट लसोड़ा ग्राम के महोवतराम नामक सनाढ्य ब्राह्मण के घर में हुआ था[1]। उनके दो भाई एवं दो बहिनें भी थीं। उनके पिता जी का स्वर्गवास शीघ्र ही हो गया था इस कारण वाणिज्य एवं व्यापार के माध्यम द्वारा परिवार का भरण-पोषण करना उनका मुख्य काम था। व्यवसाय की वस्तुएँ लाने ले जाने वाले बैलों को जंगल में चराते समय सिंह ने एक बैल को मार डाला था, इस पर गणेश-राम वहाँ से चल दिया और वृन्दावन के बलदेवदास जी नामक महात्मा का शिष्य हो गया। गणेशराम का नाम अब गिरधारीशरणदेव हो गया था। महात्मा जी द्वारा प्रदत्त शालग्राम जी की सेवा करने से उन्हें गोपाल जी का साक्षात्कार हुआ। जब उनकी अवस्था ५५-५६ वर्ष की हुई तो उनके आशीर्वाद से ईशरदा के राजा रघुवीरसिंह के कायमसिंह और सरदारसिंह दो राजकुमारों का जन्म हुआ। देश की राजनीति इस समय धीरे-धीरे करवट बदलना चाहती थी। सं० १९१४ वि० में सिपाही-विद्रोह भड़क उठा। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई नानाफड़नवीस, तांत्या टोपे के नेतृत्व में एक विशाल सेना संग-ठित हुई जिसने दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, बरेली, पटना आदि स्थानों पर भीषण विद्रोह[2] किये और हजारों की संख्या में अँग्रेज, बच्चे, औरतों और अधिकारी वर्ग को मार डाला। ग्वालियर नरेश नरेन्द्रराम जीवाजीराव अपदस्थ कर दिये गए और जब उन्हें अपनी रक्षा का कोई उपाय नहीं दिखाई दिया तो वे आगरे की ओर भाग निकले। दैव वशात् उनका ब्रह्मचारी जी ओर आगमन हुआ। वे ब्रह्मचारीजी के चरणों में गिर पड़े और उनके आशीर्वाद से उन्हें ग्वालियर की गद्दी वापिस मिल गई। महाराज जीवाजीराव के कोई पुत्र न था ब्रह्मचारी जी के आशीर्वाद से उनके यहाँ राजकुमार माधवराव सिंधिया का जन्म हुआ। इसके उपलक्ष में ग्वालियर महाराज ने १२०००) वार्षिक आय की जागीर का पट्टा उनको भेंट किया और कुंज बनवाई। अन्य सेठ-साहूकारों से भी धन प्राप्त हुआ जिससे ब्रह्मचारी गिरिधारीशरण जी ने सं० १९१७ वि० में ठाकुर राधागोपाल जी, नृत्यगोपाल जी और हंसगोपाल जी की प्रतिष्ठा कराई और आचार्यपंचक की स्थापना की। इसके पूर्व निम्बार्क सम्प्रदाय में आचार्यपंचक की स्थापना वृन्दावन में नहीं थी। ईशरदा के राजकुमार श्री कायमसिंह की ईशरदा राज्य से खटपट चल रही थी ब्रह्मचारी जी ने आशीर्वाद दिया कि "ईशरदा का क्या तुमको पूरे जयपुर का राज्य मिलेगा"। कालान्तर में यह सत्य हुआ। उनको जयपुर राज्य की गद्दी भी मिल गई। राज्य के नियमानुसार इनका नाम माधवसिंह रखा गया।

इस पर उपकृत होकर उन्होंने गुरुदेव के निर्देशानुसार "माधव विलास" नामक एक विशाल मन्दिर मथुरा-वृन्दावन मार्ग पर बनवाया। इसका आकार ग्वालियर वाले मन्दिर

१—सर्वेश्वर वृन्दावन धामांक पृ० सं० ३०२।

२—ब्रिटिशकालीन इतिहास पी० ई० रावर्ट्स पृ० सं० २८१।

जैसा परन्तु उससे बहुत विस्तीर्ण रक्खा गया। कालान्तर में ब्रह्मचारी जी ने माधवविलास मन्दिर को त्याग दिया और उनके भक्तों ने यमुनातट पर एक अन्य मन्दिर का निर्माण कराया। वहाँ पर भी जब बहुत भीड़ रहने लगी तो वे वृन्दावन से दो मील की दूरी पर छटीकरा की ओर एकान्त झाड़ी में विराजे। भक्तजनों ने वहाँ भी उनके लिए श्री गिरधर-गोपाल जी का एक भव्य मन्दिर शीघ्र ही बनवाया जिसका नाम गोपालगढ़ पड़ा। इसी मन्दिर में सं० १९४८ में फाल्गुन शुक्ला १५ को ब्रह्मचारी महाराज ने निकुंजगमन किया। वृन्दावन के अतिरिक्त ब्रह्मचारी महाराज के सेवक महाराज माधवसिंह ने एक सुविशाल मन्दिर बरसाने में भी बनवाया था। इस मन्दिर में भी आचार्यपंचक की स्थापना की गई[1]। ब्रह्मचारी जी के पश्चात् श्री गोविन्दशरण और तदनन्तर श्री बिहारीशरणदेव जी उनकी गद्दी पर बैठे[2]।

बाबा राधेश्याम जी ब्रह्मचारी---

बाबा राधेश्याम जी श्री माधवसिंह जी द्वारा बरसाने की ब्रह्माचल पहाड़ी पर निर्मित विशाल मन्दिर के स्थानधारी महान्त थे। इनका जन्म सं० १९२० वि० मार्गशीर्ष में अलीगढ़ जिले के गोरई ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम बलराम था। युवा-वस्था आते ही उन्होंने घरबार का झंझट छोड़ दिया। वृन्दावन आये और वहाँ पर निम्बार्क सम्प्रदाय के उत्सवकर्ता प्रसिद्ध महात्मा श्री गोपालदास जी द्वारा दीक्षित किये गए[3]। कुछ दिनों तक गिरि-गोवर्द्धन में भगवद्भजन करते रहे। फिर सं० १९७१ में जयपुर नरेश महाराज माधवसिंह जी ने इनसे स्वनिर्मित बरसाने के मन्दिर का उत्तर-दायित्व सँभालने का विशेष आग्रह किया और वह इन्हें स्वीकार करना पड़ा[4]। उक्त मन्दिर की गद्दी का संचालन आपने बड़ी योग्यता से किया जिससे समस्त ब्रज, जयपुर, भरतपुर तथा राजस्थान के अन्य भागों में अच्छी प्रतिष्ठा हुई। लगभग तीस वर्ष तक निरन्तर कार्य करने के पश्चात् आपने ब्रज-रज प्राप्त की। तपोनिधि महाराज गिरधारी-शरण जी और ब्रह्मचारी बाबा राधेश्याम जी दोनों महात्माओं ने अपने ऊँचे व्यक्तित्व और लोक परायणता से ब्रज प्रदेश में अच्छी कीर्ति अर्जित की। हरिव्यासदेव जी के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित अन्य द्वारों का कोई प्रत्यक्ष विवरण इस समय उपलब्ध नहीं है।

सम्प्रदाय का प्रभाव

इस सम्प्रदाय का उद्गमस्थल ब्रज प्रान्त है। ब्रज, राजस्थान, पूर्व भारत, पंजाब का पूर्वी भाग, मध्यभारत, विन्ध्यप्रान्त इन प्रदेशों के मण्डल निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रचार

१—सर्वेश्वर वृन्दावन धामांक, पृ० ३०३।

२—वही वही वही।

३—निम्बार्क माधुरी, पृष्ठ ७७५।

४—वही ब्रह्मचारी बिहारीशरण, पृष्ठ ७७४।

क्षेत्र रहे हैं[१]। तीर्थ-स्थलों के आकर्षण और साधु-सन्तों के देश-भ्रमण के द्वारा सभी प्रान्तों में इसका विस्तार होता रहता था। निम्बार्क सम्प्रदाय में निवृत्ति धर्म की भावना है। इसका नेतृत्व त्यागी साधु-सन्तों के आधीन रहा है। इसलिए सामूहिक रूप से तो जनता इनके मत की अनुगामिनी कम हुई परन्तु इनके सदाचार पूर्ण उपदेश और भक्तिभाव का व्यापक प्रभाव इस भाग में व्यापक रूप से पड़ा। इस सम्प्रदाय की उपासनाप्रणाली किसी नये मत के रूप में नहीं आई, वह सनातन शास्त्र-पुराणों के अनुकूल ही प्रचारित हुई[२]। इस सम्प्रदाय के उपदेशों में जनता को अपनी भूली हुई निधि फिर से प्राप्त होती थी जिसके कारण मत-मतान्तरों की नीरस, क्लिष्ट विचारधाराओं का दुर्भाव यहाँ न फैल सका। आचरण की स्वच्छता से नैतिक बल और त्याग के भाव उत्तरोत्तर बढ़ते रहे।

मुसलिम विजेताओं के क्रूर कृत्यों का लक्ष्य व्रज-मण्डल रहा। दिल्ली-आगरा के मध्य होने से अनायास उनके आघात इस प्रदेश को सहने पड़े[3]। इनसे पहले बौद्ध, जैन, तान्त्रिक, नाथ सभी मतों ने यहाँ अपने विस्तार का पूरा प्रयत्न किया था। फिर भी यहाँ की साधारण जनता अपनी पुरानी संस्कृति और आचार-विचार में दृढ़ निष्ठा रखती आरही है। आजकल भी यहाँ की जैसी शुद्ध सरल रीति-नीति है वैसी अन्यत्र उन प्रदेशों में नहीं देखी जाती जहाँ मुसलिम अत्याचार यहाँ से कम मात्रा में हुए थे। जीव दया, अतिथि-सत्कार, पवित्रता, त्याग, सन्तोष, सरलता, वीरता के गुण जो इस देश में अधिक पाये जाते हैं इन्हें इन सन्तों का प्रसाद ही मानना चाहिए। मद्य, माँस, हिंसा का प्रचार निम्नवर्ग में भी नहीं है। खाने-पीने में पवित्रता पर अधिक बल रहता है। विवाह आदि में परम्परा का पालन कड़ाई से होता है। आस्तिकता, श्रद्धा, भक्ति रोम-रोम में पायी जाती है। इस भू-भाग के निवासी शताब्दियों से अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध शक्तिपूर्वक करते रहे हैं। इन विशेषताओं में निम्बार्क-सम्प्रदायी साधु-सन्तों के उपदेश काम करते दीखते हैं[४]।

जिस समय अन्य सम्प्रदायों का अभ्युदय नहीं हुआ था, उससे पहले से ही इस सम्प्रदाय के मठ-मन्दिर-स्थानों की शृङ्खला इस क्षेत्र के गाँव और तीर्थ-स्थलों में व्याप्त हो चुकी थी। इसका एक प्रमाण मथुरा के चतुर्वेदी तीर्थ-पुरोहितों के सैकड़ों वर्ष पुराने बही-खातों से मिलता है[५]। अब भी अन्य सम्प्रदायों का प्रभाव प्रमुख नगरों और कस्बों में ही सीमित है, जबकि निम्बार्क सम्प्रदाय जन-जीवन में दूर-दूर तक प्रविष्ट मिलता है। इसी से

१—आचार्य परम्परा परिचय, पृष्ठ २१, ४५।

२—'ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपताऽपिश्रुतिसूत्रसाधिता।' दशश्लोकी ७

६—व्रज का इतिहास, पृ० १४२, श्रीकृष्णदत्त बाजपेयी।

४—सुदर्शन सं० १९९३, पृष्ठ ७९।

५—मथुरा के चतुः सम्प्रदायी तीर्थ पुरोहित श्री तप्पी चौबे के बहीखाते पृ० ४४।

गोपालक ग्रामीणों की श्रद्धा इधर देखकर कुछ लेखकों को इस प्रकार की कृष्णभक्ति में आभीर सभ्यता की गन्ध मिलने लगी, जो निर्मूल है[1]।

नवोदित मत-मतान्तरों को प्रभावित करने में भी इस सम्प्रदाय का बड़ा हाथ रहा है। गोपालकृष्ण, ब्रज निकुंजबिहारी और राधाकृष्ण युगल स्वरूप की उपासना प्रचलन का श्रेय इसी सम्प्रदाय को प्राप्त है। पश्चाद्भावी भक्त और प्रचारकों पर इसकी किसी न किसी रूप में छाप पड़ती रही। यह स्पष्ट है।

महात्मा कबीर के प्रधान शिष्य धर्मदास द्वारा प्रवर्तित एक धर्मदासी शाखा प्रसिद्ध है। आजकल के कबीरपन्थी विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस शाखा के प्रथम आचार्य श्री भगवानदास जो पीछे धर्मदास प्रसिद्ध हुए पहले निम्बार्कीय वैष्णव थे[2]। कबीर जी का समागम होने पर वे एक समझौते के रूप में उनके शिष्य हुए। अपनी गुरु-परम्परा में समासीन भगवानदास जी ने अपने पूर्वगुरु से यह निश्चय किया कि कंठी, तिलक और लंगोटी आप से प्रदत्त यही होंगी, शेष क्रिया-कलाप कबीर जी का रहेगा। ऐसे कुछ कबीर-पन्थियों के गले में अब भी निम्बार्कीय भक्तों जैसी कंठी, लँगोटी और मस्तक पर तिलक देखा जाता है[3]। इस प्रकार कबीर पन्थ के सहयोग से निम्बार्कीय भगवानदास जी अथवा धर्मदास जी ने वैष्णवता के प्रचार में प्रगतिशील काम किया। धर्मदासी शाखा मध्यप्रदेश में अब तक इसी रूप में प्रचलित है।

इतिहासविद् यह भी भलीभाँति जानते हैं कि विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्रणामी पन्थ के संस्थापक स्वामी प्राणनाथ जी भी निम्बार्की थे[4]। और वीर बुन्देलों में संलग्न शौर्य का भाव उन्होंने नये रूप में भरा था।

१—**वैष्णविज्म शैविज्म, डा० भांडारकर पृ० ५३।**

२—**कबीरपन्थी धनवती मठ जिला छपरा के कारबारी, श्री साधुशरण गो० द्वारा प्रकाशित 'भक्ति पुष्पांजलि' सन् १९५० गोपाल प्रेस काशी में मुद्रित स्तोत्र-पुस्तक में पृ० ४० पर लिखा है कि पूज्यपाद श्री भगवानदास गोस्वामी साहब निम्बार्काचार्य के अनुयायी थे फिर वे कबीर साहब के भक्त हो गये।**

३—**सालिगराम की सेवा करई, दया धरम बहुतै चित्त धरई।**
भागवत गीता बहुत कहाई, प्रेम भक्ति रस पियै अघाई।
मनसा वाचा भजै गुपाला, तिलक देइ तुलसी की माला।
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा पृ० २६१।

४—**कल्याण, वर्ष १२ अंक ४, पृ० ७९ पर निजानन्दीय आचार्य श्री गोपालदास जी की आज्ञा से ब्रह्मचारी कृष्णप्रियाचार्य लिखित चरित्र द्रष्टव्य, "प्राणनाथ जी के गुरु श्री देवचन्द्र जी हरिदास स्वामी जी के शाखा सम्प्रदाय के शिष्य थे। आप ४० वर्ष तक श्री बाँकेबिहारी जी के किरीट आदि की पुष्प सेवा करते रहे। श्री रामेश्वर प्रभु का साक्षात्कार होने पर उन्होंने निजानन्दी सम्प्रदाय चलाया।"**

इनके प्रणामी मत का प्रचार मध्यप्रदेश और सौराष्ट्र में अब तक चला आता है। निम्बार्क सम्प्रदाय कुछ सन्तोषी सा है। इसमें वाह्य आडम्बर को स्थान नहीं दिया गया। इस कारण इसकी कोमल उपासनाविधि संघर्ष और विग्रह के अवसरों पर सन्तुलित रहने लगी। शास्त्रवाद और श्रद्धा के अवसरों पर इसके धुरन्धर उपदेशकों का अच्छा प्रभाव रहा। नैतिक बल की भी यथेष्ट अभिवृद्धि हुई। किन्तु देश और धर्म-रक्षक क्षत्रियों के युद्धों में स्वतन्त्र संगठन के रूप में इन्होंने वैसा भाग नहीं लिया जैसा रामसनेही आदि दलों में देखा गया। चतुः सम्प्रदायी वैष्णवों के प्रति उदार बन्धुभावना का यह भी उदाहरण है कि परशुरामदेव जी, चतुरचिन्तामणि नागा जी आदि की जमातों में अन्य सम्प्रदायों के साधु-संत भी सम्मिलित रहते थे[1]। जमातों की परम्परा में यह रीति अब तक चली आरही है। इस प्रकार जनमत, उपासना, सदाचार, देशधर्म-रक्षा सभी दृष्टियों से निम्बार्क का चतुःरस्त्र प्रभाव देश में दिखाई देता है। यद्यपि काल प्रभाव से अनेक प्रसंग विस्मृत या विलुप्त हो गये हैं।

१—इण्डियन साधूज़ पृ० २०४…प्रो० जी० एस० घुरे।

——

तृतीय अध्याय

सम्प्रदाय के मूलाधार ग्रन्थ, अध्ययन सूत्र एवं आचार सूत्र।

सम्प्रदाय के मूलाधार ग्रन्थ।

(अ) १--प्रस्थान त्रयी--

ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता तीनों की प्रस्थान त्रयी संज्ञा है। इनमें ब्रह्मसूत्रों (वेदान्त सूत्रों) पर श्री निम्बार्काचार्य, श्रीनिवासाचार्य, श्री देवाचार्य, श्री सुन्दरभट्टाचार्य, श्री केशवकाश्मीरी भट्टाचार्य और माधवमुकुन्द आदि के वृत्तिभाष्य और टीकाओं का विशेष महत्व है।

श्री निम्बार्काचार्य ने जो विवरण लिखा है उसे वृत्ति कहते हैं। उसका नाम है "वेदान्तपारिजातसौरभ", यह बहुत ही संक्षिप्त है। श्री श्रीनिवासाचार्य का भाष्य उसकी अपेक्षा विस्तृत है अतः उसे 'वेदान्त कौस्तुभ' कहते हैं। ब्रह्म, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्वों का ब्रह्मसूत्र के आधार पर इस प्रकार विवेचन किया गया है:—'ब्रह्म वही है जिसका स्वरूप, गुण, शक्ति, स्वभाव से ही अनन्त और अचिन्त्य है। उसका स्वरूप भी व्यापक है, गुण भी व्यापक है और शक्ति भी व्यापक ही है। उसके रमाकान्त, पुरुषोत्तम आदि अनन्त नाम हैं। मुमुक्षु को उसी ब्रह्म की निरन्तर जिज्ञासा करनी चाहिए[१]।'

इस अचिन्त्य, विचित्र आकृति वाले एवं असंख्य नाम और रूपों वाले विश्व की रचना, स्थिति (पालन) और उसका संहार उसी ब्रह्म के द्वारा होता है[२]।

उस ब्रह्म (परमात्मतत्व) का ज्ञान वेदादि शास्त्रों द्वारा ही हो सकता है[३]। यद्यपि वेदों के भी कई मन्त्रों में ऐसा उल्लेख हुआ है कि वेद-शास्त्रों द्वारा भी ब्रह्म का वर्णन होना कठिन है तथापि उन मन्त्रों का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म सर्वथा वेदादि शास्त्रों का विषय है ही नहीं अपितु उन वाक्यों का यह तात्पर्य समझना चाहिए कि ब्रह्म के अनन्त होने के कारण वेदादि शास्त्रों को उसकी इति का पता नहीं चल सकता अर्थात् शास्त्रों को भी उसका पार नहीं मिलता।

वेदों में कर्म, ज्ञान, उपासना का भी वर्णन है किन्तु वह ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही किया गया है। इसलिए यही कहना होगा कि समस्त वेद-शास्त्र ब्रह्म (परमात्मा) के वर्णन में पर्यवसित हैं[४]।

संक्षेप में वेदान्त की चतुःसूत्री का श्री निम्बार्काचार्य की व्याख्यानुसार सारांश यही है।

१—ब्रह्मसूत्र भाष्य १—१—१।
२—वही वही १—१—२।
३—वही वही १—१—३।
४—वही वही १—१—४।

श्री श्रीनिवासाचार्य जी ने इसका विशेष स्पष्टीकरण कर दिया है। उन्होंने पहले सूत्र के भाष्य में ही ब्रह्म के साथ-साथ मुमुक्षु (जीव) प्रकृति, काल और भगवद्धाम का भी विवेचन कर दिया है।

श्री निम्बार्काचार्य के सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान-नियन्ता, सर्व व्यापक और समस्त विश्व का आधार तथा कारण है। श्रीनिवासाचार्य ने अपने भाष्य में इस मान्यता की पुष्टि के लिए वेद उपनिषद् आदि के वाक्यों का भी उद्धरण दिया है। (दृष्टव्य वेदान्त कौस्तुभ भाष्य प्रथम सूत्र)।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञान मयं तपः

इस श्रुति द्वारा ब्रह्म को सर्वज्ञ बतलाया है। ब्रह्म सर्वज्ञ है वह भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों की सभी स्थितियों को अच्छी प्रकार जानता है। यह आलोचनात्मक ज्ञान ही उसका तप है।

जब द्रष्टा, साधक-जीव, उस स्वच्छ तेजोमय वर्ण वाले जगत् को रचने वाले एवं शासन वाले ब्रह्मयोनि वेदों द्वारा प्रतिपाद्य पुरुषोत्तम को देख लेता है अर्थात् जान लेता है तब सभी पुण्य-पापों से मुक्त होकर निष्कलमष हो ब्रह्म के समान ही बन जाता है[1]।

भिन्न होते हुए भी प्रत्येक प्राणी से निरन्तर संलग्न रहने वाले परमात्मा का अनुभव हो जाने पर साधक के हृदय की सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। उसके समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और भले-बुरे सभी कर्म भी क्षीण हो जाते हैं अर्थात् वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है[2]।

इन प्रमाणों द्वारा ब्रह्म को साकार और रूपवान् तथा जीव से भिन्न बतलाया गया है किन्तु वह व्यापक और सर्वाधार है और जीव अणु (सूक्ष्म) है। अतः यह किसी भी स्थिति में सर्वाधार ब्रह्म से भिन्न नहीं रह सकता। इसलिए जीव ब्रह्म से भिन्न है और अभिन्न भी। अतएव जीव और ब्रह्म का भेदाभेद एवं भिन्नाभिन्न सम्बन्ध माना गया है। इसी का नाम "द्वैताद्वैत" भी है। वेदान्त भाष्यकारों ने इस विषय में अपने-अपने भिन्न-भिन्न अभिमत प्रकट किये हैं, जैसे शंकराचार्य के अनुसार अद्वैत, अभेद अर्थात् जीव और ब्रह्म अभिन्न ही हैं। श्री रामानुजाचार्य ने अपने वेदान्तसिद्धान्त का नाम 'विशिष्टाद्वैत' रखा है। उनके मत से एक स्थूल चिद् अचिद् विशिष्ट ब्रह्म है और एक सूक्ष्म चित् अचित् विशिष्ट,इनमें पहला दृश्यमान है और दूसरा अदृश्य है, किन्तु दोनों ब्रह्मों (विशेष्यों) में भेद नहीं है। भेद है तो वह विशेषणों में हो सकता है। अतएव उस मत का नाम 'विशिष्टाद्वैत' रखा गया। इसी प्रकार विष्णु स्वामी और बल्लभाचार्य के वेदान्तसिद्धान्त का नाम, 'शुद्धाद्वैत'

१—यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।

२—भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

रक्खा गया। उनके मत से शुद्ध ब्रह्म एक ही है, दो नहीं, इसीसे उसे 'शुद्धाद्वैत' कहते हैं।

शंकराचार्य के अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत ये दोनों मत श्री निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत का ही अनुसरण करते हैं केवल नाममात्र का ही भेद किया गया है[1]। श्री शंकराचार्य के कुछ ही परवर्ती भट्टभास्कर ने भी ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य करते हुए यद्यपि भेदाभेद ही सिद्धान्त माना है तथापि औपाधिक शब्द और जोड़कर श्री निम्बार्काचार्य के भेदाभेद से पार्थक्य दिखलाया है। उनका कहना है कि उपाधि के कारण ही जीव जगत् और ब्रह्म से भिन्न है। उपाधि मिटने पर भेद नहीं रहता। किन्तु श्री निम्बार्काचार्य का सिद्धांत स्वाभाविक भेदाभेद है। सभी अवस्थाओं में और सदा सर्वदा यहाँ तक कि मुक्त अवस्था में भी जीव अपने धर्मों की विभिन्नता के कारण ब्रह्म से भिन्न ही है। हाँ, वह व्याप्य, नियम्य, आधेय होने के कारण ब्रह्म से अभिन्न भी है। कारण यह है कि सर्वाधार ब्रह्म को छोड़कर वह और कहीं भी नहीं जा सकता। भट्टभास्कर को बहुत से लोग निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही मानते हैं। यह सम्भव भी है किन्तु कुछ विचारधाराओं में श्री निम्बार्काचार्य के सिद्धान्त से उनका मन्तव्य भिन्न है[2]। श्रीनिवासाचार्य ने जिस सूत्र के विवरण में कहा है कि चेतनस्वरूप जीवात्मा को विभु मानने वालों के मत में दोष दिखाने के लिए ही वह (नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि) सूत्र रचा गया है किन्तु भट्टभास्कर इस मन्तव्य से विपरीत हैं। उन्होंनें कहा है "यह अवतरणिका ठीक नहीं जँचती[3]।"

श्री निम्बार्काचार्य के सिद्धान्तानुसार जीव, चेतन का अणु-परिमाण और वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। शरीरों के साथ उनका कभी संयोग और कभी वियोग होता रहता है। वह ज्ञान स्वरूप भी है और ज्ञानवान भी। श्री शंकराचार्य और निम्बार्काचार्य की यद्यपि यह मान्यता एकसी ही है। ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है और वही निमित्त कारण भी। किन्तु श्री शंकराचार्य का कथन है कि जीव में ज्ञान है ही नहीं। कारणवश कभी जीव में ज्ञान पैदा होता है। वे जीव-आत्मा को कर्ता-भोक्ता भी नहीं मानते, उनके मत से आत्मा निर्गुण है निराकार और निर्विशेष एवं सभी धर्मों से रहित है, न उससे जगत् की सृष्टि होती है न वह पालन व संहार ही करता है, वह तो केवल सच्चिदानन्दस्वरूप है। जो ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एवं संहार करता है उससे माया के सम्बन्ध को शंकराचार्य के मत से 'मायावाद' कहते हैं।

श्री निम्बार्काचार्य और उनके पट्ट शिष्य श्री निवासाचार्य को छोड़कर श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री बल्लभाचार्य और श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों में 'वेदान्त रत्नमंजूषाकार' श्री पुरुषोत्तमाचार्य के अतिरिक्त श्री देवाचार्य श्री सुन्दरभट्ट आदि में से प्रत्येक ने शंकराचार्य के मत की आलोचना की है। श्री केशव-

---

१—द्रष्टव्य श्री रामानुज का श्रीभाष्य और श्री बल्लभाचार्य का अणुभाष्य।

२—ब्रह्मसूत्र अध्याय २ पाद ३ सूत्र ११।

३—चेतन-भूतात्मा विभुत्व वादिमते दोषकथनार्थसूत्रम्, ब्र० सू० २, ३, ३१ श्रीनिवास भाष्य।

काश्मीरी भट्टाचार्य ने तो 'वेदान्त-कौस्तुभप्रभा' में अनेकों स्थलों पर श्री शंकराचार्य के नाम का भी उल्लेख किया है। भट्टभास्कर ने तो श्री शंकराचार्य के मत की समीक्षा के लिए ही ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा है। यह उनके आरम्भिक श्लोक से स्पष्ट हो रहा है[1]। इन सभी वैष्णवाचार्यों के भाष्यों को देखने पर शंकरमत (अद्वैतवाद) एक कपोल-कल्पना सी प्रतीत होने लगती है। यदि गम्भीर दृष्टि से विचार कर सबका समन्वय किया जाय तो श्री निम्बार्काचार्य के स्वाभाविक भेदाभेद सिद्धान्त में सब वादों का समावेश हो जाता है। वेद-शास्त्रों की अनुकूलता जितनी निम्बार्क सिद्धान्त को मिलती है उतनी अद्वैत आदि दूसरे मतों को नहीं मिलती। अतएव कई मन्त्रों के अर्थ करते समय उन्हें क्लिष्ट कल्पना भी करनी पड़ती है किन्तु निम्बार्क-सिद्धान्त की विशेषता है कि उनके अनुसार वेदों के किसी भी वाक्य की तोड़-मोड़ नहीं करनी पड़ती।

श्री शंकराचार्य ने अपने रचे हुए ब्रह्मसूत्र-भाष्य और बृहदारण्य उपनिषद् भाष्य में श्री निम्बार्क सिद्धान्त (भेदाभेद) की समीक्षा की है। किन्तु श्री निम्बार्क और श्रीनिवास भाष्य में कहीं भी शंकरमत की आलोचना नहीं मिलती। इससे स्पष्ट होता है कि श्री निम्बार्काचार्य शंकराचार्य से बहुत पूर्व हुए हैं[2]। जिन लेखकों ने यह लिख दिया है कि निम्बार्क भाष्य पर रामानुज के श्री भाष्य की छाया है वह उनकी नितान्त भूल है क्योंकि श्री भाष्य में द्वैताद्वैत की आलोचना मिलती है किन्तु निम्बार्क और उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य के भाष्य में कहीं भी श्री रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत की चर्चा तक नहीं। हाँ, केशव काश्मीरी कृत 'वेदान्त-कौस्तुभप्रभा', माधवमुकुन्द कृत 'परपक्षगिरिवज्र' तथा पुरुषोत्तमप्रसाद और अनन्तराम कृत 'श्रुत्यन्त सुरद्रुम मंजरी' एवं 'वेदान्त तत्व बोध' में विशिष्टाद्वैत की समीक्षा खुलकर की गई है क्योंकि इन आचार्यों की रचना रामानुज के श्री भाष्य से पीछे की है।

श्री निम्बार्काचार्य ने अपने सिद्धान्त के समर्थन में दो उदाहरण दिए हैं एक वृक्ष और उसके पत्तों का। दूसरा समुद्र और उसकी तरंगों का। जैसे वृक्ष के रूप से तो पेड़, डाली और पत्ते आदि सब अभिन्न हैं किन्तु जब सबका विश्लेषण किया जाय तब अपने-अपने रूपों से ये भिन्न भी हैं ही, क्योंकि केवल डाली, पत्र, पुष्प, फल को कोई भी वृक्ष नहीं कह सकता। ऐसे ही तरंगें समुद्र को छोड़कर इधर-उधर नहीं जातीं अतः वे समुद्र से अभिन्न हैं किन्तु उन्हें समुद्र से नितांत अभिन्न भी नहीं कह सकते कारण एक या अनेक तरंगों को समुद्र नहीं कहा जा सकता। यह उदाहरण हम प्रत्येक वस्तु में घटा सकते हैं। किसी रूप में एक वस्तु की दूसरी वस्तु के साथ एकता है तो किसी रूप में विभेद भी अवश्य है। यह स्वाभाविक है, किसी के मिटाने से नहीं मिट सकता। इसीलिए श्री निम्बार्क के सिद्धान्त को स्वाभाविक भेदाभेद संज्ञा दी गई है।

१—"सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात् व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये"—भास्कर भाष्य आरम्भिक प्रतिज्ञा।

२—युगलशतक की भूमिका, पृष्ठ २७ व्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य।

इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् मिथ्या (झूठ) न होकर सब कुछ सत्य ही है। क्योंकि जब ब्रह्म सत्य है तो उसकी रचना लीला, नाम, रूप प्रभृति झूठे कैसे हो सकते हैं। सच्चा आदमी न झूठ बोलता है न कोई झूठा काम ही करता है। यह अनुभूत सिद्ध है। जब परमात्मा सब प्रकार से सत्य है तो वह झूठे जगत्-जाल की रचना क्यों करेगा ?

श्री निम्बार्क के सिद्धान्तानुसार भगवद्भावापत्ति को ही मोक्ष कहते हैं। उसका तात्पर्य यह है कि जब पाप, दोष, बुढ़ापा, मौत, चिन्ता, भूख, प्यास इन सबसे मुक्त हो जाय और जब कामना तथा संकल्प भी सच्चे ही हों तो वह मुक्तावस्था मानी जाती है। भगवान में उक्त बातें सदा रहती हैं किन्तु जीव में अनादि कर्मों की वासना के कारण वे तिरोहित सी हो जाती हैं। फिर गुरु की शरण में जाकर प्रभु की आराधना, निरन्तर उनकी लीला, शक्ति, गुण, स्वरूप का चिन्तन अर्थात् प्रेम-भक्ति हो जाती है। अतएव मुक्ति से भी बढ़कर भक्ति की प्रतिष्ठा मानी जाती है। भक्ति को कर्म और ज्ञान की उतनी अपेक्षा नहीं रहती जितनी कि कर्म और ज्ञान को उपासना की रहती है।

ब्रह्मसूत्रों का आधार उपनिषद् हैं, क्योंकि उपनिषदों का संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में सार ही वेदव्यास जी ने ब्रह्मसूत्रों द्वारा प्रकट किया है। श्री निम्बार्काचार्य ने उपनिषदों का विवरण अवश्य लिखा था किन्तु समय ने न जाने उसे नष्ट कर दिया या कहीं छिपा रखा है। श्रीनिवासाचार्य, श्री देवाचार्य, श्री सुन्दरभट्ट, श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य आदि आचार्यों ने श्री निम्बार्काचार्य की व्याख्या के अनुसार ही उपनिषदों की श्रुतियों का अर्थ किया है।

इसी प्रकार निम्बार्क का गीताभाष्य भी आज अनुपलब्ध है। श्री केशव काश्मीरी-भट्टाचार्य जी ने गीता पर तत्वप्रकाशिका टीका लिखी है। उसकी भूमिका में उन्होंने कहा है कि "श्री निम्बार्काचार्य का गीताभाष्य विस्तृत और गम्भीर होने के कारण उसी के भाव को लेकर मैं यह संक्षिप्त रूप से तत्वों को प्रकाशित करने वाली तत्वप्रकाशिका टीका लिख रहा हूँ।"

गीता में प्रकृति, जीव, ब्रह्म तीनों तत्वों का स्पष्टीकरण है। कर्म, ज्ञान, उपासना इन तीनों तत्वों का विशद विवेचन किया गया है, भाष्यकारों में से किसी ने गीता को कर्म-परक माना है, किसी ने ज्ञान परक, किन्तु श्री निम्बार्काचार्य ने गीता को भक्ति शरणागति परक ही मानी है। यही आशय श्री केशवकाश्मीरी भट्टाचार्य ने गीता के अठारहवें अध्याय की व्याख्या में विशेष रूप से वर्णन किया है[१]।

शरणागति के ६ अंग माने गये हैं[२]। (१) भगवान् की आज्ञारूपी श्रुतिस्मृतियों के अनुकूल संकल्प करना, (२) किसी भी प्राणी के प्रतिकूल आचरण एवं विचार न करना। (३) प्रभु मेरी अवश्य रक्षा करेंगे इस प्रकार का विश्वास करना। (४) अपनी

१—सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज-गीता १८—६८ का भाष्य ।

२—आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्, रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व-वरणं० तथा आत्मनिक्षेपकार्पण्य षड् विधा शरणागतिः ।

सुरक्षा आदि के लिए भी प्रभु से ही प्रार्थना करना। (५) कार्पण्य अर्थात् सभी से विनम्र होकर रहना। (६) आत्म-निक्षेप, आत्मा आत्मीय सब कुछ प्रभु के अर्पण कर देना। इन्हीं छहों में गीता का पर्यवसान हुआ है। अतएव कर्म और ज्ञान गौण हैं, उपासना मुख्य है। ख्यातियों में श्री निम्बार्काचार्य ने सत्ख्याति को स्वीकार किया है, जिसका तात्पर्य है 'सर्वंसत्' अर्थात् दृश्यमान विश्व भी सत् है क्योंकि सब कुछ विज्ञानमय है। भगवान् ही इसके उपादान कारण हैं और वे ही इसके निमित्त कारण भी हैं अतएव यह भी यथार्थ ही है। चेतन तत्व को कूटस्थ सत् अर्थात् अविकारी सत् माना है और अचेतन, तत्व, प्रकृति और उसके कार्य को परिणामी सत् माना है। कारण यह है कि इसमें प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है जिससे यह अवस्थाओं में बदलती रहती है। किन्तु तत्वतः कोई भी वस्तु विनष्ट नहीं होती।

इस मान्यता के लिए भगवान् का एक वाक्य ही पर्याप्त समझा जाता है "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" गीता २—१६।

प्रस्थानत्रयी के अनुसार ही सभी वेद, पुराण और शास्त्रों की उक्तियाँ पाई जाती हैं कोई भी इससे विपरीत नहीं। जहाँ कहीं कोई विरोध प्रतीत होता हो वहाँ भी इन्हीं के अनुसार उसकी संगति लगाई जाती है।

यह पहले कहा जा चुका है कि श्री निम्बार्काचार्य ने ब्रह्म को सगुण सविशेष साकार ही माना है इसकी पुष्टि गीता के वचनों से भी बिना किसी खींचातानी के ही हो जाती है[1]।

परमात्मा के हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक, कान चारों ओर हैं। वह इतने बड़े आकार वाला है कि उसने सारे विश्व को अपने अन्दर लपेट रखा है और फिर भी वह अनन्तगुण इस विश्व से पृथक् भी है।

इसी को दूसरे शब्दों में एकपादविभूति और त्रिपादविभूति कहा जाता है तात्पर्य यह है कि यह सारा विश्व परमात्मा के एक अंश में सन्निहित है। उनके तीन पाद दिव्य हैं उनमें तीनों गुणों वाली प्रकृति का सम्पर्क नहीं रहता। वेद भी यही प्रतिपादन करता है[2]।

श्री निम्बार्काचार्य ने समस्त श्रुति और स्मृतियों का उपरोक्त आशय एक ही श्लोक में व्यक्त कर दिया है[3]।

१—सर्वतः पाणि पादं तत् सर्वतो क्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।

२—पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि —यजुर्वेद अ० ३१ म० ३।

३—सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्यवस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपताऽपिश्रुतिसूत्र साधिता॥
—वेदान्त कामधेनु श्लोक संख्या ७।

सम्प्रदाय के मूलाधार ग्रन्थ

(आ) उपासना सूत्र—श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण और नारदीयपुराण

श्रीमद्भागवत—वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषदों में जो विषय संक्षेप में उल्लिखित हुए हैं उन्हीं का विशद रूप से वर्णन पुराणों में पाया जाता है। श्री राधाकृष्ण की पूजा-उपासना के लिए पुराणों से बहुत प्रेरणा मिलती है।

पुराणों में १८ महापुराण हैं। १८ ही उप-पुराण और १८ ही औपपुराण भी हैं। इन सब में श्रीमद्भागवत का स्थान ऊँचा माना जाता है। इसका कारण इसकी विशेषताएँ ही हैं यद्यपि अन्य सभी पुराणों की अपेक्षा यह गम्भीर और विशिष्ट भी है। इसलिए यह कहावत प्रसिद्ध है—"विद्यावतां भागवते परीक्षा" तथापि समस्त पुराणों की अपेक्षा इसका ही प्रचार अधिक है।

श्रीमद्भागवत में मनुष्यों का वही परमधर्म बतलाया गया है जिससे कि अधोक्षज भगवान् के चरण कमलों में अहेतुकी और निश्चल प्रीति हो। भगवद्भक्ति से ही मन और आत्मा स्वच्छ हो सकती है। भगवान् वासुदेव (श्रीकृष्ण) की भक्ति (उपासना) शीघ्र ही साधक के हृदय में ज्ञान और वैराग्य प्रकट करती है[1]।

भगवान् के चरित्रों की कथा सुनने से और उनकी आराधना से अमंगल नष्ट हो जाते हैं। तब चित्त में श्रीकृष्ण की भक्ति का आविर्भाव और उससे काम, क्रोध, लोभ आदि का निराकरण होता है। भगवान् की भक्ति से ही भगवत्तत्व का वास्तविक ज्ञान हो सकता है। इसलिए विद्वज्जन श्रीकृष्ण की भक्ति करते हैं[2]। पवित्र तीर्थों का निवास और महापुरुषों की सेवा से ही श्रीकृष्ण की कथा सुनने में भी अभिरुचि होती है[3]। वस्तुतः श्रीमद्भागवत का प्रमुख उद्देश्य ही जीवों को श्रीकृष्ण की भक्ति में प्रवृत्त करना है। आरम्भ में ही कहा गया है:—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्चनित्यशः। भा० १।२।१४।

अर्थात् एकाग्रचित्त होकर श्रीकृष्ण की कथा सुने उनके नामों का कीर्तन और लीलाओं एवं स्वरूप का ध्यान तथा निरन्तर उनकी ही पूजा करे। इसी प्रकार आगे छटवें स्कन्ध में उल्लेख मिलता है। सभी प्रकार की सम्पदाओं को चाहनेवाला साधक श्री लक्ष्मी,राधा और विष्णु (श्रीकृष्ण) का भक्ति से पूजन करे और विनम्र भाव से भूमि पर

१—श्रीमद्भागवत १।२।७।८।
२—वही १।२।१७ से २०।
३—वही १।२।१६।

लकुटिया की भांति गिर कर उन्हें प्रणाम करे[1]। प्रतिदिन नियम से पूजा करे श्रीराधा-कृष्ण की प्रतिमा को स्नान उबटन आदि सेवा के अनन्तर भोग लगाकर वही प्रसाद स्वयं ले[2]।

इसी प्रकार ११ वें स्कन्ध में स्पष्ट घोषित किया गया है जो सर्वात्मभाव से श्रीकृष्ण की शरण ले लेते हैं वे देवऋषि, पितृ आदि से उऋण हो जाते हैं। उनके सन्मुख कोई भी अड़चन आती है तो उसको भगवान् ही ठीक कर देते हैं[3] श्रीमद्भागवत के ११ वें स्कन्ध का १३ वाँ अध्याय निम्बार्क-सम्प्रदाय की पूर्व परम्परा और उपासना का विशेष आधार है। सनकादिकों ने ब्रह्मा जी से यह पूछा था कि मन और विषय दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं। अतएव सजातीयता के कारण ये इतने घुलेमिले हुए हैं कि इनका पार्थक्य होना ही असम्भव है। ऐसी स्थिति में मन को विषयों से किस प्रकार हटाया जा सकता है। यह प्रश्न वास्तव में जटिल है। अतः ब्रह्मा जी ने इसके समाधानार्थ भगवान् का ध्यान किया। तब हंस रूप से भगवान् का अवतार हुआ और हंस भगवान ने सनकादिकों का जैसा समाधान किया वह बड़ा महत्वपूर्ण था। उन्होंने कहा "विषय और चित्त गुणों के ही कार्य हैं। अतः चित्त निरन्तर विषयों की ओर दौड़ता है। यह बात ठीक है। किन्तु चित्त और गुण (विषय) सबका आधार मैं हूँ। अतः चित्त को मेरे रूप की ओर लगाइये[4]।" सनकादिकों को हंस भगवान् से सगुण उपासना का यह आदेश मिला था। उन्होंने यही उपदेश नारद जी को दिया और नारद जी से वह श्री निम्बार्क को मिला। श्रीराधाकृष्ण उपासना की उत्तरोत्तर यह परम्परा चली।

उद्धव जी को भी भगवान् श्रीकृष्ण ने यही उपदेश दिया था। "जो मृत्यु को जीतना चाहे वह मुझ में ही चित्त लगादे। मेरे ही लिए कार्य करे पवित्र देशों में रहे। देव असुर और मनुष्यों में जिस जिसने मेरी आराधना की है वैसा ही आचरण करे। पर्वों पर यात्रा महोत्सव मनावे। वस्त्र, आभूषण आदि से मेरी प्रतिमा को सजाकर मेरे आगे नाचे, गावे, बजावे[5]। दूसरे चाहे हँसते रहें। तिरस्कार भी करें तो भी साधक विनम्र भाव ही रखे और सब में मेरी स्थिति समझकर चाण्डाल एवं पशुओं को भी नमन करे। जब तक समस्त भूत प्राणियों में मेरी झाँकी न हो तब तक मन, बचन, काया से इसी प्रकार उपासना करता रहे[6]।

श्री निम्बार्काचार्य का "सर्वं हि विज्ञानमयं यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।"

१—श्रीमद्भागवत् ६।१६।६ एवं १०।
२—वही ६।१६।१०।
३—वही १०।५।४१—४२।
४—वही ११।१३। श्लोक १७—२६।
५—वही ११।२६। ८—११।
६—वही ११।३६। १६—१३।

यह श्लोक भागवत के निम्नांकित वाक्य से ही ठीक मिलता-जुलता हुआ है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेतसर्वतोमुक्तसंशयः[1] ॥

इसी भावना के अनुसार इस सम्प्रदाय में व्यष्टि-समष्टि रूप से भगवदुपासना प्रचलित है। जड़-चेतन में किसी से भी विद्वेष न हो वास्तव में यही सर्वोच्च भगवदुपासना है।

उपरोक्त परम्परा और उस उपासना के सम्बन्ध में श्री निम्बार्काचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र के भूमाधिकरण में स्पष्ट उल्लेख कर दिया है[2]।

श्री कपिलदेव ने भी माता देवहूती से कहा था—इसी प्रकार अनन्य भक्ति से साधक मुझको अपने हृदय में अवरुद्ध कर लेता है[3]।

जिसके हृदय में भगवद्भक्ति का पूर्ण आविर्भाव हो जाता है वह फिर किसी से कुछ भी इच्छा नहीं करता। यदि भगवान् उसे मुक्ति भी देना चाहे तो वह मना कर देता है क्योंकि प्रभु की सेवा में साधक को मुक्ति से भी अधिक आनन्द मिलता रहता है[4]।

श्रद्धापूर्वक नित्य भगवान् की कथा सुने, उनके नामों को जपे, कीर्तन करे और उन्हीं की सेवा करे तो शीघ्र ही भगवान् उसके हृदय में व्यक्त हो जाते हैं। जैसे शरद ऋतु नदियों के गदले जल को स्वच्छ बना देती है वैसे ही भगवान् का सुयश कानों के द्वारा पहुँचकर साधक के हृदय को निर्मल बना देता है। जैसे थका हुआ पथिक विश्राम स्थल को नहीं छोड़ना चाहता वैसे ही जिसका मन स्वच्छ हो जाता है वह श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के अमल चरण-कमलों को नहीं छोड़ता[5]।

ब्रह्मपुराण—

श्रीमद्भागवत की भाँति ही ब्रह्मपुराण में भी राधाकृष्ण की उपासना के सूत्र पाये जाते हैं। अनन्त दुःखाकुल इस महा घोर संसार में बड़े भाग्य से मानव-शरीर मिलता है। मानव तन में भी ब्राह्मण शरीर, विवेकपूर्णता, धार्मिक बुद्धि, कल्याणकारी पथ की अनुभूति, ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। जब तक जन्म-जन्मान्तरों के संचित पाप क्षीण नहीं होते तब तक मनुष्यों के चित्त में वासुदेव (श्रीकृष्ण) की भक्ति का अंकुर ही नहीं जमता। उसका क्रम इस प्रकार है—पहले अन्यान्य देवों की आराधना में आस्था होती है फिर अग्नि-उपासना (अग्नि होत्र) आदि में प्रवृत्ति होती है फिर क्रम से सूर्य और शंकर की आराधना के पश्चात् श्रीकृष्ण के चरणों में रति होती है[6]।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों दुःखों से छुटकारा पाने के

१—श्रीमद्भागवत ११।२९।१८।

२—ब्रह्म सूत्र १।३।८ का पारिजातसौरभ भाष्य द्रष्टव्य।

३—श्रीमद्भागवत ३।२५।१६—२६।

४—वही ३।२९।१३।

५—वही २।८।४—०।

६—ब्रह्मपुराण अ० २२८। श्लोक ४-१३।

लिए भगवत्प्राप्ति ही एक निश्चित उपाय है और वह, भगवद्भक्ति से साध्य है। अतः भगवद्भक्ति की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए[१]।

जैसे पिता अपने हठीले बालक को समझा-बुझाकर वश में रखता है उसी प्रकार क्षण-क्षण में मचलने वाली इन्द्रियों को बुद्धि द्वारा संयमित करके मन और इन्द्रियों की एकाग्रता कर लेना ही परम तप है और यही समस्त धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है[२]।

पद्मपुराण—उपासना के लिए शालग्राम की मूर्ति, मणि, मन्त्र, मंडल, प्रतिमा आदि उपयुक्त माने गए हैं[3]।

प्रतिमा-पूजा के पूर्व द्वादश ऊर्द्ध पुण्ड्र लगाना आवश्यक है, ललाट १, उदर २, हृदय ३, कण्ठ ४, दक्षिण कुक्षि ५, वाम कुक्षि ६, दोनों भुजाएँ ८, और दोनों कंधे १०, पीठ ११, और कमर १२, इन स्थानों में द्वादश व्यूह रूप से भगवान का निवास रहता है। अतः उन्हीं नामों का उच्चारण कर पुण्ड्र तिलक लगाये जाते हैं[3]। पद्मपुराण उत्तर खंड में इनका उल्लेख है। पाताल खंड में उदर के स्थान पर नाभि का और कंधों की अपेक्षा दोनों कानों का उल्लेख मिलता है। कानों के देवों में गंगा-यमुना का नाम दिया गया है[४]।

श्री राधाकृष्ण उपासक को तुलसी-काष्ठ की माला या कंठी सदा पहने रहना परमावश्यक है[५]।

पूजा-सेवा की सौंज में शंख और गरुड़ घंटा रखने का विधान है[६]। पूजा के समय ३२ अपराधों से बचते रहना चाहिए। जैसे सवारी पर या खड़ाऊँ पहनकर मन्दिर को चलना, उत्सव या सेवा के पश्चात् प्रणाम न करना, जूठे मुँह या अपवित्र दशा में नमन करना, एक हाथ से प्रणाम करना, आगे से ही परिक्रमा करना, ठाकुर के सामने पैर फैलाना, पर्यङ्क बिछाना, सोना, खाना, झूँठ बोलना, जोरों से चिल्लाना, आपस में गप्पें करना, रोना, झगड़ना, किसी को दण्ड देना, कृपा करना, क्रूर भाषण करना, व्यंग्य बोलना, अपान वायुछोड़ना शक्ति होते हुए भी पूजा में गौणता करना, बिना भोग लगाये खाना, ऋतु-फलों का अर्पण न करना, उपयोग किये हुए पदार्थों का अर्पण करना, पीठ देकर बैठना, सज्जनों की निन्दा और बड़ाई करना, गुरुदेव के जाने पर मौन रहना, अपनी बड़ाई और देवों की निन्दा करना इत्यादि[७]।

उक्त अपराधों में से कदाचित् कोई अपराध बन जाय तो प्रभु से क्षमा याचना

१—ब्रह्मपुराण अ० २३३, श्लोक ५५-५७।
२—वही अ० २३६, श्लोक १६-८।
३—पद्मपुराण पातालखण्ड, ७६।१।
४—स्वधर्माध्वबोध, पृष्ठ २८।
५—पद्मपुराण पातालखण्ड अ० ७६।१८, २१।
६—वही वही अ० ७६।६५।
७—वही वही वही।

करे[1]।

बारह मासों के विशेष उत्सव—

ज्येष्ठ में जलाभिषेक, जलशैया, आषाढ़ में रथयात्रा, देवशयन, श्रावण में झूला, भाद्रपद में कृष्णाष्टमी, राधाष्टमी आदि, आश्विन में पार्श्व परिवर्तन और साँझी शरद आदि, कार्तिक में दीपोत्सवादि, मार्गशीर्ष में वस्त्र-पूजा, पौष में पुष्पाभिषेक वर्णन, माघ में वसन्तोत्सव और खिचड़ी, फाल्गुन में दोलोत्सव, चैत्र में मदनोत्सव, यह नदनोत्सव वैशाख, श्रावण और भाद्रपद में भी किया जाता है[2]।

जो जो पदार्थ अपने को विशेष रुचिकर प्रतीत हों उनको ही भगवान् के अर्पण करे[3]।

प्रतिमा पूजा—

युगलकिशोर श्री राधाकृष्ण की पूजा-उपासना और उनका ही ध्यान करने का विधान पद्मपुराण के पातालखण्ड अध्याय ८१ के श्लोक ३५ से ५० तक पन्द्रह श्लोकों में जैसा मिलता है उसी प्रकार के ध्यान का वर्णन संक्षिप्त रूप से श्री निम्बार्काचार्य ने "स्वभावतोऽपास्त०" और "अंगेतु वामे वृषभानुजा" इन दोनों श्लोकों द्वारा किया है[4]।

श्री राधा और कृष्ण में कुछ भी विभेद नहीं मानना चाहिए। ब्रह्मादि देवों से लेकर चींटी तक चराचरात्मक समस्त विश्व श्री राधाकृष्ण की ही विभूति है[5]।

त्रिलोक में भूलोक प्रशंसनीय है, उसमें भी जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीप में भारत-वर्ष, यहाँ पर भी मथुरापुरी और उससे भी वृन्दावन श्रेष्ठतर है। वृन्दावन में गोपी, कदम्ब और उसके सन्निकटवर्ती राधा की सखियाँ पूज्य हैं। उन सखियों में श्री राधा जी परम पूजनीया हैं। सखियों की केन्द्ररूपा श्री राधा जी हैं और सबके प्राणनाथ, वल्लभ श्री राधाकृष्ण हैं। अतः राधाकृष्ण की ही पूजा उपासना करनी चाहिए और उनके ही कमल-चरणों की शरण लेनी चाहिए[6] यह आशय इसके मन्त्रार्थ प्रकरण में प्रकट किया गया है।

रसोपासना—

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में रसोपासना की प्रधानता है। जिसका आधार रसो वै सः रसं 'ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दो भवति' इत्यादि वेदों के मन्त्र और पुराण आदि शास्त्र ही हैं। पद्मपुराण पाताल खण्ड८१।३४ से आगे यह षोडश श्लोकों में वर्णित है। रसोपासना को देख

१—स्वधर्मामृतसिन्धु पृ० १०९।
२—पद्मपुराण पाताल खण्ड ७९।३४ से ४४ श्लोक तक।
३—वही वही ८०।२१ से ६० तक।
४—वेदान्त कामधेनु, ४।५।
५—पद्मपुराण पातालखण्ड ८१।४७।
६—वही वही ६०।६५।

कर यह कहना अनुचित न होगा कि, श्री हरिव्यासदेवाचार्य जी ने स्वरचित गोप्यतम महा-वाणी में जिस रसोपासना का चित्र खींचा है वह पद्मपुराण के उक्त स्थलीय वर्णन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। रसभावना वाले साधक को चाहिए कि वह श्री प्रिया जी के साथ हँसते हुए और उनको हँसाते हुए रति-केलि द्वारा रसावेश से चपल नयन मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र का ध्यान करे[1]। उनके वामभाग में नील वस्त्रों से विभूषित तप्त-कंचन के समान वर्ण वाली श्री राधा जी विराजमान हैं। उन्होंने अपने पटांचल से आधा-मुख-कमल ढँक रखा है और श्री श्यामसुन्दर के मुखारविन्द में अपनी दृष्टि लगा रखी है। वे अँगूठा और तर्जनी से प्राणनाथ प्रियतम नन्दनन्दन के मुख-कमल में ताम्बूल अर्पित कर रही हैं। मोतियों का हार पहने हुए हैं। सुन्दर पीन और उन्नत पयोधर, झीनी कमर तथा पृथुल श्रोणी भाग वाली नव-यौवन-सम्पन्न सर्वावयव-सुन्दरी सुप्रसन्न चित्त वे श्री राधा जी आनन्द रस में मग्न हैं। अनन्त सखियाँ चामर, व्यजन आदि से उनकी परिचर्या कर रही हैं। उनकी वयस और गुण भी श्री राधा जी जैसे ही हैं[2]।

श्री राधाकृष्ण की उपासना करने के लिए पहले पंच संस्कारपूर्वक सद्गुरु से मन्त्र-दीक्षा लेना परम आवश्यक है[3]। ललाट आदि स्थानों में कुछ ऊर्ध्व पुण्ड्र शंख-चक्र की मुद्राएँ, दासान्तनाम, युगलमन्त्र और गुरु-वैष्णव-पूजा, रूपयाग इन संस्कारों से सहित जिस गुरुदेव से, मन्त्रोपदेश ले, उसको अपना सर्वस्व या उसका आधा भाग अर्पण करना चाहिए। विरक्त साधक को तो उचित है कि अपनी देह भी गुरुदेव को समर्पण करे और फिर आजीवन अकिंचन होकर युगलकिशोर की आराधना करे[4]। रसपद्धति वाले साधक को अपने को श्रीकृष्णप्रिया श्री राधा जी की सखी मान कर दिन-रात श्री युगलकिशोर की सेवा करना अभीष्ट है। यह भाव रसिकों का अन्तरंग-धर्म कहलाता है। श्री हरिव्यासदेवाचार्य ने कहा है। प्रातकाल उठते ही सखी भाव को धारण करे फिर युगलकिशोर की सेवा में संलग्न हो[5]।

इस सम्बन्ध में श्री शङ्कर जी ने नारद जी को अपना पूर्व वृत्तान्त सुनाकर स्पष्टी-करण किया है। जिसका कथानक इस प्रकार है। "आराधना से प्रसन्न होकर श्री नारायण ने शङ्कर जी को वर माँगने का आदेश दिया तब उन्होंने परात्पर परब्रह्म के परमानन्द-दायक रूप को देखना चाहा। उस पर श्री नारायण ने उन्हें यमुना के पश्चिम तट श्री वृन्दावन में जाने की आज्ञा दी। तदनुसार शङ्कर जी वहाँ पहुँचे और उन्होंने युगलकिशोर श्रीराधाकृष्ण के अनुपम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया। दर्शन कर वे चकित हो गये। प्रसन्न होकर श्री श्यामसुन्दर ने कहा—हे "शङ्कर ! श्री राधा के साथ मैं यहाँ ही रहता हूँ वृन्दावन को छोड़कर कभी भी कहीं नहीं जाता। कहिए अब आप क्या चाहते हैं। शङ्कर

१—पद्मपुराण पातालखण्ड ८१।४२—४३।
२—वही वही ८१। ४४ से ५० तक।
३—वही वही ८२।१६।
४—वही वही ८२।१७।
५—प्रातकाल ही उठिकै धारि सखी को भाव— महावाणी सेवासुख पृष्ठ २४।

जी ने कहा "प्रभो ! मैं आपके इस रूप का सदा ही दर्शन करता रहूँ ऐसी कृपा करिये।" तब श्री श्यामसुन्दर ने कहा—"गोपी भाव से उपासना करने पर ही यह अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। किन्तु आपको श्री वृषभानुनन्दिनी के चरणकमलों का आश्रय लेना होगा। तभी मैं तुमसे सन्तुष्ट हो सकूंगा।"

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मत्प्रिया-शरणं व्रजेत्। आश्रित्य मत्प्रियांरुद्रऽमां वशीकर्तुमर्हसी[1]।

श्रीकृष्ण भगवान् ने ही श्री शङ्कर जी को दक्षिण कान में युगलमन्त्र सुनाया। तब से फिर शङ्कर निरन्तर वृन्दावन में ही रहने लगे।

यह वृत्तान्त सुनकर श्री नारद जी ने भक्ति मार्ग पूछा। तब शङ्कर जी ने उनसे कहा—"श्री नारद ! उस लीला को मैं अभी तक अच्छी प्रकार नहीं जान पाया हूँ। अतः आप वृन्दादेवी के पास जाइये। उनका आश्रम केशीतीर्थ के सन्निकट है। वे गोविन्द की प्रिय परिचारिका हैं। अतः वे ही आपको भाव-मार्ग बतलायेंगी ?" शङ्कर जी के आदेशानुसार श्री नारद जी ने वहाँ पहुँचकर विनम्र भाव से वृन्दादेवी से पूछा तब उन्होंने निकुंज और अष्टयाम परिचर्यादि सभी भाव विस्तारपूर्वक सुनाये। ११६ श्लोकों का यह एक पूरा ही पद्मपुराण पातालखण्ड का ८३ वाँ अध्याय इन्हीं प्रश्न और उत्तरों में पूर्ण हुआ है। सखी भाव से श्री राधाकृष्ण की उपासना करने का इसमें विशद् वर्णन है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण—

श्री राधाकृष्ण की लीला और चरित्रों का इस पुराण में पर्याप्त विवरण मिलता है। इसका नमूना श्रीकृष्ण-जन्म खण्ड राधाकृष्ण के चरित्र और उनकी आराधना के वर्णन में ही पर्यवसित हुआ है। श्री राधा जी के सम्बन्ध में अन्यान्य पुराणों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रकाश इसी पुराण में डाला गया है।

नारदीय पुराण—

इसके पूर्वार्द्ध अध्याय २३ में एकादशी व्रत और अध्याय ३० में समस्त पातकों की निवृत्ति के लिए भगवद्-उपासना का विधान मिलता है। अध्याय ३२ में संसृति दुःखों के परिहारार्थ हरि की आराधना करना आवश्यक माना है। अध्याय ३६ में हरि मन्दिर के सम्मार्जन, दीपदान आदि का महत्व अ० ६४ में दीक्षा का विधान और अ० ६७ में भगवद्-प्रतिमा के षोडशोपचार पूजन का विधान किया है। अ० ८० से ८३ तक श्री राधाकृष्ण की पूजा और उनकी आराधना का विशद वर्णन है और अ० ८८ में श्री राधा के अंशरूप पाँच प्रकृतियों के लक्षण तथा श्री राधा के अंशभूत सोलह देवताओं के मन्त्र-तन्त्र एवं उनकी पूजा का निरूपण है। इस पुराण के उत्तरार्द्ध में अ० ५८ में श्री राधाकृष्ण-तत्व का निरूपण और उनसे ही समस्त विश्व की उत्पत्ति एवं अ० ५९ में उनके रूप का पाँच प्रकार से वर्णन किया गया है।

१—पद्मपुराण पातालखण्ड ८२।८८।

वाराह पुराण—

इसमें अध्याय १२६ से १३६ तक विष्णु-पूजा का विशेष विधान है। अ० १५२ से १७६ तक श्री राधाकृष्ण के धाम मथुरा ब्रज-वृन्दावन का महत्व और श्री राधाकृष्ण की पूजा का विधान मिलता है।

अग्नि पुराण—

इसके अध्याय १२ में श्रीकृष्णचरित्र और उनके नामों के कीर्तन का फल है। अ० २७ में दीक्षादान, आदि का वर्णन है। पुराण पञ्चम अंश और हरिवंश में भी विस्तृत वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त शिव, वायु, स्कन्ध पुराण और देवी भागवत् आदि भी श्री राधाकृष्ण के वर्णन और उनकी उपासना के सम्बन्ध में सर्वथा रिक्त नहीं कहे जा सकते।

(इ) आचार सूत्र—

श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी ने 'वेदान्तदशश्लोकी' पर स्वरचित 'वेदान्तरत्नमंजूषा' टीका में श्री निम्बार्काचार्य रचित 'प्रपत्ति चिन्तामणि' और 'सदाचार प्रकाश' इन दोनों ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है[1]। उनके पश्चात् श्री देवाचार्य विरचित "सिद्धान्त जान्हवी" के टीकाकार श्री सुन्दर भट्टजी ने सेतुका में "सदाचार प्रकाश" का नामोल्लेख किया है। उनके समय में श्री निम्बार्क सम्प्रदाय का यह कर्मयोग सम्बन्धी वृहद् ग्रन्थ विद्यमान था। अतएव उक्त दोनों आचार्यों ने कर्मयोग सम्बन्धी जानकारी के लिए उसी ग्रन्थ को देखने का संकेत किया था।

कालान्तर में 'सेतुकाकार' के पश्चात् किन कारणों से किस समय में वह ग्रन्थ लुप्त हो गया इसका अभी तक पूर्णतया पता नहीं चला है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि ग्यारहवीं,बारहवीं शताब्दियों में होने वाले यवन आक्रान्ताओं के आक्रमणों में ही उस ग्रन्थ की प्रतियाँ ध्वस्त हुई होंगी। यदि 'मंजूषा' और 'सेतुकार' आदि के समय से ही वह ग्रन्थ अनुपलब्ध होता तो वे कदापि यह नहीं लिखते कि कर्म सम्बन्धी बातें 'सदाचार प्रकाश' में देखी जाएँ।

उसी के आधार को लिए हुए इस सम्प्रदाय में आजकल जो कर्मयोग सम्बन्धी आचार ग्रन्थ मिले हैं उनमें एक ग्रन्थ है 'सदाचार सार संग्रह' यह ग्रन्थ उसी सदाचार प्रकाश का संक्षिप्त सार है। इसकी अभी तक ३ प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं ? श्री निम्बार्काचार्यपीठ (सलेमाबाद) श्री निकुंज वृन्दावन, (२) श्री गिरधारी जी का मन्दिर पुराना शहर वृन्दावन, (३) राजगंज स्थल वर्द्धमान। श्री निम्बार्काचार्य पीठ वाला ग्रन्थ वि० सं० १७८५ चैत्र शुक्ला १० रविवार को मेड़ता परगने के रूपनगर में भीमचन्द ने लिखा था। यह प्रति श्री वृन्दावनदेव जी के शिष्य श्री ब्रजानन्द जी और उनके शिष्य श्री देवदास जी के लिए लिखी थी[2]। इसके प्रत्येक पृष्ठ में १०-१० पंक्तियाँ हैं, उनमें ४३ से ५० अक्षर

१—वेदान्त रत्न मंजूषा, चौखम्भा सीरीज से मुद्रित पृष्ठ ६७।

२—सदाचार सारसंगृह, पृष्ठ १३१ अन्तिम पुष्पिका।

तक प्रति पंक्ति में हैं, श्लोक संख्या प्रकरणानुसार इस प्रकार है।

प्रथम प्रकरण—पृष्ठ ८ तक, ११० श्लोक, द्वितीय प्रकरण—पृष्ठ ३१ तक, ४७४ श्लोक, तृतीय प्रकरण—पृष्ठ ४१ तक, २७१ श्लोक, चतुर्थ प्रकरण—पूजाविधान पृष्ठ ६६ तक, ५९५ श्लोक, पञ्चम प्रकरण—भागवतधर्म जीवस्य संसृति पृष्ठ ८० तक, ३३६ श्लोक, षष्ठ प्रकरण—मानस पूजा पृ० ९५ तक, सप्तम प्रकरण—एकादशी द्वादशी व्रत जागरण महिमा पृ० ११० तक, अष्टम प्रकरण—वार्षिक महोत्सव, पर्वादि दिव्याविर्भाव वर्णन चैत्र से भाद्रपद तक पृ० ११८ तक, नवम् प्रकरण—पर्व सुक्रिया विधान वर्णन पृ० १३१ तक, लगभग तीन हजार श्लोकों का यह सुन्दर संग्रह है जो भागवतादि पुराण, पञ्चरात्र, विष्णु-यामल आदि सैकड़ों ग्रन्थों से संग्रहीत हुआ है।

इसके आरम्भ में "श्री निम्बार्कायनमः" लिखकर दश अवतारों के साथ अवतारी प्रभु की वन्दना की गई है। यही दशावतार वन्दना गीतगोविन्दकार श्री जयदेव जी के ग्रन्थ में मिलती है। प्रथम प्रकरण में दीक्षा ग्रहण सम्बन्धी बातों की चर्चा की गई है। वैष्णवी दीक्षा आवश्यक है। यह सिद्ध करते हुए आगे चलकर गुरु और शिष्यों के लक्षण बतलाये गए हैं। अधिकतर संग्रह श्रीमद्भागवत से किया गया है।

शिष्य के लक्षण—

शुद्ध कुल में उत्पन्न अतएव विनम्र, सुन्दर रूपवान, सत्य बोलने वाला, सदाचारी, घमण्ड रहित, कामक्रोध से रहित, गुरुदेव के चरणों में भक्ति रखने वाला, मन-वचन-कर्म से दिन रात देवाराधन करने वाला, निरोग, जितेन्द्रिय और दयालु शिष्य ही दीक्षा का अधिकारी हो सकता है[1]। जो गुरु की सेवा में निरन्तर लगा रहे, प्रेम भाव से अपना सर्वस्व गुरुदेव को अर्पण करदे, गुरुदेव में ही ईश्वरभाव रखकर लकुटिया की भाँति गुरुदेव के चरणों में गिर जाने वाला हो। अप्रमत्त रूप से गुरु-आज्ञा को पालन करता हो तथा जैसा गुरुदेव का भाव हो उसी प्रकार की सेवा करके उनको सन्तुष्ट करे। उपरोक्त गुणों की योग्यता न हो तो उसे मन्त्रराज नहीं देना चाहिए। आलसी, मलीन, दम्भी, मोहवान, दरिद्री, रोगी, क्रोधी, भोगी एवं विषयभोग की लालसा रखने वाला, दूसरों के गुणों में दोष दृष्टि रखने वाला, मत्सर-घमण्ड से ग्रसा हुआ, मूर्ख, कठोर वाणी बोलने वाला, अन्याय से धन जोड़ने वाला, परस्त्रियों से प्रेम रखने वाला, विद्वेषी और नित्य ही वैरभाव रखने वाला, मूर्ख होते हुए भी अपने को पण्डित समझने वाला, कही हुई बातों को न करने वाला, चुगली करने वाला, जिसका मन दोषी हो, बहुत खाने वाला, क्रूर चेष्टा करने वाला, कुसंगी, दुरात्मा, कंजूस, प्राणियों को सताने वाला, जो आश्रित जनों को भी भय दिखाने वाला हो उसे मन्त्र नहीं देना चाहिए। यदि ऐसे दुर्गुणों वाले व्यक्ति को भी शिष्य करले तो उसके दोषों का सम्पर्क गुरु को लग जाता है[2]। इसलिए कम से कम एक वर्ष तक परीक्षा लेकर ही शिष्य बनाने का आदेश दिया गया है। चोरी न करने वाला, आस्तिक,

---

१—सदाचारसारसंग्रह पृष्ठ २ श्लोक २१।

२—वही वही पृष्ठ २ श्लोक ७।

मोक्ष की कामना रखने वाला, ब्रह्मचारी, प्रतिज्ञा को निभाने वाला, प्रसन्न चित्त रहने वाला, विनीत, शुद्ध भाव वाला, परोपकारी, दूसरे के धन-जन को न चाहने वाला, अपने चित्त, वित्त, (धन) और देह से गुरु को सन्तुष्ट बनाने वाला एवं आश्रित वैष्णव जनों को सन्तुष्ट करने वाला व्यक्ति ही मन्त्रराजका अधिकारी है[1] ।

गुरु के लक्षण—

भगवान् कहते हैं (पद्मपुराण) जिसका चित्त मुझ (प्रभु) में ही निरन्तर लगा रहता हो, जो शान्तिचित्त हो, क्रोधी न हो, सभी नर-नारियों में सुहृद्भाव रखने वाला, महान सज्जन, सच्चा प्रकाश दिखाने वाला, व्यक्ति ही गुरु होता है। मेरा (भगवान् का) ही व्रत रखने वाला, वैष्णवों में मान्य, मेरी और मेरे भक्तों की कथा और उत्सवों में निरत, कृपालु, सर्व जीवों का हितकारी, निस्पृही, सब प्रकार से सिद्ध, सब विद्याओं में विशारद, सब संशयों का उच्छेदक, आलस्य रहित, ब्राह्मण, त्रिकालज्ञ, प्रत्येक प्राणी पर अनुग्रह करने वाला पुरुष ही गुरुपद के योग्य है।

ऐसे गुणों वाला भी यदि वैष्णव न हो तो उससे भी मन्त्र नहीं लेना चाहिए। कदाचित् अवैष्णव से मन्त्र ले लिया हो तो फिर दुबारा वैष्णव गुरु से मन्त्रोपदेश लेना चाहिए।

मन्त्रों के चार विभेद माने जाते हैं । (१) सिद्ध, (२) साध्य, (३) सुसिद्ध और (४) अरि । इनमें सिद्ध और सुसिद्ध मन्त्र उत्तम होते हैं। नृसिंह, सूर्य, बाराह, सम्बन्धी मन्त्र प्रणव और वैदिक तथा स्वप्न में मिला हुआ, स्त्री से मिला हुआ, तीन बीजों वाला मन्त्र, एकाक्षरी मन्त्र इनमें सिद्ध साध्यादि के विचारने की आवश्यकता नहीं है[2] ।

वेदानुगामी आगम-मार्ग (रीति) से शूद्रों को भी भगवत्पूजा अर्चा करनी चाहिए। यह स्मृत्यर्थानुसार बोद्धायन वाक्य है[3] ।

अदीक्षित के सभी कार्य निष्फल होते हैं[4] । दीक्षा बिना लिए जो मनुष्य या स्त्री मर जाये तो उसे पशु योनि में जन्म लेना पड़ता है। दीक्षा वैष्णवी ही लेनी चाहिए[5] ।

विना श्री वैष्णवी-दीक्षां प्रसादं सद्गुरोर्विना ।
विना श्रीवैष्णवैधर्मं कथं भागवतो भवेत् ।

'सदाचार संग्रह' का दूसरा प्रकरण विष्णु आराधन का है। इसमें विष्णु आराधना का प्रारम्भ ब्रह्ममुहूर्त से ही करने का निर्देश किया गया है विष्णुपरक ध्यान के तीन श्लोक हैं। विष्णु-पुराणोक्त अक्रूर वाक्यों के अनुसार प्रतिदिन प्रातः 'हरिशरण' की प्रतिज्ञा

१—सदाचार सार संग्रह पृष्ठ ३ श्लोक १२ ।
२—वही वही पृष्ठ ३ श्लोक १८ ।
३—वही वही पृ० ३ श्लोक ४६ ।
४—वही वही पृ० ४ श्लोक ०१-६२ ।
५—वही वही पृ० ५ श्लोक ६६ ।

बतलाई है[१]। फिर शौच स्नानादि क्रिया का विधान है। स्नान से श्री चरणामृतपूर्वक तीर्थाभिषेक करना चाहिए। तत्पश्चात् प्रायश्चित् विधान में स्पष्ट कर दिया है कि श्री श्यामसुन्दर कृष्णचन्द्र के नाम स्मरण से सभी प्रायश्चित नष्ट हो जाते हैं[२]। यज्ञादिक में भी कदाचित् प्रमादवश कर्मच्युत हो जाय तो वह हरिस्मरण से ही पूर्ण हो जाता है। फिर गात्र, पार्थिव, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानुष ये सात प्रकार के स्नान बतलाये गये हैं[३]। अशक्त, रोगी आदि को जल से शिर-स्नान नहीं करना चाहिए क्योंकि शरीर स्वस्थ रहने से ही सभी धर्म-कार्य हो सकते हैं। ऐसी दशा में गीले वस्त्र या जल के हाथ फेरने तथा मार्जन मात्र से स्नान का विधान पूर्ण माना जा सकता है[४]। फिर तिलक करके आसन पर बैठे। इस सम्प्रदायानुसार शोषण, दहन-प्लवनादि रूप भूत शुद्धि करके प्राणायाम करने की महिमा एवं उसका विधान बतलाया गया है। नाक बन्द करने में मध्यमा और तर्जनी अँगुली काम में लेने का निषेध है[५]। अंगन्यास, करन्यास ऋष्यादिन्यास आदि सम्प्रदायानुसार करके फिर इष्टदेव का ध्यान करे। यहाँ सभी वैष्णव सम्प्रदायानुसारी विष्णुध्यान बतलाकर भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान वर्णन किया गया है[६]। श्लोकों द्वारा श्री शब्द से श्री राधा जी का आह्वान करके "अंगेतुवामे" श्री निम्बार्क के इस श्लोकानुसार वृन्दावन बिहारी श्री किशोरकिशोरी जी का ध्यान उत्तम बतलाया गया है।

बीच बीच में प्रसंगानुसार शौच स्थान दन्त-धावनादि सम्बन्धी प्रमाणों का संग्रह है। तीर्थादि स्थलों के अतिरिक्त स्थानों में रहने वाले व्यक्तियों के लिए स्थानीय जल में गंगादि पुनीत तीर्थों के आह्वान का विधान बतलाया है। पहले पात्र में तुलसी चरणोदक मिश्रित जल भरकर प्रार्थना करे[७]। फिर पुराण आदि में वर्णित गंगा का महत्व वर्णित है। किन्तु सर्वान्तिम महत्व भगवान के चरणामृत को दिया गया है। आगे चलकर वस्त्र धारण के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला गया है—जिससे वैष्णवों की वेश-भूषा का कुछ दिग्दर्शन होता है। शुद्ध धोया हुआ वस्त्र पहने और स्त्री शूद्र से न धुलावे। अधोवस्त्र कैसा पहने ? तीन कक्ष वाला[८]। मोरी लगाकर पल्ला टाँगने वाला कटिवस्त्र त्रिकक्ष बत-लाया जाता है। 'षड्पुच्छ सप्तपुच्छादि' का यहाँ विचार नहीं किया गया है। दो रंग की चर्चा है। काला, काषाय, मैले आदि वस्त्रों का निषेध है। गीले पैरों न सोवे, सूखे पैरों

१—सदाचारसारसंग्रह पृ० ६ श्लोक ८।
२—वही वही वही वही।
३—वही वही पृ० ६ श्लोक ११।
४—वही वही पृ० ९ श्लोक २२।
५—वही वही पृ० ९ श्लोक ३६।
६—वही वही पृ० १० श्लोक ४९।
७—वही वही पृ० १३ श्लोक १६।
८—वही वही पृ० २० श्लोक १७।

भोजन न करे। ऊपर वाला नीचे और रात्रि का वस्त्र दिन में न पहिने[१]। शिष्य को चाहिए कि गुरुदेव से मन्त्र-दीक्षा लेकर उन्हें यथाउचित द्रव्यादि दक्षिणा भेंट के साथ आत्मसमर्पण करे[२]। फिर मन्त्र जप और विष्णु का ध्यान बतलाया गया है। सिद्धि योग्य स्थान जप के प्रकार आदि बतलाकर जप करने वाले को सिद्धि असिद्धि सूचक स्वप्न दर्शनादि का वर्णन किया है। लक्ष्मी, श्री रामकृष्ण, नृसिंह आदि के दर्शन उत्कृष्ट बतलाये हैं। नक्षत्र, ग्रहतारा, चन्द्रमण्डलादि दर्शन मध्यम और माँस-मदिरा निकृष्ट वस्तुओं का दिया जाना निकृष्ट बतलाया गया है। निकृष्ट स्वप्नदर्शन की शांति के लिए पुष्पों से गुरु-पूजन, १०८ बार मन्त्र जप, हरि-पूजा आदि उपाय बतलाये हैं[३]।

सदाचार सार संग्रह के तृतीय प्रकरण में तुलसी की माला के धारण करने और शालग्राम की प्रतिमा के पूजन के सम्बन्ध में विचार किया गया है। ग्रन्थ में लिखा है कि गले में तुलसी-काष्ठ की माला सदा धारण रखनी चाहिए। तुलसी रोपना उसके थाँवले में जल देना, रोली,अक्षतादि से पूजा करना आवश्यक है[४]। भगवान् की आभ्यन्तर पूजा करने के पश्चात शालग्राम की वाह्य पूजा का स्कन्द पुराण के आधार पर विस्तार से वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में शालग्राम की पूजा का स्त्री शूद्रादिक सबको अधिकार है[५]। इस सम्बन्ध में एक आपत्ति भी उठाई है क्योंकि उनका स्पर्श भगवान् को वज्र से भी असह्य हो जाता है[६]। इसका उत्तर नृसिंह पुराण से दिया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी हो यदि वह भक्त है तो उसे शालग्राम की पूजा का अधिकार है[७]। अभक्त को नहीं। तात्पर्य यह है कि वैष्णवी दीक्षा लेकर स्त्री, शूद्र, चाण्डाल शालग्राम जी की पूजा कर सकते हैं उनकी पूजा से स्त्रियों की कामासक्ति छूट जाती है[८]। इसी प्रकार मदिरा पीने वाले व्यक्ति के लिए शालग्राम-पूजा का निषेध किया गया है। स्नान का बस्त्र पहनने के पश्चात् आसन पर बैठकर गोपीचन्दन, तुलसी की जड़ों की मृत्तिका अथवा भगवान् की महा-प्रसादी को चन्दन से ऊर्द्ध पुण्ड्र तिलक करे। सदाचार सार संग्रह के चौथे प्रकरण में पृष्ठ ४१ पर पूजा-विधान का विस्तृत उल्लेख है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि वेद-मन्त्रों के पढ़ने का शूद्रादिकों को अधिकार नहीं है उनके बिना वे प्रभु की पूजा कैसे कर सकेंगे ?

इसके उत्तर में पूजा के दो प्रकार बतलाये गये हैं। वैदिकी और तान्त्रिकी।

१—सदाचार सार संग्रह पृ० २० श्लोक २३.३४ से ४५ तक।
२—वही वही पृ० ६ श्लोक ६६।
३—वही वही पृष्ठ ७ श्लोक ८० से १०९ तक।
४—वही वही पृ० ३२ श्लोक ११ से ३६ तक।
५—वही वही पृष्ठ ४१ श्लोक ४।
६—वही वही पृष्ठ ४१ श्लोक ६।
७—वही वही पृष्ठ ४१ श्लोक १२।
८—वही वही पृष्ठ ४२ पं० १६ से १९ तक।

तांत्रिकी पूजा का शूद्रों को अधिकार है। ऐसा पद्मपुराण में दिया है[1]। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है "कलियुग में तान्त्रिकी पूजा ही श्रेष्ठ है।" स्त्री शूद्रादिक तामस प्रकृति के होते हैं। ऐसी स्थिति में वे विष्णु-पूजा के अधिकारी हैं या नहीं यह प्रश्न उपस्थित किया गया है। उत्तर में कहा गया है कि भगवान् की ओर उन्हीं श्रद्धालु जनों की प्रवृत्ति होती है जिनके जन्म-जन्मान्तरों में समस्त पापक्षीण हो गये हों। अध्यात्मरामायण के राम-शबरी संवाद में भी यही प्रश्न उठाया गया था। वहाँ भगवान् ने उत्तर दिया था कि मेरी सेवा-पूजा के लिए केवल हार्दिक भक्ति ही अपेक्षित है। अतः पूजा का सभी भक्तों को अधिकार है। स्त्री अथवा शूद्र होना उसमें बाधक नहीं है[2]। उस भक्ति के उद्भूत होने के नौ साधन बतलाये गए हैं। (१) साधुओं का संग, (२) भगवत्कथा, (३) प्रभु का गुणानुवाद, (४) प्रभु के गुणों की वाणी से व्याख्या, (५) निश्चल होकर आचार्यों की पवित्र स्वभाव से सेवा करना, (६) यम-नियमादि के साथ भगवद्-पूजा में निष्ठा, (७) अंग उपागों सहित भगवद्-मन्त्र से उपासना, (८) समस्त प्राणियों में भगवान् को स्थित समझकर भक्तों की अधिक पूजा, (९) भगवान् के स्वरूप का विचार और बाहरी विषयों से वैराग्य। ये प्रेम-लक्षणा-भक्ति के शुभ लक्षण बतलाये गए हैं[3]।

इसी प्रकरण में आगे चलकर पृष्ठ ४५ से ६६ तक भगवत्-पूजनविधि का विस्तृत वर्णन है। पूजाविधि में ३२ सेवा अपराध और १० नामापराधों से भी बचने का विशेष निर्देश किया गया है[4]।

पाँचवें प्रकरण में मानसी पूजा विधान और संसार से वैराग्योपदेश का वर्णन है। वह आठ प्रकार मानी गई है[5]। "'श्रवणं कीर्तनं ध्यानं स्मरणं जल सेवनम्'। प्राशनं वीक्षणं पूजा मष्ट्धा तुलसीदलम्। इसी प्रकरण में महापुरुषों का संग करने स्त्रियादिक से बचने का निर्देश किया गया है और संसार से वैराग्य-भाव रखने का आदेश दिया गया है।

सदाचार-सार-संग्रह के छटवें प्रकरण में भक्ति के विभिन्न भेद-उपभेदों का सांगोपांग निरूपण किया गया है। इससे पहले भक्ति की चार मुख्य भेदों में विभाजित किया गया है। (१) ज्ञान मिश्रा, (२) वैराग्य मिश्रा, (३) कर्म मिश्रा, (४) भक्ति मिश्रा। तदनन्तर ज्ञानमिश्रा भक्ति उत्तमा, मध्यमा और अधमा तीन भागों में बाँटी गई है[6]। उत्तमा भक्ति का लक्षण सम्पूर्ण प्राणियों में भगवत्भाव रखना और सभी को समान भाव से देखना, मध्यमा के अन्तर्गत ईश्वर-भक्तों से मित्रता, मूर्ख अज्ञानियों पर कृपा करना और

१—सदाचारसारसंग्रह पृष्ठ ४२ पं० १६ से १९।
२—वही वही पृष्ठ ४३ पं० २८।
३—वही वही पृष्ठ ४४ पंक्ति ५।
४—वही वही श्लोक ४१ से श्लोक ६० तक।
५—वही वही पृ० ६७ श्लोक ३५।
६—वही वही पृ० ८२ पं० ३।

विद्वेषियों के प्रति उपेक्षा करना प्रधान माना गया है। अधमा में श्रद्धा से गुरु प्रभु की पूजा करना वर्णन किया गया है। इसी प्रकार वैराग्य मिश्रा भक्ति के भी उपरोक्त तीनों भेद किये गए हैं और कर्म मिश्रा सात्विकी,राजसी,तामसी उपभेदों में विभक्त हुई है। उनके भी पुनः तीन-तीन प्रभेद हैं।

कर्म मिश्रा भक्ति

सात्विकी	राजसी	तामसी
कर्म क्षयार्था	विषयार्था	हिंसार्था अधमा
विष्णु प्रीत्यर्था	यशोर्था	दंभार्था मध्यमा
मंत्रार्थ दर्पण रूप भृत्यवत्भाव	ऐश्वर्यार्था	मात्सर्यार्था उत्तमा

भक्ति मिश्रा भक्ति को नारदीय पुराण में दस प्रकार से विभाजित किया गया है। सभी प्रकार की भक्ति संसार-बंधन का उच्छेद करने वाली है। सात्विक भक्ति सभी कामनाओं एवं फलों को देने वाली है[1]। इनमें फल-भूता प्रेम-लक्षणा भक्ति सर्वोपरि है। वैधी अहित की भक्ति में विघ्न रहा करते हैं। भक्ति के प्रसंग में ६४ पूजोपचारों का बड़ा महत्व प्रतिपादित किया गया है जो निम्नलिखित हैं। इन्हें यदि भक्ति की आधारशिला कहा जाय तो अनुचित न होगा[2]। शैया से जागना, मङ्गला आरती, आसन, दातुन, पाद्य-अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, आचमन,पादुकार्पण, तैलागरीम् चन्दनोद्वर्तन, स्नान, दूध, दधि, घी,मधु,शर्करा, शुद्धोदक, पुष्प तुलसी मिश्रित, महाभिषेक, वस्त्र, उपवीत, आचमन, चन्दन, भूषण, पुष्प, धूप, दीप, दृष्टोत्तारिणा, नैवेद्य, मुखवास, ताम्बूल, शयन. केश साधन, वस्त्रार्पण महा-किरीट, गंध कौस्तुभ, दिव्य मंगल, पुष्प, महानीराजन,दर्पण दर्शन, सुखपाल गजादि सवारी, जयध्वनि, नृत्य, लक्ष्मी के मण्डप में ले जाना, वहाँ सिंहासन पर बिठाना, पाद्य, अर्घ्य, धूप,दीप, नैवेद्य, दिव्य ताम्बूल फिर कर्पूर वार्ति से महानीराजन चामर, व्यजन, छत्र, गीत वाद्य, नृत्य, प्रदक्षिण, अतिस्तोत्र, साष्टांग प्रणाम् का वर्णन है। चरणामृत लेना, निर्मालय, चन्दन धारण, नैवेद्य प्राशन, दासभाव से सेवा, रात्रि में शयन स्थान पर कर्पूर आदि का अनुलेपन रंगमाला, सेक मंडल, (अँगीठी आदि) पुष्प मण्डप महामंच पर विराजमान करना, शैया पर बिछौना बिछाना, पुष्प-शैया हाथ से दिखाते हुए सुख-शैया पर बिस्तर, रत्नों के दीप, युक्त शयन-स्थान पर लाकर लक्ष्मी द्वारा पूज्यमान प्रभु के दर्शन, ताम्बूल गंध आदि से पूजा की जाय। यहाँ विष्णु की पूजा का विधान है अन्त में प्रभु का स्मरण करते हुए सोना, फिर प्रातः उठना[3]।

१—सदाचार सार संग्रह पृ० ८३ श्लोक ६२।
२—वही वही पृ० ६४ श्लोक १६६।
३—वही वही पृ० ६४ श्लोक १६६ से २२६ तक।

सप्तम प्रकरण के अन्तर्गत एकादशी व्रत का विस्तृत विवेचन हुआ है। एकादशी-निर्णय के सम्बन्ध में स्कन्द एवं ब्रह्मवैवर्त पुराणों से अनेक मतमतान्तर संकलित किये गये हैं। शिव-रहस्य, विष्णु-रहस्य, विष्णु धर्मोत्तर से सम्बन्धित कई मतमतान्तर दिये गए हैं। तदनन्तर एकादशी की प्रातः प्रार्थना उपवास विधि, क्षौर विधि, एकादशी की गुरु-पूजा उसके जागरण का महत्व, कीर्तन महिमा आदि सभी आवश्यक विषयों का इस प्रकरण में समावेश है[1]।

अष्टम प्रकरण में विविध उत्सवों का विधि-विधान है। चैत्र में रामनवमी से प्रारम्भ होकर नृसिंह-जयन्ति, जलोत्सव, दर्शनोत्सव, चातुर्यमास, देवशयनी एकादशी व्रत विधान, जन्माष्टमी व्रत निर्णय, वामनपूजा आदि वार्षिक उत्सवों का शास्त्रीय विधि-विधान इस प्रकरण में दिया हुआ है। उसमें स्कन्द पुराण, नारद पुराण, विष्णु रहस्य, पद्मपुराण आदि ग्रन्थों से विविध मतमतान्तर उपस्थित करके विवेचन किया गया है[2]।

नवम प्रकरण में विविध पर्वों का विधि-विधान वर्णित है, आश्विन शुक्ला दशमी को महाविष्णु को रथ में बिठाकर सीमा निष्क्रमण करने का दो श्लोकों में वर्णन है। कार्तिक में कार्तिक व्रत भगवत्पूजा एवं भगवान् के सम्मुख स्वस्तिक लिखने-मात्र का फलाधिक्य वर्णित है। इस मास में माल्यपुष्प का विशेष माहात्म्य कहा गया है। तदनन्तर रथ-यात्रा, मार्गशीर्ष में महाविष्णु-पूजा का मथुरा में विशेष महत्व लिखा गया है। माघ महात्म्य में पृथ्वी पर सोना, तिलों का सेवन करना और त्रिकाल में वासुदेव भगवान् का स्मरण करना मुख्य बतलाया गया है। फाल्गुन में जमदग्नि-पूजा का वर्णन है। इस प्रकार पूरे वर्ष के पर्व समाप्त हो जाते हैं[3]।

औदुम्बर-संहिता—

यह ग्रन्थ श्री निम्बार्काचार्य के शिष्य श्री औदुम्बराचार्य प्रणीत है। इस समय श्री निम्बार्काचार्य विरचित 'सदाचार प्रकाश' उपलब्ध नहीं है। उससे संकलित 'सदाचार-सार-संग्रह' नामक उनके ग्रन्थ का सारांश पूर्व पृष्ठों में दिया गया है। सदाचार-सार-संग्रह की भाँति 'औदुम्बर-संहिता' में आचार के सभी पक्षों पर विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में पाँच व्रतों का वर्णन है इस कारण इसे 'व्रतपञ्चक' नाम से भी सम्बोधित किया जाता है[4]। इस ग्रन्थ में जिस विषय का भी वर्णन है उसकी पुष्टि में औदुम्बराचार्य जी ने विभिन्न आर्ष ग्रन्थों से मत उद्धृत करते हुए अपने मत की पुष्टि की है इस प्रकार यह संकलन एवं प्रणयन ग्रन्थ है। इसमें:—

१—एकादशी-कृष्ण-महोत्सव व्रत।

१—वही वही पृ० ९५ से ११० तक।
२—वही वही पृ० १११ से ११८ तक।
३—सदाचार-सार-संग्रह पृ० ११९ से १२९ तक।
४—सर्वेश्वर वर्ष ५ अंक १-५ सम्पादक श्री व्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य।

२—स्वैतिह्य संस्कार विधि व्रत ।

३—अंघ्रिप्रसाद व्रत ।

४—एकी भाव से राधाकृष्ण युगल के अर्चन का व्रत ।

५—सत्यांगवाग विहंसन व्रत ।

पाँच व्रतों का वर्णन मुख्य है। श्री निम्बार्काचार्य विरचित आचार ग्रन्थों के अभाव में औदुम्बर संहिता इस विषय का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है।

श्रीराधाकृष्ण युगल अर्चन का व्रत इस ग्रन्थ का सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य है। श्री औदुम्बराचार्य जी ने कहा है कि हम सभी ब्रजवासियों को नित्य वृन्दावन बिहारी श्री श्यामाश्याम की उपासना करनी चाहिए। जिस प्रकार पवन के प्रसंग से जल की चञ्चल लहरें एक दूसरी से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती हैं, परन्तु वास्तव में उनमें एक ही तत्व है—ठीक इसी प्रकार श्रीराधाकृष्ण युग्म को समझना चाहिए। उन दोनों का न तो कभी वियोग होता है और न पार्थक्य परन्तु इस अनुभूत युग्म-तत्व के रहस्य को कोई बुद्धिमान ही जान सकते हैं[१]। औदुम्बर-संहिता के प्रतिपाद्य में अनुगमन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वाचार्यों के समय में श्री कृष्णचन्द्र के साथ उनकी युगल अर्चा में ऐश्वर्याधिष्ठात्री देवी श्री रुक्मिणी जी की प्रतिमा के विराजमान करने की प्रथा थी। श्री औदुम्बराचार्य जी ने श्रीकृष्ण जी के साथ सर्वेश्वरी श्रीराधा की प्रतिष्ठा अनिवार्य बतलाई है। औदुम्बर-संहिता में इस विषय की स्थापना करते हुए, उन्होंने सनतकुमार संहिता से प्रमाण उपस्थित किए हैं[२]। श्रीप्रिया जी की प्रतिमा का निर्माण कराकर उनकी श्रीकृष्ण के साथ प्रतिष्ठा कराना एवं उसकी पूजा करना इस दृष्टि से भी सर्वथा उचित है क्योंकि उन दोनों में परस्पर न्यूनाधिक भाव है ही नहीं। दोनों में भेद-बुद्धि रखने से साधक की हानि होती है[3]।

वैष्णव-सुरद्रुम-मंजरी—

निम्बार्क-सम्प्रदाय का तृतीय आचार ग्रन्थ "वैष्णव-सुरद्रुम-मंजरी" है। निम्बार्क-व्रत निर्णय एवं स्वधर्मामृतसिंधु आदि ग्रन्थों से यह अधिक प्राचीन बताया जाता है[४]। इस ग्रन्थ का ब्रजमण्डल, राजस्थान, धौलपुर, मारवाड़ आदि प्रदेशों में विशेष प्रचार रहा है और इसी ग्रन्थ के रीत्यनुसार धौलपुर, जोधपुर, चण्डू रीति से पञ्चांग बनाने की प्रथा चली आ रही है। निम्बार्क सम्प्रदाय में—

१—जयति सतत माघं राधिका कृष्ण युग्मं, व्रत सुकृत निदानं यत्सदैतिह्य मूलम् ॥
विरल सुजन गम्यं सच्चिदानन्दरूपं, ब्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम् ॥
—औदुम्बर संहिता पृ० ५६ एकादशी कृ० व्रत ।

२—औदुम्बर संहिता पृ० ६४ पंक्ति ६ से आगे पांचवां व्रत ।

३—वही वही पृ० ६५ ।

४—वैष्णव सुरद्रुम मंजरी की भूमिका पृ० ५, रामप्रसाद गौड़ ।

निम्बार्को भगवान्येषां वांच्छितार्थ फलप्रदः
उदयव्यापिनी ग्राह्या, कुले तिथि रुपोषणे ।

भविष्य पुराण के उपरोक्त श्लोक के आधार पर उपोषिणी तिथियों में 'कपाल-वेध' माना जाता है। इस ग्रन्थ में श्री भगवान् रामकृष्ण, वामन, नृसिंह आदि की जन्म-तिथियों के व्रत में भी कपाल-वेध स्वीकार किया है। सदाचार-सार-संग्रह की भाँति इस में भी आचार्य-उपासना, विष्णु भगवान् का परत्व, गुरु स्वरूप, मन्त्र-दीक्षा, तिलक, षोड-षोपचार आदि सभी विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है। सभी व्रतों की साधना, स्त्रियों के विशेष धर्म, संकटकालीन धर्म, वर्ण-भेद से पुण्ड्र संख्या, ऊर्ध्व पुण्ड्र स्वरूप, पंच-रात्र, ब्राह्मण, स्त्री, शूद्र वर्णसंकर आदि के सप्त मुद्रा का विधान आदि सभी आवश्यक विषयों का इस ग्रन्थ में समावेश है।

साम्प्रदायिक लोग एकादशी व्रत में तो 'कपाल वेध' स्वीकार करते हैं परन्तु अवतारों की जन्म-तिथियों के व्रतों के अतिरिक्त उत्सव मात्र में नहीं। इस विषय में सदा-चार प्रकाश आदि ग्रन्थों में कोई व्यवस्था नहीं दी गई है। इस कारण एकादशी और जयन्ती व्रत में इसको सर्वरूपेण ग्रहण करने की परम्परा है। मंजरी वृहदाकार ग्रन्थ है। उसमें १६७ विषयों का विस्तार से वर्णन है।

(इ) अन्य अध्ययन सूत्र, पट्टे-परवाने, दान-पत्र और नौमोहरा

व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय के अध्ययन में अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों का ही महत्व है। पट्टे-परवाने, दानपत्रादि एवं अन्य ऐसी सामग्री से सम्प्रदाय का सम्बन्ध प्रकट होता है इस कारण बहिर्साक्ष्य के आधारों में इनका बड़ा महत्व है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के आचार्य प्रधानतः विरक्त वैष्णव थे। सांसारिक लोभ, मोह आदि से परे थे। अतः प्रारम्भ में राजदरबारों से उनका विशेष सम्बन्ध नहीं देख पड़ता। लोक सम्मान प्राप्त करने की प्रवृत्ति भी उनमें न थी। अतः उनके आश्रम प्रायः नगरों से बाहर थे। श्री परशुराम-देवाचार्य जी के समय से ठिकाना बाँधने की प्रवृत्ति सम्प्रदाय में आई और जैसे-जैसे इन साधुओं के सात्विक आचरण और विश्वबन्धुत्व के भावों की अभिरुचि का जनता में प्रसार होने लगा उनकी एकान्त साधना के स्थान भी जनता के आकर्षण के केन्द्र बन गए। परशुरामपुरी, स्थल स्थान, सूर्यपोल,उदयपुर, राजगंज, वर्द्धमान, कदमवाडी, बालां-गिरि का नृसिंह मन्दिर आदि स्थान इसके प्रमाण स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं। इन सभी स्थानों से निकटवर्ती राज्य दरबारों का सम्बन्ध रहा है और उन्होंने समय-समय पर अभाव - आवश्यकताओं की पूर्ति करने और कठिनाइयों को सुलझाने का प्रयास किया है। परशुरामदेव जी से अब तक के लगभग तीन सौ वर्षों की परम्परा में इस देश में अनेक राजनैतिक उथल-पुथल, क्रांतियाँ और साम्राज्यों के परिवर्तन हुए। इस स्थिति में इन विरक्त वैष्णवों का राज-दरबारों से सम्बन्ध प्रकट करने वाले अनेक पट्टे-परवानों और प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का लोप हो चुका है। फिर भी इस प्रकार के प्रामाणिक

ऐतिहासिक आधारों का सर्वथा अभाव नहीं है। इस सामग्री में अधिकतर परशुरामपुरी पीठ से सम्बन्धित है, क्योंकि यह स्थान राजस्थान के ठीक बीचोंबीच स्थित है और उसके चारों ओर हिन्दू-नरेशों के शक्तिशाली और सुदृढ़ राज्यवंशों का शासन रहा। उक्त पीठ को इन दरबारों से सहायता मिलती रही और यह पीठ अनेक राज्यवंशों का पूज्य-स्थल बना रहा।

निम्बार्क-सम्प्रदाय की प्रामाणिक बहिर्साक्ष्य सामग्री में पुष्करक्षेत्र में स्थित परशुराम द्वारे के शिलालेख का महत्वपूर्ण स्थान है। परशुरामदेव जी स्मृति से सम्बन्ध होने के कारण इस स्थल का निर्माण उनके अवसान के अनन्तर हुआ होगा। अतः निम्न शिलालेख श्री परशुरामदेव जी का अवसान काल निर्धारण करने में भी सहायक है। शिलालेख इस प्रकार है—

"श्री गोपाल सरीजी सति। सं० १६८६ बिरखे माघ सुदी पूरनमासी सोमवार साल स्वामी श्री परसराम मन्दिर वीराजमान। श्री क्रीस्न जैती सत्य पतिसाह श्री साहिजहां राजे स्वामी हरीवंसदास श्री परसराम जी का सीष्य पूरणदास साखा में मुरसद मथुर दामोदरदास सेवक रामदास मथुरा वासी।"

(१) उपरोक्त शिलालेख से प्रकट होता है कि सं० १६८६ माघ सुदी पूर्णिमा जबकि भारतवर्ष में मुगल सम्राट शाहजहाँ का शासनकाल था और सलेमाबाद पीठ पर श्री परशुरामदेव जी के शिष्य श्री हरिवंशदेव जी आचार्य पद पर सुशोभित थे मथुरावासी दामोदरदास के सेवक रामदास ने उपरोक्त स्थान के निर्माण में योग दिया।

(२) सलेमाबाद में एक विशाल बावड़ी है। अपनी बनावट और सुदृढ़ता के कारण उसकी राजस्थान के महत्वपूर्ण जलाशयों में गणना होती है। इस बावड़ी के खम्भे पर सं० १७१५ वि० का एक शिलालेख है। जो इस प्रकार है—

अविचल काम अनूप जल जाति जुगै न जाय
प्रा की पतिसाही लगे ब्रह्म हरीची वाय।
संमत् १७१५ लिखतम बौरा हरदौराम।

उक्त बावड़ी पर स्थित शिलालेख इस बात का प्रतीक है कि सं० १७१५ वि० तक सलेमाबाद स्थान की तिरन्तर उन्नति हो रही थी और उसके निकट उत्तम बावड़ी का निर्माण हो चुका था।

(३) मारवाड़ के महाराज जसवन्तसिंह की दानशीलता प्रसिद्ध है। उन्होंने सं० १७३५ वि० में डुमकी नामक एक ग्राम सलेमाबाद पीठ को प्रदान किया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक पट्टा भी सलेमाबाद के आचार्य श्री वृन्दावनशरणदेव जी के नाम किया था। यह पट्टा अभी तक उक्त पीठ में सुरक्षित है। उक्त पट्टे से महाराज जसवन्तसिंह जी की दान-शीलता और निम्बार्क पीठ सलेमाबाद के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा भली भाँति प्रकट होती है।

(४) सलेमाबाद से लगभग दो मील की दूरी पर एक सघन वन है। यह निकटवर्ती

पर्वतमाला में अविछिन्न रूप से ५ मील की लम्बाई-चौड़ाई में फैला हुआ है। इसमें विविध प्रकार के वृक्षादिक और पशु-पक्षियों का विहार-स्थल है। सलेमाबाद और आस-पास के ग्रामादिकों के गौ आदिक पशुगण इस वनस्थली में प्राचीन काल से चरते आये हैं। यह वन-भाग लकड़ी प्राप्त करने और पशुओं के शिकार के लिए भी उपयुक्त है। राजस्थान के अनेक राजे बार-बार इस प्रयास में रहे कि वहाँ पर शिकार कर सकें परन्तु सलेमाबाद पीठ के आचार्यों को यह रुचिकर न रहा। पीठ में ऐसे कई आज्ञापत्र उन मुसलमान शासकों के विद्यमान हैं जो शिकार करने के प्रेमी थे परन्तु आचार्य पीठ के अधिष्ठाताओं की रुचि को तृप्त करते हुए उन्होंने अपने स्वभाव और अभिरुचि के प्रतिकूल सालरमाला की सुरक्षा के लिए अभय पत्र और आज्ञापत्र प्रदान किये। अजमेर के शासक श्री जंगजफर के परवाने इस सम्बन्ध में विशेष महत्वपूर्ण हैं। सलेमाबाद पीठ के कार्यालय के पृट्टा संख्या २५/३९ का संक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है जो जंगजफर ने सालरमाला की रक्षा के सम्बन्ध में तत्कालीन आचार्य श्री वृन्दावन देवाचार्य के पास भेजा था।

जंगजफर का लेखा बहादुर हैदर फिदवी मोजउद्दौला राजा रघुनाथशाह।

(४) श्रीमान दानेः—बड़े दाना आदमी विन्दराविन दास जी को परमेश्वर अच्छी तरह से रखे।

छै आदमी वास्ते चराई के आते हैं और वह मकान रहने का है इस वास्ते बाग के विरकशों को वहाँ के काम करने वाले नुकसान नहीं कर सकेंगे और रासते जाने वाले भी नुकसान नहीं कर सकेंगे। जियादा क्या लिखा जावे।

हिजरी सन् ११२५ और ११२७ वि० में इस प्रकार के दो तीन आज्ञापत्र भेजे गये जो सलेमाबाद पीठ के कार्यालय में सुरक्षित हैं।

(५) इनमें एक परवाना मर्यादा सम्बन्धी है जिसे शाहआलम जफरजंग की अजमेर की हवेली पर से सन् ११२५ हिजरी में लिखकर भेजा गया था। इस परवाने में पीठ की यह मर्यादा बाँधी गयी है कि सालरमाला के जङ्गल से कोई लकड़ी नहीं काट सकेगा। पीठ के कार्यालय ने इस परवाने को अपने रजिस्टर में नं० ८-१४ पर अंकित कर रखा है।

(६) सं० १७१७ श्रावण बदी ६ का लिखा हुआ एक पट्टा सलेमाबाद पीठ में विद्यमान है जिसमें उक्त पीठ को नौ बीघा भूमि किन्हीं स्वामी हरिदास जी को रासस्थली के निर्माण के लिए प्रदान की थी उसका उल्लेख है। पट्टे का संक्षेप इस प्रकार है—

मुहर फारसी—

सिद्धि श्री महाराजि बहू जी श्री चौहाणि जी महाराजि श्री मानसिंह जी बचनात आगे धरती बीघा ९ऽ अषरे नौ कसबे सलेमाबाद में श्री गोपाल जी रा बाग पुनै छै सु श्री गोपाल जी रा रासस्थली ने स्वामी हरीदास दी घी छै सुपाब सी दुवै श्री मुख प्र० राठौड़-करण जी षासि मुहर दरषत हो ही तो सही संवत् १७१७ रा सावण वदि ६ सि० षी० अमर सी रजु दफतर मु० राही चन्द धरती रजु दफतर उफिल।

बीघा नव ९ अमरसिंह धरती दी धानोड़ बंजड़

(७) पीठ के कार्यालय के पट्टे परवाने सम्बन्धी कागजात में २३।५ संख्या का एक आदेशपत्र है जिसमें तुलसीदास नामक एक व्यक्ति को संवत १८३४ में निषिद्ध आचरण करने के कारण सलेमाबाद पीठ के तत्कालीन आचार्य श्री गोविन्दशरणदेव ने अपने आस-पास के प्रदेश से निष्कासित कर दिया था और तत्कालीन शासक ने उसकी स्वीकृति देकर जन साधारण में यह घोषणा करा दी थी कि तुलसीदास उक्त भूमि में प्रवेश न करेगा।

(८) निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य अपने समय के अग्रगन्य पुरुषों में रहे हैं। समय की अपेक्षा के अनुसार उन्होंने समय-समय पर राजनैतिक संघर्षों में हाथ बटाया। भरतपुर राज्य पर जिस समय ब्रिटिश सेनाओं ने घेरा डाला और उसे चारों ओर से घेर लिया तो सलेमाबाद पीठ के आचार्य श्री नन्दकुमारशरणदेव उपनाम निम्बार्कशरणदेव ने भरतपुर नरेश को सैनिक सहायता दी और उनकी सेना की एक टुकड़ी का संचालन इस कारण से किया कि भरतपुर के राजा निम्बार्क गद्दी के शिष्य रहे हैं और भरतपुर में श्रीजी का एक अलग मन्दिर भी है। राजस्थान के कई राजे भी केवल इसी कारण से नन्दकुमारशरणदेव जी को सहायता पहुँचा रहे थे कि वे अपने धर्म पालन में तत्पर थे। ब्रिटिश शासकों की दमन नीति उक्त आचार्य के धर्म-पालन को कैसे सहन कर सकती थी। निदान श्री नन्द-कुमारशरणदेव को आगरे के प्रसिद्ध दुर्ग में बन्दी किया गया। कालान्तर में अनेक हिन्दू-नरेशों ने ब्रिटिश शासकों को उनकी भूल की ओर संकेत किया जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें बंदीगृह से मुक्त कर दिया गया और उन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न रहा। पीठ के कार्यालय में बंदीगृह से मुक्ति विषयक आज्ञापत्र सुरक्षित है जो इस प्रकार है—

To

Lieutenant Col. Richard I.B.

Commanding at Agra.

Under instruction received from Government in order and sections, I have the honour to request that you will release Sree Nand Kumar from confinement in the fort of Agra and report to me the date of his in-largement.

2. It does not appear to Gevernment need of that the above incident be required either to proceed to Ajmer or to give security for his future good conduct. It will be sufficient to appraise being that he is not at liberty to action to Bharatpur without the knowledge or sanction of British authorities.

I have the honour to be

Sir,

Your most obedient humble servant.

Date (Sd) I. Palebrook
Sept. 5, 1838. Resident of Dilhe.

उक्त पत्र में श्री नन्दकुमारशरण जी की स्थिति को बहुत स्पष्ट कर दिया गया है। उन्हें किसी प्रकार का दोषी नहीं ठहराया गया उन पर केवल यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि वे भरतपुर राज्य के कार्यों में ब्रिटिश सरकार से पूछे बिना किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें।

(९) सन् १८४८-४९ तक कम्पनी के राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था। उसमें कम्पनी के अधिकारियों का आज्ञापत्र प्राप्त किये बिना यात्रा एक समस्या थी। अतः १६ अक्टूबर सन् १८४९ ई० को राहदारी का एक परवाना तत्कालीन श्रीजी महाराज श्री गोपीश्वरशरण देवाचार्य जी ने कम्पनी के अँग्रेज अधिकारियों से प्राप्त किया था जिससे कि मार्ग में सुरक्षा रहे, उक्त परवाना तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का परिचय देता है। इसमें महाराज के साथ जाने वाले सामान और पालकी सवारी आदि का विवरण है।

तमाम जाबता करने वाले मुलक सरकार कम्पनी अँगरेज परवाना राहदारी का १६ अक्टूबर सन् १८४९ बहादुरखाँ राजपूताने कूँ मालूम हो।

श्रीजी महाराज महन्त सलेमाबाद वासते स्नान पुष्कर जी महाराज आवेंगे ईस वास्ते परवाना राहदारी का दिया जाता है। चाहिये कि आपकी हद से आछी तरह पोंचा (पहुँचा) दो अर रातने जो उतरे चौकी पहरे का जाबता रखो, अर तकरार गैर वाजबी मत कराना अर अस्वाब नीचे लिखा इनके साथ है।

हाथी	सवारी	घुड़बैल	पालकी	स्वार
१		१	१	१५

रथ	छकड़ा	ऊँट	नकारानी	साण
४	४	८	२६	

(१०) सलेमाबाद पीठ के अतिरिक्त निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्य गद्दी स्थानों में भी कुछ पट्टे परवाने प्राप्त हैं जो उन स्थानों की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हैं। उनमें सिद्धपुर-कदमवाड़ी (गुजरात) का एक घंटलेख निम्न प्रकार है—

श्री कदमवाड़ी श्री महन्त गोवरधनदास जी शीतलदास जी ने नैपाल से खरिद करके ल्याई के श्री महन्त गोवर्धनदास। स्वस्ति श्री सम्वत् १५४४ मिति फाल्गुण वदि १० समवत्सर[1]।

घंट के अभिलेख के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में ही निम्बार्क-सम्प्रदाय के आश्रमों की स्थापना हो चुकी थी और श्री परशुरामदेवाचार्य से पूर्व भी निम्बार्क-सम्प्रदाय के स्थल स्थानों की स्थापना का सूत्रपात हो

१—कदमवाड़ी सिद्धपुर, उत्तर गुजरात का संक्षिप्त इतिहास, सुदर्शन प्रकाश २, किरण ४।

चला था। हो सकता है कि ब्रज में भी श्री श्रीभट्ट जी तथा हरिव्यासदेव जी के समय से ही स्थानधारियों ने अपने-अपने क्षेत्रों में स्थानों के संस्थापन का प्रयास किया हो।

(१५) आबू का वशिष्ठ आश्रम भी निम्बार्क-सम्प्रदाय के प्राचीन स्थलों में महत्व पूर्ण है। श्री निम्बार्क सहस्रनाम, स्तव,कवच और 'निम्बार्क विक्रांति' आदि ग्रन्थों के अध्ययन और नवीन अन्वेषण से यह ज्ञात होता है कि श्री निम्बार्काचार्य ने राजस्थान के अनेक स्थलों पर भ्रमण किया था और वे आबू पर्वत पर बहुत समय तक निवास करते रहे थे। श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य ने भी आबू पर्वत की यात्रा की थी और वहाँ पर निवास किया था[१]। श्री केशवकाश्मीरी जी के शिष्य-प्रशिष्यों में एक महात्मा नरोत्तमदेव जी हुए जो आबू पर बहुत दिनों तक रहे।

वर्तमान में आबू पर्वत में गोमुख नामक एक महत्वपूर्ण स्थान है। वहाँ पर दो शिलालेख उपलब्ध हैं जिनके कुछ महत्वपूर्ण अंश निम्नलिखित हैं--

गजान्तं पृथते लक्ष्मीर्धजान्तं यस्य कीर्तनम्
श्रीमद् वशिष्ठ भुवनं स्वर्गादपि मनोरमम्।। ५ ।।
गुरो प्रसादान्मधुसूदनस्य नरोत्तमोवैपरमोगुरुर्मे
तयोः प्रसादाद्भुवनं सुरम्यं, पश्यन्तु लोका परमं पवित्रं।
स्वस्ति श्री नृपति विक्रम कालातीत सम्वत् १३९४ वर्षे ।। ६ ।।

वैशाख सुदी १० गुरौ अद्येह श्री चन्द्रवत्यां चाहुभान वंशोद्धरण धौरेय राज श्री तेजसिंह सुत राज श्री कान्हड़देवे राज्यं प्रशासंति पाठि श्री महादेवेन इदं श्री वशिष्ठस्य धर्मायतनं कारायितम्। इत्यर्थः। तथाच चाहुमान ज्ञातीय राज श्री तेजसिंहेन स्वहस्तेन ग्राम त्रयं दत्तं, झावदुं। द्वितीयंज्याउलि ग्रामं, तृतीयं तेजलपुर मिति। तथा देवड़ा श्रीतिहुणाकेन स्वहस्तेन श्री हल्लण ग्रामं दत्तं। तथा राज श्री कान्हणदेवेन स्वहस्तेन वीरवाड़ा ग्रामं दत्तं। तथा चाहुमान जातीय राज्य श्री सामंतसिहेन लुहुलि, छांनुलि किरणाण्वल ग्रामत्रयं दत्तं। सुसम्भवतु[२]।

उपरिलिखित ५ और ६ संख्या के श्लोकों से स्पष्ट प्रकट होता है कि जिस समय वशिष्ठाश्रम बना था उसकी शोभा स्वर्ग की सी थी। श्री महादेव पाठि के द्वारा इस आश्रम का निर्माण उनके गुरु मधुसूदनदेव एवं परमगुरु नरोत्तमदेव जी की कृपा से हुआ था। वशिष्ठ आश्रम का निर्माण सं० १३९४ वि० में हुआ था उस समय वहाँ का शासक कान्हड़देव था। उसके पिता तैजसिंह ने तीन ग्राम भेंट किये थे तथा हुणक ने हल्लण नामक गाँव भेट किया था।

उपरोक्त शिलालेखों से दो बातें स्पष्ट होती हैं। (१) वशिष्ठाश्रम का निर्माण संवत् १३९४ में हुआ था। (२) वशिश्राश्रम के पूर्व भी वहाँ पर कोई आश्रम अवश्य था अन्यथा गाँव किस को भेंट किये जाते। अतः यह निश्चित है महादेव पाठि ने अपने गुरुदेव और

१—आब का वशिष्ठ स्थल, सर्वेश्वर वर्ष ६, अङ्क ५, पृ० २६-२७।
२—वही वही वही वही पृ० २७।

परम गुरुदेव दोनों की आज्ञानुसार वशिष्ठाश्रम का निर्माण कराया। महादेव पाठि और उसके गुरुदेव श्री केशवकाश्मीरी भट्ट की शिष्य-परम्परा में थे।

कालान्तर में सं० १६०० से १८५० वि० तक इस स्थान का इतिहास अन्धकारमय रहा और सं० १८७४ वि० में जिस समय सिरोही के शासक राजा शिवसिंह ने सोने का मुकुट चढ़ाया तो वहाँ निम्बार्क पीठ सलेमाबाद की शिष्य-परम्परा के श्री राधिकादास जी महन्त थे। वर्तमान में उक्त स्थान के महान्त श्री अचलदास जी हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने उक्त स्थान पर पहुँचने पर इस प्रकार के भाव प्रकट किये थे:—

"श्री वशिष्ठाश्रम—आज सवेरे दर्शन के लिए आया सुन्दर रम्य स्थान जहाँ महर्षि वशिष्ठ ने तपस्या की थी और जहाँ उनके साथ श्री रामचन्द्र, लक्ष्मण और अरुन्धती की मूर्तियाँ हैं। साथ में लगे हुए स्थान पर नन्दिनी की भी मूर्ति है। आश्रम का जीर्णोद्धार कई सौ वर्ष पहले किया गया था। आबू के सुन्दर स्थानों में यह सबसे अधिक सुन्दर स्थान मालूम पड़ता है और तपस्या के लिए योग्य स्थान है। यहाँ आने से ही शांति मिलती है और रास्ते की थकावट स्वयं दूर हो जाती है[१]।"

(१२) स्वामी हरिदास जी के दर्शन के अनन्तर सम्राट अकबर की मनोवृत्ति में अहिंसात्मक भावों की प्रधानता हो चली थी। निम्बार्क-सम्प्रदाय में प्रसिद्धि चली आती है कि इस सम्प्रदाय के वैष्णवों के प्रभाव से सम्राट ने एक फरमान लाहौर से जारी किया था जिसमें उसने मथुरा परगना और उसके आस-पास के क्षेत्रों में पशुहत्या और शिकार करने पर रोक लगा दी थी।

तहरीर तारीख ३ महर सफर ९८९ हिजरी मुताबिक सन १५८१ ई० संवत् १६३८ विक्रमी[२]।

तरजुमा फरमान आतिये जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर बादशाह गाजी।

"क्रोडी व जागीरदारान परगने मथुरा, सहार, मिंगोथ व टोड जो हर तरह पुश्त पनाही में हैं व उम्मेदवार रहते हैं जानें कि जहान की तामील करने वाला हुक्म जारी किया गया कि इसके बाद ऊपर लिखे परगनों के इर्द-गिर्द मोर जिब्ह न करें और शिकार न करें, आदमियों की गायों को चरने से न रोकें। इसलिए जागीरदारान व क्रोडी ऊपर लिखे हुए को ठैराव जानकर हुक्म मजकूर में पूरा बन्दोवस्त रखें कि कोई शख्स इसके खिलाफ करने की हिम्मत न कर सके, इस बात को अपना फर्ज जानें।

तहरीर बतारीख रोज़ दी महर ११ खुरदाद।

माहे इलाही सन् ३८ जलूसी
दारुल सल्तनत लाहौर।

१—सर्वेश्वर वर्ष ६ अङ्क ५ पृ० २८।
२—इम्पीरियल फारमान्स झावेरी।

मुगल सम्राटों के पतन काल में उत्तर भारत में मरहठों का अभ्युदय हुआ। वे धर्म के रक्षक और विद्याकला के प्रेमी थे। आसौज सुदी ७ सं० १८७२ बि० मल्हरॉव होल्कर ने तत्कालीन श्रीजी महाराज को एक अभय-पत्र इस आशय का प्रदान किया कि उस प्रदेश के हिन्दू, मुसलमान जो भी शासक हों उनकी आज्ञा से महाराज की सेवा-बन्दगी में हाजिर रहेंगे। उनके गाँव बागात की रक्षा करेंगे और जो कोई भी शाही कर्मचारी उधर जायगा उनकी सुरक्षा और उन्नति का ध्यान रखेगा।

नौ मोहरा—

मुसलमान सम्राट विशेषकर मुगलों के यहाँ नौ मोहरे की प्रथा प्रचलित थी। नौ मोहरा शब्द से तात्पर्य सरकारी दरबार से प्रमाणित उन कागजातों से है जिनमें परम्परागत चले आने वाले किसी एक दिल्ली राज्यवंश में उस वंश से सम्बन्धित पूर्व पुरुषों के नामोल्लेख के द्वारा एक विशेष प्रकार की दरबारी मुहर का उपयोग सरकारी कागजातों को प्रमाणित करने के लिए होता था। नौ मोहरा वास्तव में एक प्रकार की दरबारी मुहर ही थी। इसके निर्माण में वृत्ताकार एक बड़ी मुहर के अन्तर्गत छोटी मुहरें और रहा करती थीं। बड़ी मुहर के बीचोंबीच बड़े वृत्त में तत्कालीन सम्राट का नाम उसकी उपाधियों सहित होता था। छोटी मुहरों में गद्यारूढ़ राजवंश के पूर्व पुरुषों का नामोल्लेख उनके कालक्रमानुसार रहता था। शासन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण कागजातों पर इसी नौ मोहरे का प्रयोग उसकी वास्तविकता को प्रमाणित करने के लिए होता था। कालान्तर में राज-दरबारों से प्रकाशित परवानों पर भी इसी मुहर का प्रयोग होने लगा। धीरे-धीरे नौ मोहरा शब्द रूढ़िवाचक बन गया और वे सब फरमान और पत्रादिक जिन पर उक्त मुहर का (नौमोहरा) का प्रयोग होता था उसी नाम से पुकारे जाने लगे। सलेमाबाद पीठ से सम्बन्धित यहाँ पर दो नौमोहराओं की प्रतिलिपियाँ उपस्थित की जाती हैं जो हिजरी सन ११२७ और ईसवी सन् १८३० के हैं। सन् ११२७ हिजरी में मुगल दरबार का दूसरा फरमान श्री नारायणदेव जी के शिष्य श्री वृन्दावनदेव जी के समय में लिखा गया था और तीसरा ईसवी सन् १८३० अर्थात् विक्रम संवत् १८८७ में। इस तीसरे फरमान में सलेमाबाद पीठ के सूर्यकुण्ड पर नियन्त्रण सम्बन्धी कुछ शर्तों का उल्लेख है। शाही फरमानों की पूरी प्रतिलिपि उपस्थित करना सम्भव नहीं है अतः नौमोहरे और उन पर की हुई दोनों फरमानों विषयक टिप्पणियाँ ही उपस्थित की जाती हैं।
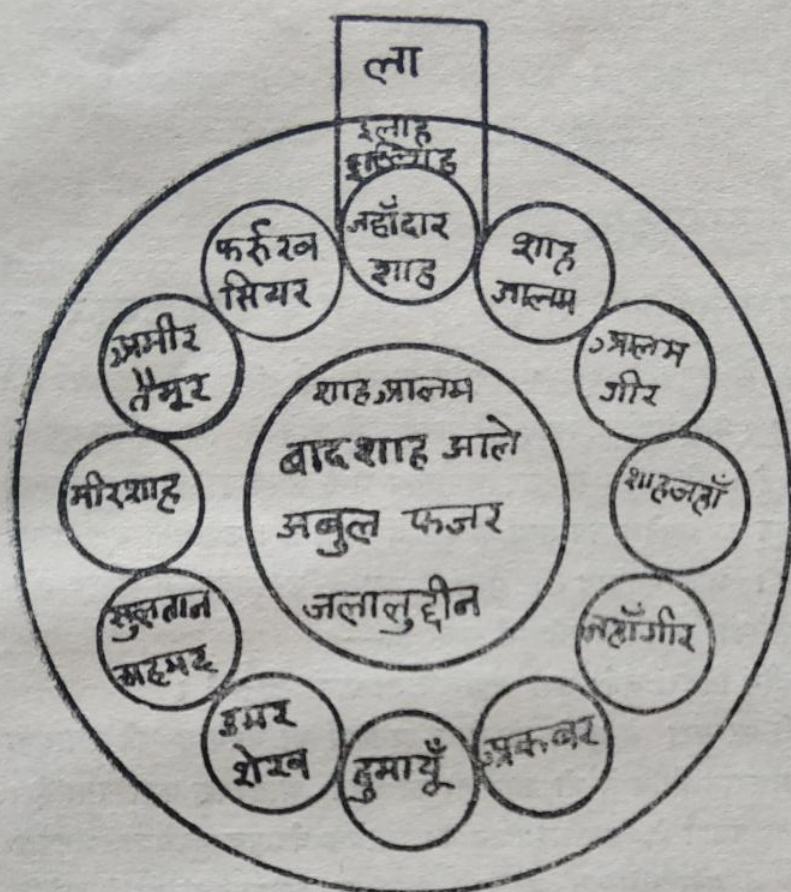
फरमान दूजा—बावत वृन्दावनदास जी शिष्य नारायणदास जी के पांच पजलूम तारीख २१ हिजरी सन् ११२७।
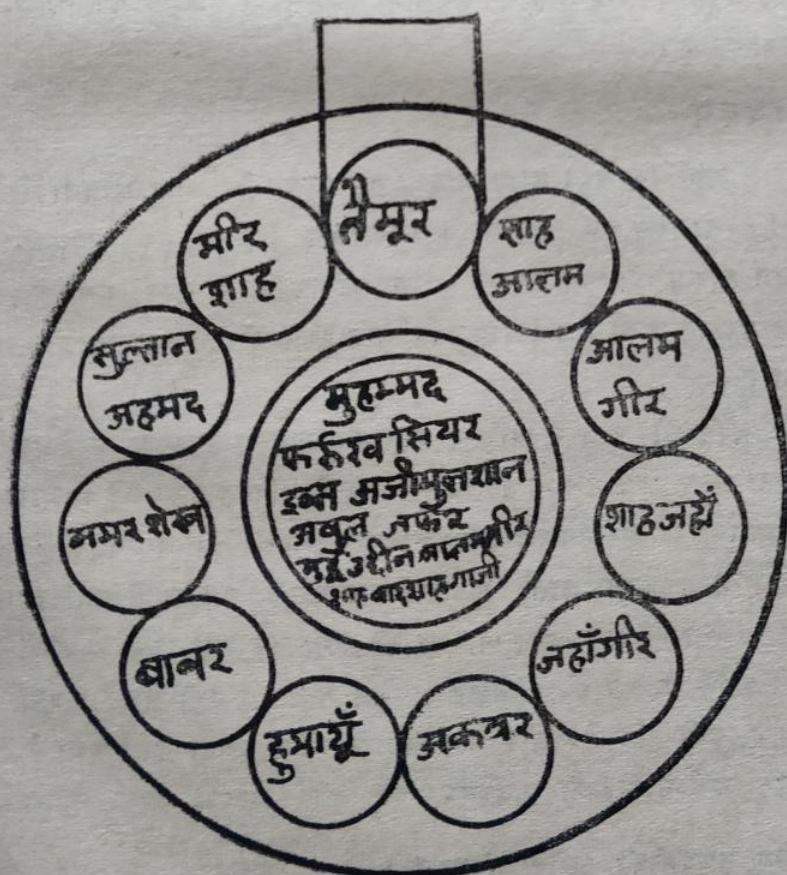
फरमान तीजा—सन् १५ तारीख २४ मुहर्रम Time copy compared with the original ईसवी १८३० तारीख २२, मास ५ विक्रम संवत् १८८७

I.J.O.W.R.
Roll Agent
(सूर्यकुण्ड)

चतुर्थ अध्याय

सम्प्रदाय का स्वरूप

पूजा, उपासना विधि, उत्सव प्रणाली एवं उपासना के बाह्य उपकरण—

निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्म को प्राप्त करना ही जीव का उद्देश्य है। इसका उपाय है शरणागति। प्राणी को भगवान् की शरण में जाने के लिए प्रथम गुरु की शरण में जाना आवश्यक है। फिर गुरु के उपदेशानुसार भक्त भगवान् की ओर अग्रसर होता है। शिष्य के प्रति गुरु का उपदेश उपासना के रूप में होता है। उपासना एक प्रकार से भगवत्प्रेम का साधन है। अतः भगवान् की पूजा के रूप में उपासना इस सम्प्रदाय में आवश्यक कर्तव्य है "दशश्लोकी" में निम्बार्काचार्य कहते हैं:—

"उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रह्मणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्ते[1]।

अज्ञानान्धकार की परम्परा से छूटने के लिए मनुष्यों को भगवान् की उपासना अवश्य करनी चाहिए। पाँचरात्र विधि में भी उपासना को बहुत आवश्यक कहा गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय उपासना प्रधान है, इस सम्प्रदाय का प्रत्येक वैष्णव गुरुसेवा, भगवत्-नामजप, भगवत्पूजा और भगवद्रूपचिन्तन का ही यथाशक्य अनुष्ठान करता है क्योंकि निम्बार्क स्वामी की एकमात्र अपूर्व देन यह सुमधुर उपासना प्रणाली है जिसके पूरे विधि-विधान इस सम्प्रदाय में प्रचलित हैं।

(अ) उपासना का स्वरूप—

उपासना तथा पूजा में आंतरिक तथा बाह्य भावना का अन्तर है। यह भावना दो प्रकार से की जाती है—(१) स्वस्वरूप एवं उपास्य के स्वरूप का चिन्तन, (२) उपास्य-देव की सेवा-भावना। इनमें स्वरूप चिन्तन भावना दार्शनिक पद्धति से सम्बन्धित है। वह वेदान्त दर्शन के आधार पर की जाती है। विभिन्न-विभिन्न आचार्यों की धारणाओं के अनुसार उसके अनेकों प्रभेद हैं।

अद्वैतवादी आचार्य जीव को ब्रह्म से अभिन्न मान कर उपास्य-उपासक में केवल अभेद ही मानते हुए "अहं ब्रह्माऽस्मि" की भावना का चिंतन करते हैं। किन्तु द्वैतवादी आचार्य उसके विपरीत केवल भेद-भावना से ही उपास्य-उपासक के स्वरूप का चिन्तन करते हैं। उनके मत से जो सेव्य सेवक-भाव माना जाता है वह केवल अभेद भावना में नहीं रह सकता। अतएव वैष्णवाचार्यों ने केवल अभेद भावना को अंगीकार नहीं किया। जीवों का आधार ब्रह्म है अतः वे अपने आधार को छोड़कर अन्यत्र कहीं रह नहीं सकते। ब्रह्म व्यापक है और जीव व्याप्य हैं, इसी दृष्टि से जीवों का ब्रह्म से अभेद माना जा सकता है, वस्तुतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी श्री सर्वेश्वर प्रभु और अल्पज्ञ अल्प शक्ति

१—वेदान्त कामधेनु, दशश्लोकी, श्लोक संख्या ६।

वाले अणु स्वरूप जीवों का ब्रह्म से विभेद स्वाभाविक है । जिस प्रकार कोई रंक व्यक्ति अपनी दरिद्रता मिटाने के लिये किसी नरेन्द्र के पास पहुँच कर "मैं राजा हूँ आप—मैं और मुझमें कुछ भेद नहीं" यह घोषित करे तो नरेश उस रंक पर प्रसन्न न होकर असंतुष्ट एवं कुपित ही होता है उसी प्रकार अपने को ब्रह्म घोषित करने वाले साधक जीव की दशा को समझना चाहिये[1] ।

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में वह स्वरूपचिन्तन भेदाभेद भावना से किया जाता है, क्योंकि उपास्य (ब्रह्म) व्यापक एवं अंशी है और उपासक (जीव) व्याप्य एवं अंश हैं । यह अंशांशी भाव श्रुतियों के अनेक स्थलों में व्यक्त हुआ है । स्वयं भगवान् श्यामसुन्दर ने भी "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गी. १५।७) इस वचन द्वारा उसी का समर्थन किया है । "अंशोनानाव्यपदेशात्० (ब्र०सू० २।३।४२) इत्यादि सूत्रों में इसी सिद्धान्त का श्री व्यासजी प्रतिपादन करते हैं । अतः भेदाभेद भावनानुसार उपास्य और उपासक के स्वरूप का चिन्तन करना ही दर्शन शास्त्र का तात्पर्य समझा जाता है ।

यद्यपि अद्वैतवादी आचार्यों ने अभेद भावना पर ही बल दिया है तथापि सेव्य सेवक भाव निरूपण करते हुए स्वयं श्री शंकराचार्य ने भेद पूर्वक अभेद भावना को ही स्वीकार किया है[2] । उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार तरंगें समुद्र में उठती रहती हैं समुद्र तरंगों में नहीं समा सकता, उसी प्रकार हे नाथ ! मैं आपका सेवक हूँ आप मेरे स्वामी हैं । यद्यपि मैं आपसे पृथक् नहीं हो सकता फिर भी स्वाभाविक भेद तो दोनों में है ही ।

दार्शनिक पद्धति से श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में भूमाविद्या की परम्परा प्राचीन काल से चली आती है । श्री सनकादिकों से वह उपासना श्रीनारदजी को मिली और श्री नारदजी ने उसी भूमाविद्या का उपदेश श्री निम्बार्काचार्यजी को किया ।

उस उपासना का साधक सांसारिक सुखों से आकर्षित नहीं होता, क्योंकि वह भूमा सर्वव्यापी अखण्ड सुख स्वरूप है[3] अतएव जिसे उस सुख का अनुभव हो रहा हो वह इन क्षणिक सुखों की ओर ध्यान ही नहीं देता । इसलिये श्रुतियों में कहा है:— "यत्रनान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा० छां० ७।२४।१ । उस मधुरातिमधुर रस से बढ़कर और कोई सुख है ही नहीं । उसी उपासना का रसोपासना, माधुर्यभाव, उज्ज्वल रस उपासना आदि नामों से उल्लेख मिलता है ।

१—घातयन्ति हि राजा नो राजाहमितिवादिनः । ददत्यखिलमिष्टं च स्वगुणोत्कर्ष-वादिनम् । (सर्वदर्शनसंग्रह का पूर्णप्रज्ञ दर्शन)

२—सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् । सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रो नस्तारङ्गः । श्रीशंकराचार्य कृत षटपदी ।

३—यो वै भूमा तत्सुखम्० छां. ७।२३।१ ।

उसके उपास्यदेव (श्रीश्यामसुन्दर) रसरूप हैं, उन्हीं रस रूप प्रभु की प्राप्ति होने पर यह जीव वास्तविक सुख शान्ति का अनुभव कर सकता है, अन्यथा नहीं।[1]

कुछ सज्जन दर्शन और उपासना में महान् अन्तर मान लेते हैं जो वास्तव में अनुचित है। दर्शनशास्त्र उपासना के ही अन्तर्गत है वह केवल ज्ञान का ही पोषक नहीं है अपितु उपासना से भी सर्वत्र ओतप्रोत है। जिस प्रकार उपासना में वाह्याऽभ्यन्त क्रियायें होती हैं उसी प्रकार ज्ञान भी मानसिक क्रिया रूप ही है। अतएव रस (मधुर रस) की उपासना को अशास्त्रीय मान लेना भारी भूल होगी।

डा० विजयेन्द्र स्नातक-श्री हरिदासी सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय में बहुत घनिष्ट ऐक्य स्वीकार करके यह घोषित करते हैं—"स्वामी हरिदास ने 'केलिमाल' नामक ग्रन्थ में सिद्धान्त सम्बन्धी पद लिखे हैं। सिद्धान्त स्थापना में सखी भाव की प्रधानता है किन्तु दार्शनिक विवेचन का सर्वथा अभाव है।[2]" आगे चलकर राधावल्लभ सम्प्रदाय में रसोपासना की पुष्टि एवं रसभक्ति में दार्शनिकता का अभाव सिद्ध करने के लिये वे लिखते हैं :—"भक्ति सिद्धान्तों में गहन दार्शनिक चिन्तन का अवकाश नहीं रहता किन्तु रसदर्शन के अन्तर्गत राधा और कृष्ण का स्वरूप सहचरी की स्थिति, वृन्दावन का नित्य नैमित्तिक रूप और महत्व का विचार होने से इनके वर्णन में दार्शनिक ऊहापोह के लिये अवकाश निकल सकता है।"[3] इस प्रकार रसभक्ति में वे दार्शनिकता का सर्वथा अभाव स्वीकार नहीं करते अपितु दार्शनिक जटिलता और भक्ति सिद्धान्त के शास्त्रीय विवेचन का अभाव[4] एवं शास्त्रीय जटिलता पूर्ण दार्शनिकता का अभाव[5] ही "रसभक्ति में दार्शनिकता के अभाव" इस वाक्य का तात्पर्य अभिव्यक्त करते हैं। सम्भव है श्री स्वामी हरिदासजी के पदों सम्बन्धी डा० स्नातक की उपर्युक्त पंक्तियों से या अन्य किसी लेखक के प्रभाव से श्री प्रभुदयालजी मीतल से भी यही भ्रान्तिपूर्ण भूल हो गई और उन्होंने भी लिख डाला कि "स्वामी जी के पदों में किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण नहीं हुआ है, वरन् ज्ञान वैराग्य और भक्ति की सामान्य बातों का ही कथन किया गया है[6]। श्री मीतलजी को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ, सिद्धान्त के पदों का निष्कर्ष दिखलाते हुए उन्होंने अपने मंतव्य को और भी स्पष्ट करना चाहा—"सिद्धान्त के पदों के उपर्युक्त निष्कर्ष से ज्ञात होता है कि उनमें किसी विशिष्ट दार्शनिक तत्व का निरूपण

१—रसो वैसः, रसंह्येवाऽयं लब्ध्वा आनन्दी भवति। तै० उ०

२—राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ३०।

३—वही पृ० १२५।

४—वही पृ० १२६।

५—वही पृ० १२७।

६—स्वामी हरिदासजी, जीवनी और वाणी, श्री प्रभुदयाल मीतल, पृ० ४५।

नहीं है। उनमें ईश्वर की सर्वोपरिता मायाबद्धजीव की विवशता, संसार की निस्सारता और नश्वरता भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति की आवश्यकता आदि भक्ति मार्ग की सामान्य बातें ही बतलाई गई हैं।"[1]

इन दोनों विद्वान लेखकों की उपरोक्त धारणा का कारण केवल यही है कि उन्होंने दार्शनिक चिन्तन की पद्धति एवं रसपद्धति में अभेद रहते हुए भी भेद की भ्रान्त कल्पना कर डाली है। वास्तव में दार्शनिक पद्धति से जो भावना की जाती है वह रसोपासना के विरुद्ध नहीं हो सकती। दार्शनिक चिन्तन पद्धति एवं रसोपासना वास्तव में एक ही तत्व के दो पक्ष हैं। जब जीव पर प्रभु की कृपा होती है तो वह उस पर ढरने लगता है। उसके ऐसे अनेक तत्व जो सामान्यतया जीव की शक्ति से परे हैं द्विव्य शक्ति से उपलब्ध हो जाते हैं और यह दिव्य शक्ति क्या है,वही दार्शनिक चिंतन पद्धति है। अर्जुन के ऊपर प्रसन्न होकर भगवान् ने स्वयं कहा 'दिव्यं ददामिते चक्षुः पश्यमे योगमैश्वरम्' अर्जुन् ! मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ। उससे मेरे इस रूप ने देखो जो चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। वृहदारण्यक उपनिषद में ब्रह्म को एक स्थान पर परम आनन्द स्वरूप कह कर फिर "एतस्यैवानन्दस्यान्याति भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (वृ. ४-३-२३) उसके आनन्द की मात्रा से अन्य प्राणीमात्र को उपजीवित कहा गया है। जैसे प्रिय स्त्री से आलिंगित पुरुष बाहर और भीतर कुछ नहीं जानता है वैसे ही प्राज्ञआत्मा (ईश्वर) से आलिंगित पुरुष (जीव) भी वैसा कुछ नहीं जानता। वह जीव का आप्तकाम और आत्मकाम शोक विहीन रूपान्तर है (वृ. ४-२१) रसोपासना के मूल में भी यही चिन्तन भावना काम करती दिखाई देती है।

उपर्युक्त रीति से स्वरूप चिंतन के अतिरिक्त अपने उपास्यदेव की भी जो अष्टयाम सेवा भावना की जाती है वह 'मानसी सेवा' कहलाती है। पुष्प, धूप, नैवेद्य आदि सामग्री से साकार स्थूल इष्ट स्वरूप के अर्चन को 'पूजा' कहते हैं। उपासना में मानसिक चिन्तन प्रधान होता है। उपासना में भी पूजा का आश्रय रहता ही है, पर उस अवस्था में हार्दिक भावों की प्रधानता होने के कारण उस पूजा को 'सेवा' शब्द से निर्देशित किया जाता है। स्वयं निम्ब्रार्क स्वामी ने उपासना के चार प्रकार—भृत्य, पुत्र, मित्र और प्रिया भाव से बतलाये हैं[2]। यही परा या रागानुगा भक्ति की उपासना का मूल आधार है, जिसका विस्तृत विवरण हरिव्यासदेवजी ने दशश्लोकी की व्याख्या में किया है। इन चारों प्रकारों में से निम्बार्क स्वामी को कौन से रस की उपासना आदरणीय थी, इसका निर्णय उनकी दशश्लोकी में कहे हुए राधाकृष्ण के युगलस्वरूप के ध्यान से होता है, जिसमें सहस्रों सखियों को राधिका जी की सेवा में नियुक्त बताया गया है।

निम्बार्काचार्य ने साम्प्रदायिक सिद्धांतों का बहुत ही संक्षिप्त सूत्ररूप से कथन किया

१—स्वामी हरिदास जी, जीवनी और वाणी, श्री प्रभुदयाल मीतल पृष्ठ ४७

२– देहेन्द्रिय मनः प्राणैर्माया हित्वा समाहितः ।
भृत्यवत् पुत्रवत् सेवेत् प्रियावन्मित्रवत्तथा ॥
रहस्य षोडशी, १६ ।

है, पर जो भी कहा है वह अत्यन्त सारभूत और निश्चित शब्दों में है। इस सम्बन्ध में विशेष विवरण वे अपने शिष्यों को मौखिक उपदेश रूप में बतलाते रहते थे। सम्प्रदाय के आरम्भिक युग में आचार्यों के बीच यही परम्परा चलती रही। निम्बार्क के अनन्तर श्री निवासाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की भाष्य-रचना में लेखनी का जितना वैभव दिखलाया वैसा भक्ति तत्व के निरूपण का यत्न नहीं किया। किन्तु निम्बार्कोपदिष्ट सिद्धान्त की अनुभूति उन्हें स्पष्टतया होती रहती थी, जिसका प्रकाश मुक्तिपदार्थ के निरूपण में उन्होंने इन शब्दों में किया है:—

भगवद्भावापत्तिरेव मुक्तिः, तथा हि स्मृतिः—
निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा ॥ १ ॥
भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तान्तन्तिकीमता।

अधिक से अधिक आनन्द भी जिसकी तुलना में फीका हो ऐसी केवल परमसुख की अवस्था ही भगवत्प्राप्ति रूप मुक्ति मानी गई है। ऐसा सुखभाव सुरम्य निकुंजरस के लीलाचिन्तन में ही सम्भव है। दशश्लोकी के युगलध्यान वाले श्लोक को अपने भाष्य में उद्धृत करके श्री श्रीनिवासजी ने इस रहस्य का संकेत किया है।

इनके अनन्तर मध्यकाल के विख्यात ग्रन्थकार आचार्य केशव काश्मीरी ने भी उपासना विधि के सम्बन्ध में एक "क्रम दीपिका" नामक ग्रंथ लिखा। उनके उपलब्ध ग्रन्थों में प्रसंगानुसार इस विषय की चर्चा हुई है। अपनी गीता-व्याख्या की उपक्रमणिका में भगवान् के प्रकट होने का प्रयोजन वे यह बतलाते हैं:—

भागवत धर्म के प्रचलन का अभाव देखकर संसारी जनों के उद्धारक उपाय अपने स्वरूप, ज्ञान और भक्ति का प्रचार करने के लिए तथा अपने दर्शनार्थ चातकवत् उत्कंठित अनन्याश्रित, प्रेमी भक्तों को सौन्दर्य-माधुर्य, लावण्य आदि से परिपूर्ण अपनी छवि के दर्शन, मधुर आलाप, मनोहर लीला आदि द्वारा उनकी मनोभिलाषा पूर्ण करने के लिए अपने समग्र गुण और शक्ति समेत भूभार हरण के बहाने से भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए थे[२]।

श्री केशव काश्मीरी भट्ट ने यहाँ स्पष्ट रूप से भगवान् के आविर्भाव का प्रयोजन भक्तों की रसमयी उपासना को ही बतलाया है। आगे गीता के चतुर्थ अध्याय में भगवान् के अवतार का प्रयोजन धर्म संस्थापन कहा गया है, उसकी व्याख्या में भी केशव काश्मीरी जी कहते हैं कि कृष्णावतार के समय वर्णाश्रमधर्म भली प्रकार प्रचलित था, उसकी स्थापना अकिंचित्कर थी। इसलिए भगवद्भक्ति-प्रचार ही धर्म स्थापना का अर्थ है। उपासना के अन्तर्गत पूजा ही मुख्य है। सम्प्रदाय में इसके तीन भेद किये गए हैं। (१) वैदिकी-पूजा, (२) तांत्रिकी-पूजा, (३) अनुरागात्मिका-पूजा या सेवा।

वैदिकी पूजा—

इस सम्प्रदाय में वैदिक विधियों का बड़ा आदर है, पर वे विधियाँ भगवान् से ही

१—वेदान्त कौस्तुभ भाष्य, जिज्ञासाधिकरण। १, १, १।
२—श्री केशवकाश्मीरी कृत, "तत्वार्थ प्रकाशिका" गीताव्याख्या की अवतरणिका।

सम्बद्ध होनी चाहिए। शुष्क कर्मकांड इसके लिए अनावश्यक है। इसलिए वेदमन्त्रों के अनुसार भगवान् की पूजा प्रधानता से प्रचलित है। इसके लिए शालग्राम या लड्डूगोपाल की प्रतिमा भी बड़ी उपयुक्त है, एवं शालग्राम-सेवा इस सम्प्रदाय के आचार्यों का मुख्य चिह्न है। पुराने आचार्य तीर्थयात्रा, धर्म-प्रचार आदि के लिए देशाटन करते समय अपनी पूजा के शालग्राम को गले में बाँधकर चलते थे। विश्राम स्थल पर उसे पवित्र स्थान पर स्थित कर देहशुद्धि की जाती थी, फिर शालग्राम भगवान् की पूजा कर, तब अन्य किसी काम में लगते थे। सम्प्रदाय में अब भी यह आदर्श प्रचलित है। वैदिक पूजा विधि में भगवान् के षोड्श (१६) उपचार, द्वात्रिंशत्, (३२) उपचार या अष्टचत्वारिंशत्, (४८) उपचारों से मन्त्र बोल-बोलकर पूजा की जाती है। वेदमन्त्र, सूक्त पाठ, हवन और जप भी इसके अंग हैं। वैदिकी पूजा में गन्ध मिश्रित जल, दूध आदि से विस्तृत स्नान विधि-विधानपूर्वक कराया जाता है, इसको "अभिषेक" कहते हैं। शालग्राम या गोपाल-प्रतिमा इसके लिए सुविधाजनक होती है। यह सरल भी है। 'सदाचार सार संग्रह' और पुराणों की चर्चा करते समय इस विषय पर थोड़ा प्रकाश डाला जा चुका है।

तान्त्रिकी पूजा--

इस पूजा में गोपाल मन्त्र की आराधना होती है। तन्त्रशास्त्र के अनुसार प्रत्येक देवता का विशिष्ट प्रकार का रेखात्मक स्वरूप भी होता है। रेखाओं की विविध रचनाएं ही यन्त्र कही जाती हैं। यन्त्र का आकार त्रिकोण, चतुष्कोण, चक्र, कमल आदि के संयोग से बनता है। उन रेखाओं के मध्य परिकर समेत देवता की स्थापना होती है, एवं मुख्य इष्ट मन्त्र के आकार भी स्थापित किये जाते हैं। फिर न्यास ध्यान के साथ सबकी पूजा की जाती है। मन्त्र, जप, हवन भी होता है। निम्बार्कीय वैष्णवों में इस विधि से गोपाल-मन्त्र द्वारा पूजा की जाती है। गोपालतापिनी उपनिषद्, गौतमीय तन्त्र, सम्मोहन तन्त्र आदि ग्रन्थ तांत्रिकी पूजा के आधार हैं। भागवत् एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण-उद्धव संवाद में वैदिकी और तांत्रिकी पूजा की चर्चा है। तांत्रिकी पूजा अधिकतर पठित व्यक्तियों में जो एक स्थान में स्थिर रहते हैं, देखी जाती है। केशव काश्मीरी भट्टाचार्य की 'क्रमदीपिका' इस विषय का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अनुरागात्मिका पूजा--

भक्तों के लिए भगवान् श्रीकृष्ण की चरण सेवा को छोड़कर अन्य कोई आश्रय नहीं है। श्रीकृष्ण ही साक्षात् परमेश्वर हैं जिनकी वन्दना ब्रह्मा, शिव आदि देवता किया करते हैं। श्रीकृष्ण की शक्तियाँ अचिन्तनीय हैं, उनका प्रभाव अगम्य है। भक्तों को आनन्दित करने के लिए वे मनोहर स्वरूप में प्रकट होते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण प्रभु की प्राप्ति का साधन है भक्ति जो पाँच भावों से पूर्ण मानी जाती है—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। इनमें सबसे उत्कृष्ट भक्ति उज्ज्वल भाव के अन्तर्गत होती है[1]। इसके उदाहरण ब्रजगोपियाँ हैं। "नारद-भक्ति-सूत्र" में भी गोपीभाव वाली भक्ति को सर्वोत्तम

१—वेदान्त कामधेनु, श्लोक संख्या ८।

माना गया है। इनके अनुकरण पर निम्बार्क सम्प्रदाय भी इसी उज्ज्वल भाव की उपासना को आदर्श मानता है[1]। गोपियों के समाज की अपने आराध्य के प्रति सर्वाधिक प्रेम-भावना रखना यही उज्ज्वल या माधुर्य भाव है[2]। इसके अन्तर्गत भक्त अपने में सहचरी भाव का आरोप कर अपनी समस्त प्रवृत्तियों को भगवान् की अन्तरङ्ग सेवा में लगा देता है। इस प्रकार की सेवा प्रायः अप्रकाश्य रूप में की जाती है, लोक में दिखाने के लिए नहीं। निम्बार्क सम्प्रदाय के सभी आचार्यों के अन्तरंग जीवन में यही सेवा-भावना पाई जाती है। माधुर्य उपासना के विचार से इस सम्प्रदाय के आचार्यों में सहचरीनाम धारण की परंपरा श्री निम्बार्काचार्य के समय से ही चली आरही है जिसे वे अपनी काव्य रचनाओं एवं साम्प्रदायिक तत्व-वार्ता में प्रयुक्त करते रहते हैं। शिष्यगण अपने गुरुओं की वंदना और उनका कीर्तिगान इसी रहस्य नाम से ही करते हैं। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में एक विस्तृत सखी नामावली दी गई है। इस सम्प्रदाय की रहस्य भावना का दार्शनिक आधार 'श्रीमद्भागवत','ब्रह्मवैवर्त पुराण' 'पद्मपुराण' आदि से लिया गया है। सभी कृष्ण-भक्त वैष्णवों के मत में उनके परम आराध्य विष्णु अवतारी प्रभु भगवान् श्री कृष्णचन्द्र गोलोकविहारी हैं। उनका वह परम दिव्यलोक माधुर्य भावना से परिपूर्ण है। अतः गोलोकवादी निम्बार्क सम्प्रदाय में रसोपासना आदि काल से ही चली आती है।

इधर भाषा वाणीकार आचार्यों ने इस भाव को अपने ग्रन्थों में खूब पुष्ट किया। भाषा ग्रन्थों की ये रचनाएँ जब आलोचकों के सामने आईं, तब उन लोगों ने भ्रम से यह समझ लिया कि निम्बार्क सम्प्रदाय में माधुर्य रसपूर्ण उपासना पद्धति आधुनिक काल में प्रकट हुई। इस पर अन्य सम्प्रदायों का प्रभाव है[3]। इसी प्रकार डा० स्नातक कहते हैं कि इस मत में साधकों के लिए किसी विशेष भाव के स्वीकार का आग्रह नहीं है[4]। वैसे तो अधिकारी भक्त की वृत्ति के विकास के अनुसार भक्ति के पाँचों भावों में से सभी की इस सम्प्रदाय में स्वीकृति है परन्तु सिद्धांततः मुख्यता माधुर्य भाव की ही है जो श्रीकृष्ण कृपा से ही लब्ध हो सकती है[5]। साधक अपनी अभिरुचि के अनुसार दास्य, सख्य, माधुर्य आदि को स्वीकार कर सकता है। सम्प्रदाय में यह प्रसिद्ध है कि रस-भावना के अनुसार श्री निम्बार्काचार्य रंगदेवी जी के अवतार थे। जो श्री राधा की अष्ट सखियों में से मानी गई हैं[6]। आचार्य श्री भट्टजी, हरिव्यासदेव जी, स्वामी श्री हरिदास जी रसिकदेव जी, ललित-

---

१—वेदान्त कामधेनु, श्लोक संख्या ६।

२—सिद्धान्त रत्नांजलि, हरिव्यासदेव कृत, पृष्ठ ८६।

३—हिन्दी साहित्य, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ११६।

४—राधावल्लभसम्प्रदाय और सिद्धान्त साहित्य पृष्ठ ३४८।

५—कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते,
यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा। —दशश्लोकी, श्लोक सं० ६

६—मित्रभावेस्तो कक्रूष्णःसखीत्वे रंगदेविका।
कलौ निम्बार्क रूपेण सम्प्रदाय प्रवर्तकः॥ निम्बार्क प्रभा में उद्धृत—कृष्ण उपनिषद्।

किशोरीदेव आदि निम्बार्क सम्प्रदाय के जाज्वल्यमान महानुभाव माधुर्य रस के अनन्य उपासक हुए। यह उनके प्रसंग में स्पष्ट किया जायगा। उनकी उपासना पद्धति का विवेचन उनके काव्यालोचन प्रकरण में ही समाविष्ट है। रसिक शिरोमणि स्वामी हरिदास जी सखी भाव की उपासना के उन्नायक माने जाते हैं। स्वामी जी १६ वीं शताब्दी के वैष्णवाचार्यों में अग्रगण्य थे। तात्पर्य यह है कि निम्बार्क सम्प्रदाय में रस-उपासना अर्वाचीन नहीं, उसके प्रारम्भ से ही चली आ रही है। निम्बार्काचार्य ने अपनी दशश्लोकी में युगल उपासना के साथ भगवान् की आल्हादिनी शक्ति श्रीराधा की प्रधानता का उल्लेख किया है, क्योंकि भक्तों की कामनाओं को सफल करने वाली वही मानी जाती हैं और मधुर रस उपासना का बीज इसी में निहित है।

अनुरागात्मिका उपासना में निकुंजविहारी श्री राधाकृष्ण प्रिया-प्रियतम भाव से आराध्य हैं। इस भाव का स्थल इस भूमण्डल से परे गोलोक धाम है जिसका दूसरा रूप ब्रजमण्डल में नित्य वृन्दावन धाम है। उनकी सत्ता का अनुभव या साक्षात्कार श्रीकृष्ण की कृपा से उनके अनन्य भक्त को ही होता है। ऐसे प्रेमी भक्त की एकमात्र साध होती है यमुना पुलिन और वनकुंजों में श्रीकृष्ण की लीलाओं का दर्शन। अनुराग या माधुर्य भाव की परिपक्व अवस्था है इस निकुंजलीला में श्री राधाकृष्ण की सेवा। इस सेवा का अधिकार पुरुषत्व के समस्त भावों के विलीन होने पर सखीभाव में ही मिलता है। अनुराग, समर्पण, सेवा के रूप में अपने अहंभाव या व्यक्तित्व को आराध्यमय कर देना स्त्री भाव में ही सम्भव है। सखी भाव को स्वीकर करने वाला भक्त युगल स्वरूप वृन्दावन विहारी की "अष्टयाम सेवा" करना ही अपना कर्तव्य मानता है। अष्टयाम सेवा में प्रातः उत्थान से लेकर रात्रि की रास, क्रीड़ा, शयन काल तक का समावेश है। अनुरागात्मिका सेवा में भक्त इन्हीं अष्टयाम की लीलाओं का चिन्तन, कीर्तन करता हुआ विविध उपचारों से प्रभु की उपासना में तत्पर रहता है। 'सदाचार सार संग्रह' के प्रसंग में इसकी यथेष्ट चर्चा की जा चुकी है।

महावाणीकार श्री हरिव्यासदेव जी ने निम्बार्कीय रसोपासना के रूप की बड़ी सुन्दर रीति से प्रतिष्ठा की है। यद्यपि महावाणी के प्रत्येक सुख में ही परात्परतत्व ब्रह्म की श्रीकृष्ण रूप में उद्भावना, इच्छा भेद से उनकी आल्हादिनी शक्ति का अवतरण, नित्य वृन्दावन धाम के नित्य विहार में उनकी रुचि का प्रकाशन जिसका मूलोद्देश्य सहचरी रूप जीवात्मा की कल्याण साधना है वहाँ सांकेतिक रूप से इङ्गित किया गया है परन्तु सिद्धांत-सुख के अन्तर्गत इसका विशद विवेचन है। रसोपासना, महामृदुल, महामधुर और अत्यन्त गोपनीय रहस्य से पूर्ण है इस कारण महावाणी के सेवा-सुख और सुरत-सुख के रस की उपलब्धि का अधिकारी केवल अनन्य साधकों को ही बतलाया गया है[1]। श्री हरिव्यास-देव जी के अतिरिक्त रसोपासना और रसदशा प्राप्त करने वाले साधकों का वर्णन रूप-

---

२—**महावाणी, पृष्ठ १४६, छन्द संख्या १।**

रसिक देव, स्वामी रसिकदेव, बिहारिनिदेव, ललितकिशोरी देव, भगवतरसिक देव, आदि कवियों ने अपने वाणी ग्रन्थों में विस्तार से किया है।

साधकों को प्रभु का अनन्याश्रय लेना निष्कर्म होकर विधि निषेध धर्मों का परित्याग करके, झूँठ, क्रोध, निन्दा छोड़ करके केवल महाप्रसाद पर अवलम्बित रहते हुए जीव मात्र पर दया भाव रखकर, कठोर वचनों का सर्वथा परित्याग करके, माधुर्य भाव समन्वित होकर एक घड़ी भर के लिए भी रस रहस्य को न छोड़ते हुए सद्गुरु का शरणागत होना चाहिए। गुरु शिष्य का भाव देखकर उसकी वृत्ति के अनुरूप सहचरी भाव की सेवा उपासना का निश्चय करते हैं और उसी से सम्बन्धित सखी नाम भी उसे देते हैं। रसिक भाव की प्रतीति के लिए महावाणीकार ने साधकों के लिए नौ लक्षण आवश्यक बतलाये हैं[१]। इनकी प्राप्ति के लिए उन्होंने दश पैड़ियों का विधान भी किया है।

पहिले रसिक जनन कौं सेवे, दूजी दया हृदय धरि लेवे।
तीजी धर्म सुनिष्ठा राखै, चौथी कथा अतृप्त ह्वै भाखै॥
पंचम पद-पंकज अनुरागै, षष्ठी रूप-अधिकता पागै।
सप्तमि प्रेम हिये विरधावै, अष्टम रूप-ध्यान गुन गावै॥
नवमी दृढ़ता निश्चै गहिवै, दशमी रस की सरिता बहिवै।
या अनुक्रम ते जे अनुसरहीं, शनैः शनैः जग ते निरबरहीं[२]॥

इस प्रकार का आचरण करते हुए साधक का श्री किशोर किशोरी के नित्य-वृन्दावन-धाम-परिकर में प्रवेश हो जाता है। इसी परिकर के लिए श्री निकुंजविहारी विहारिणी नित्य विहार करते हैं।

नित्यविहार

नित्यविहार श्री राधामाधव की अनन्य आनन्दमयी अलौकिक सुख पूर्ण सतत शाश्वत रति-क्रीड़ा है जो नित्य वृन्दावन धाम कीं दिव्य कंचनमय भूमि, विमल वृक्षों से आच्छादित सुरङ्ग पत्र, पुष्प, फल परिवेष्टित कंकनाकार यमुना-कूल वर्तिनी सुरभित निकुंजों में अनवरत रूप से चलती रहती है[३]। इसमें किसी प्रकार का बाह्य अथवा आन्तरिक विक्षेप नहीं होता। यह सभी वेद-तन्त्रों का मनोहर मंत्र है। अतः सहचरी वर्ग के आनन्द-कल्याण का साधन है। सहचरी रूप जीवात्माएँ निकुंज रंन्ध्रों से इस नित्य-विहार का दर्शन करती रहती हैं। उनके कल्याण के लिए ही नित्यविहार का आयोजन है। नित्यविहार श्री श्यामाश्याम के अप्राकृत प्रेम का परिणाम है जो काम से कोसों दूर है। तात्विक दृष्टि से श्री राधामाधव उस आदि अनादि, एकरस परब्रह्म स्वरूप के युगल विग्रह रूप हैं। नित्यविहार के लिए ही वे युगल स्वरूप धारण करते हैं अन्यथा वे एक ही हैं[४]। सहचरी वृन्द भी उन्हीं परब्रह्म की अंशभूत हैं। परन्तु प्राकृत-विकृति के कारण उनसे

१—**महावाणी, श्री हरिव्यासदेव कृत पृष्ठ १८०।**
२—**वही** पृ० १८१।
३—**वही** पृ० १७१।
४—**ललितकिशोरी जी की वाणी,** पृ० ३४, **छन्द संख्या ६६३।**

भिन्न प्रतीत होती हैं। प्रिया प्रियतम के समस्त आनन्द भोग सहचरी जन की प्रसन्नता के लिए हैं। अतः नित्यविहार निजी सुख-साधना के लिए नहीं वरन् परात्मतृप्ति के लिए है। लौकिक रति में नायक अपना सुख चाहता है और नायिका अपना परन्तु नित्यविहार की स्थिति सर्वथा भिन्न है। यहाँ विहार करते हैं श्री राधामाधव और तृप्ति होती है सहचरी वर्ग की। नित्यबिहारी राधामाधव परस्पर एक दूसरे की रुचि के साधक हैं। राधा वही सब आचरण करती हैं जिससे प्रियतम का सुखभोग हो उधर माधव प्रियतमा की रुचि लिए उन्हीं क्रीड़ा-कलापों में निमग्न हैं जो प्रियतम को आल्हादवर्द्धक हैं। इसी कारण श्री श्यामाश्याम का प्रेम अखण्ड है, निरवधि है और अलौकिक है। लौकिक प्रेम वितृष्णा में परिणित हो जाता है परन्तु यह प्रेम निरन्तर बढ़ता ही जाता है "प्रेम की बढ़ती हुई पिपासा ने ही उसका (प्रेम का) रूप ले लिया है।" इसमें मान, विरह का कहीं लेश भी नहीं है। यह अत्यन्त वन्द्य, स्निग्ध और सर्वथा दुर्लभ है। नित्यविहार में रंगदेवी, श्री हितू सखी, हरिप्रिया प्रभृति यूथेश्वरियों को श्री राधामाधव का सानिध्य अनुज्ञापित है। वे अपने-अपने भाव के अनुसार नित्यविहार सेवा में निरत रहती हैं। तत्सुखी भाव से वे श्री राधामाधव के आनन्द में ही अपना आनन्द अनुभव करती हैं। प्रत्येक यूथ में सहचरियों की यथेष्ट संख्या रहती है वे यूथेश्वरियों के संकेत पर सेवारत रहती हैं[1]। इसी प्रकार श्री श्रीभट्टजी ने अपने युगलशतक के प्रारम्भ में सेव्यतत्व का निर्दशन करते हुए इन्हीं की

१—सुगभ सेज पर सुघर सुंदरवर रसिक पुरंदर कुंवर किशोर।
ब्रीड़हि तजि क्रीड़हिं मन मानत नहिं जानत कित रजनी भोर॥
करत पान रसमत्त-मिथुन मन मुदित उदित आनन्द अधीर।
सेवत सहज सदा सुखसागर नागरि नागर गहर गंभीर॥
सखी सहेली सहचरि सुंदरि मंजरि महल टहल टग लागि।
कोउ आवति कोउ जाति जतन जगि अतन अंगसंगनि अनुरागि॥
मान बिरह भ्रम को न लेश जहँ रसिक राय कौ रस मय भौन।
जद्यपि अति उत्कृष्ट सृष्टि तऊ कृपादृष्टि बिन पावत कौन॥
अक्रियमाण अनादि आदि है एक समान स्वतन्त्र विलास।
पारब्रह्म कहियतु है इनकी पद-नख ते सुख-ज्योति प्रकाश॥
सदा सनातन इकरस जोरी सत् चित आनन्दमयी स्वरूप।
अनन्त शक्ति पूरन पुरषोत्तम जुगलकिशोर विपिनपति भूप॥
× × × ×
बोलें बोल अबोल अबोलें डोलें संग लागि सब तीय।
मन आनुसारिनि आज्ञाकारिनि बिवितन के तन में मन दीय॥
यह रस दुल्लभ हूँ ते दुल्लभ सुल्लभ नित्य रहत है ताहिं।
श्री हरिप्रिया जानि जन जिय में हिय में अपनावत जब जाहिं॥
महावाणी—हरिव्यासदेव कृत पृष्ठ १७४।

वन्दना की है जिनसे हिन्दी काव्य में नित्यविहार वर्णन का प्रारम्भ माना जा सकता है।

सन्तो! सदा सुसेब्य हमारे वृन्दाविपिन विलासी।
नंदनंदन वृषभानुनन्दिनी चरण अनन्य उपासी।।
मत्त प्रणयबस सदा एक रस, विविध निकुंज निवासी।
जै श्रीभट्ट युगल बंसीवट सोहति मूरति सब सुख रासी।।[1]

(१) परात्पर तत्व परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण, (२) उनकी आल्हादिनी शक्ति श्री राधा, (३) जीवात्मा रूप सहचरी वर्ग, (४) नित्य वृन्दावन धाम। नित्य विहार के चार अंग हैं—नित्य विहार में श्री श्यामाश्याम का नित्य किशोर रूप ही ग्राह्य है। किशोरी जी का यह रूप उनकी अवस्था का परिचायक है न कि उनके दाम्पत्य भाव का।

निम्बार्क सम्प्रदाय के सभी हिन्दी कवियों ने नित्यविहार का वर्णन किया है यह इस सम्प्रदाय की उपासना का प्रमुख तत्व है। श्री श्रीभट्टजी, हरिव्यासदेव, स्वामी हरिदास, रूपरसिकदेव और विहारिनिदेव जी के नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। रसिकगोविन्द कृत 'युगलरसमाधुरी' और बाबा माधवदास कृत 'निकुंजमाधुरी' में नित्य विहार का विस्तृत वर्णन है। रूपरसिकदेव जी ने 'लीलाविशंति' के अन्तर्गत सिद्धान्त-माधुरी में ब्रजभाषा गद्य में भी नित्यविहार और उपासना तत्व का सुन्दर विवेचन किया है। उपासना सूत्र के प्रकरण में पौराणिक आधारों का उल्लेख करते समय इस प्रबंध में प्रस्तुत विषय पर पूर्व में भी कुछ प्रकाश डाला जा चुका है।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपने ग्रन्थ "राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य" में नित्यविहार का स्वरूप शीर्षक प्रकरण में निम्बार्क सम्प्रदाय के नित्यविहार वर्णन को विशुद्ध नहीं माना है और उसका कारण यह दिया है कि इस सम्प्रदाय के कवियों में मान, विरह कोप तथा निकुंजान्तर गमन का वर्णन नित्यविहार में बाधक है[2]। यह सत्य है कि मान और विरह प्रेम वर्द्धन के सहायक तत्व होने के कारण प्रायः सांकेतिक रूप से स्वामी हरिदास[3], श्रीभट्ट जी[4], रसिकदेव जी द्वारा वर्णित हैं, परन्तु वे ठीक उसी रूप में हैं जिसमें हितचौरासी पद संख्या ७, व्यासवाणी पद सं० १४०, १४७, १५०, १५५, रहस्यमंजरी पृष्ठ १८६, १८७, हितश्रृंगारलीला पृष्ठ १२५ आदि राधावल्लभ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में हैं। यह दोनों ही सम्प्रदायों के कविगण का अभिप्रेत-इष्ट विषय नहीं है, केवल प्रासंगिक रूप से उन्हें इसे लेना पड़ा है। फिर राधावल्लभ सम्प्रदाय के नित्यविहार को ही विशुद्ध मानना न तो न्याय संगत है और न तर्क संगत ही।

इसी प्रकार राधावल्लभ सम्प्रदाय में सर्वप्रथम नित्यविहार वर्णन का सूत्रपात

१—युगलशतक श्री भट्टदेव कृत, पृष्ठ २।
२—राधावल्लभ सम्प्रदाय और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ २४०।
३—केलिमाल, स्वामी हरिदास, पृष्ठ २७-२८।
४—युगलशतक, पृ० ११-१२।

संस्थापित करने के प्रसंग में स्नातक जी को यह स्मरण नहीं रहा[1] कि निम्बार्क सम्प्रदाय में महावाणी को ब्रजभाषा का आदि ग्रन्थ नहीं माना जाता वरन् युगलशतक के विषय में ऐसी प्रसिद्धि अवश्य है और इसी कारण आलोचकों ने उसे 'आदिवाणी' नाम से ही सम्बोधित किया है। 'युगलशतक' के रचयिता श्रीभट्ट जी महावाणीकार के गुरु थे। महावाणी का रचनाकाल भी श्री हितहरिवंश जी से पूर्व का है इसका स्पष्टीकरण श्री हरिव्यासदेव जी के प्रसंग में किया गया है। इस कारण नित्यविहार वर्णन की परम्परा श्रीहितहरिवंश जी से पूर्व की है। महावाणी का रचनाकाल निम्बार्क सम्प्रदाय में तेरहवीं शती किसी विद्वान ने नहीं माना। न जाने स्नातक जी को यह भ्रान्ति किस प्रकार हो गई।

(आ) उत्सव प्रणाली—

भगवान् की सेवा में उत्कृष्टता और रोचकता लाने के लिए समयानुसार विविध उत्सव मनाये जाते हैं, बसन्त आदि ऋतुओं के अनुरूप जैसे त्यौहार मनाये जाते हैं, वैसे ही उत्सवों की लीला मनाई जाती हैं। उत्सव सामूहिक रूप में होते हैं जिनमें सेवक-समूह तत्कालीन उत्सव लीला के अनुसार पूर्वाचार्यों की वाणियों का गायन करता है। उत्सव के अनुसार ही ठाकुर जी का शृङ्गार एवं सेवा की जाती है। मृदङ्ग, तम्बूरा, सितार आदि की मन्द ध्वनि में मुक्तकंठों से राग-रागिनी प्रवाहित होती रहती है, शान्तिमय सुरम्य वातावरण का समा बँध जाता है। सम्प्रदाय में इस विधि का नाम "समाज" है। ऐसी समाज कई दिन तक भी चलती है। साम्प्रदायिक रसिक महात्मा इसमें मुख्यरूप से सम्मिलित होते हैं इसलिए "समाज" का आयोजन गौरवपूर्ण माना जाता है।

उत्सव में सम्भव हुआ तो रासलीला भी होती है। पहले शुद्ध भाव वाले छोटे बालकों का युगलरूप में शृङ्गार कर यमुना-पुलिन की यात्रा की जाती है। फिर साधु सेवा होती है, उसमें आमन्त्रित वैष्णवों और भक्तों का प्रसाद से सत्कार किया जाता है। उत्सवों में बसन्त, होली, झूलन, शरद आदि मुख्य हैं। समय समय पर विशेष उत्सव भी होते रहते हैं। सम्प्रदाय के आचार्यों की पाटोत्सव तिथि की सूची परिशिष्ट में दी गई है। जन्म दिन अथवा पाटोत्सव तिथियों में ही आचार्यों की जयन्तियाँ मनाई जाती हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय में माधुर्य भाव पूर्ण युगल उपासना ही मुख्य है। इस विषय में मान्यता यह है कि अपने प्रिय भक्तों से इस उपासना का प्रसार करने के लिए श्रीकृष्ण अपने अन्तरंग परिकर की किसी सखी को ब्रज-मण्डल में भेजते हैं। लौकिक रूप में ये ही आचार्य कहे जाते हैं। इसलिए पूर्वाचार्यों के जन्मोत्सव भी समारोह से मनाये जाते हैं। इनमें भी समाज-संकीर्तन, नगर परिक्रमा, साधुसेवा आदि किये जाते हैं।

अवतारों के जयंती उत्सव प्रायः शास्त्रीय ढङ्ग पर होते हैं। इनमें उपवास-व्रत

१—राधाबल्लभ सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० २३६।

आवश्यक होता है। फिर निर्दिष्ट समय पर पंचामृत से भगवान् का अभिषेक कर शृङ्गार किया जाता है। स्तोत्र पाठ, पद गायन और संकीर्तन होता है। यह सम्प्रदाय आडम्बर और आत्मख्याति से दूर रहकर अपनी मनोरम हार्दिक भावना को भगवान् के चरणों में अर्पण करना ही जीवन का व्रत मानता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि निम्बार्क सम्प्रदाय में निकुंजविहारी राधाकृष्ण का सम्पर्क विशुद्ध शास्त्र समस्त स्वकीया भाव का है। निम्बार्कीय एक ज्योति को ही लीलार्थ राधामाधव रूप में देखते हैं। लोक वेद की मर्यादा के वे इतने अनुयायी हैं कि उपासना की भावपुष्टि आदि के नाम पर भी परकीया भाव को कोई स्थान नहीं दिया जाता। उनकी उपास्य वही राधा हैं जो "स्वभावतो पास्त समस्त दोष मशेष कल्याण गुणैक राशि, व्यूहांगिनं ब्रह्म" कृष्ण के वामांक में शिष्ट परम्परा से बैठने वाली देवी हैं। इससे सम्प्रदाय की सांसारिक स्वार्थ के प्रति निस्पृहता और आदर्शवादिता स्पष्ट होती हैं।

रासलीलानुकरण—

चारों वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत निम्बार्क सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है, यह बात सुदृढ़ आधार पर स्पष्ट की जा चुकी है। विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के विषय में स्पष्ट प्रमाण या साहित्यिक रचना नहीं मिलती, इसलिए इनके समय, मत विस्तार आदि का प्रभावपूर्ण विवरण भी नहीं प्राप्त होता। अन्य दार्शनिक लेखकों के द्वारा नामोल्लेख और परम्परागत वृतान्तों से ही उनके अस्तित्व का निश्चय होता है। विष्णु स्वामी की क्रमबद्ध रचना, मठ, मन्दिर आदि नहीं मिलने के कारण विकास की दृष्टि से निम्बार्काचार्य के साथ इनकी तुलना का कोई आधार ही नहीं रहता। विष्णु स्वामी का प्रभाव क्षेत्र भी महाराष्ट्र प्रदेश की ओर माना जाता है। इसी प्रकार रामानुज और मध्वाचार्य का प्रभाव-क्षेत्र भी दक्षिण देश ही रहा है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय केउद्भ व विकास और प्रचार का क्षेत्र समग्र उत्तर भारत माना जाता है। निम्बार्काचार्य से तेरहवीं पीढ़ी में देवाचार्य जी हुए थे, इनसे एक अन्य आचार्य परम्परा चली, जो ब्रजभूषणदेव जी की शाखा कहलाती है। इसी के अन्तर्गत यशोदानन्दनदेव जी के शिष्य जयदेव कहे जाते हैं। इस आधार पर कह सकते हैं कि बङ्गाल की गौड़ीय परम्परा में माधुर्य भाव का आगमन जयदेव के माध्यम द्वारा निम्बार्क सिद्धान्त से मानना चाहिए। चैतन्य महाप्रभु के समय मध्वमत के आचार्य बङ्गाल में रहे हों, किन्तु जयदेव के काल में मध्वमत दक्षिण में ही अपनी शैशवावस्था में था। अतः भारत का पूर्व प्रदेश निम्बार्कीय उपासना से अधिकांश में प्रभावित था, यह निःसंकोच कह सकते हैं। पूर्वोक्त इन्हीं ब्रजभूषणदेव जी की परम्परा में महात्मा आसुधीरजी एवं स्वामी हरिदास जी हुए हैं जिन्होंने कुंजबिहारी श्यामाश्याम की नित्यविहार लीला को ही अपनी उपासना का सार माना। स्वामी हरिदास जी इस माधुर्य भाव के ऐसे अनन्य अनुरागी हुए कि इनकी रस-उपासना प्रणाली में सामान्य पूजा प्रकारों को छोड़कर केवल रसभाव ही स्वीकृत हो गया। आजकल निम्बार्क सम्प्रदाय के शाखारूप में यह परम्परा अपनी विशेषताओं सहित चल रही है

रसोपासना और उत्सव प्रणाली में रासलीलानुकरण का प्रमुख स्थान है। रासों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। श्रीकृष्ण जी ने गोपियों के साथ जो रासलीला की थी उसका वर्णन हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में विस्तार से मिलता है। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के अन्तर्गत "रास पंचाध्यायी" में रास का वर्णन उसकी प्राचीनता का द्योतक है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में तीन प्रकार के रासकों का उल्लेख है यथा ताल रासक, दण्ड रासक तथा मण्डल रासक। ये रास के प्राचीन रूप ही मानने चाहिए।

रास ने आधुनिक रूप विक्रम की १५ वीं, १६ वीं शताब्दी से लिया होगा ऐसी मान्यता साधारणतः भक्ति साहित्य पर लिखने वाले विद्वानों की बनती जा रही है[1]। उत्सवों का विकसित रूप रासलीलाओं में देखा जाता है। पूर्वकाल के रस-उपासक महात्मा मानसी ध्यान में रासलीला की भावना करते थे। "समाज" में वाद्यों के साथ पद-गान करते हुए भी रास-उत्सव मनाया जाता है। आचार्य श्रीभट्ट जी, हरिव्यासदेव जी, स्वामी हरिदास जी आदि के पूर्व तक रास का यही रूप था। निम्बार्क सम्प्रदाय में अभिनयात्मक रास का प्रथम उल्लेख स्वामी हरिदास जी के शिष्य विट्ठल विपुलदेव जी के चरित्र में मिलता है। कहते हैं[2] कि अपने गुरुदेव का तिरोधान होने पर उनके वियोग में विट्ठल विपुल जी ने आँखों पर पट्टी बाँध ली और इस प्रकार गुरु-दर्शन के अभाव में किसी व्यक्ति को न देखने का निश्चय कर लिया था। इस कष्ट से द्रवित वृन्दावन के रसिक संतों ने रासलीला के अभिनय की योजना की। किसी प्रकार इस उत्सव में विट्ठल विपुलदेव जी सम्मिलित हुए, तब महात्मा हरिराम व्यास जी ने उनसे प्रार्थना की कि रासेश्वरी प्रियाजी आपके सामने पधारी हैं और नेत्र खोलने की आज्ञा कर रही हैं। फलतः नेत्र खोलकर विट्ठल विपुल जी ने प्रियाजी का दर्शन किया। विट्ठल विपुलदेव ने स्वामी हरिदास जी के वियोग और प्रियाजी के निकट दर्शनों के भावोद्वेग में विभोर होकर उसी समय इस संसार का त्याग कर नित्य लीला में प्रवेश किया[3]।

इसी प्रकार भक्तवर हरिराम व्यास के चरित्र में भी रास की एक घटना का उल्लेख मिलता है। कहते हैं कि एक समय रास मंडली में नृत्य करते समय प्रियाजी के चरण का घुँघरू टूट गया, उस समय व्यास जी ने चटपट अपना जनेऊ तोड़कर उससे वह बाँध दिया और अपने जनेऊ पहनने को उसी दिन सार्थक माना। इन दो वर्णनों के सहारे देखना चाहिए कि रासलीला का प्रचार कब और किसके द्वारा हुआ। निम्बार्क-सम्प्रदाय में यह मान्यता है कि हरिव्यासदेव जी के शिष्य महात्मा उद्धवघमंडदेव (उपनाम घमण्डदेव) जी ने अभिनय के रूप में रासलीला को सर्वप्रथम प्रचलित किया। हरिव्यासदेव जी के समय में आजकल का वृन्दावन सघन वन के रूप में दूर-दूर तक फैला

१—राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २७४।

२—ललितप्रकाश, उत्तरार्द्ध, प्रसंग १, सहचरिशरण कृत।

३—भक्तमाल, छप्पय सं० ९४, प्रियादास टीका कवित्त सं० ३७७।

हुआ था, इस निर्जन प्रदेश में यमुना तट पर यत्र-तत्र साधु-संत निवास करते थे। ब्रज-धाम के प्रेमी संत भक्त यमुना के आसपास वाले लीलास्थलों में भ्रमण करते हुए कृष्ण-चरित्रों का अनुसंधान करते रहते थे। घमण्डदेव जी भी इसी प्रकार एक बार भ्रमण करते हुए करहला नामक ग्राम में पहुँचे। वहाँ वे लता कुंजों के शान्त प्रदेश में भगवान् की लीला का मानसी ध्यान कर रहे थे। इस अवस्था में उनको ब्रजवासी बालकों द्वारा इन लीलाओं का अभिनय कराने की प्रेरणा हुई[1]। फलतः घमण्डदेव जी द्वारा विशुद्ध भाव वाले द्वादशवर्षीय ब्राह्मण बालकों का चुनाव कर उनका सूत्र संचालक एक संगीतज्ञ बनाया गया, उसके द्वारा शिक्षित बालकों ने रास का लीलानुकरण आरम्भ किया।

इससे स्पष्ट है कि घमण्डदेव जी लीलानुकरण के प्रथम प्रवर्तक थे, उनके द्वारा ब्रज के प्रमुख स्थलों में इसका विस्तार हुआ। सम्भवतः उनके द्वारा प्रचारित रास का समाज वृन्दावन में विट्ठलविपुल जी के समाश्वसनार्थ अपनी आरम्भिक दशा में ही हुआ होगा। तभी तो इन महात्मा पर उसका चमत्कारी प्रभाव पड़ा। उस प्रारम्भिक दर्शन से व्यास जी भी इतने प्रभावित हुए कि घुंघरू के बाँधने के निमित्त उन्होंने अपना जनेऊ तक खण्डित कर दिया[2]। इस प्रकार जनश्रुति, करहला गाँव का घटनास्थल और पुराने रासधारियों के दृष्टान्त घमण्डदेव जी को ही रास-मण्डली के प्रवर्तक रूप में सिद्ध करते हैं। आधुनिक रासलीला प्रणाली निम्बार्कीय संतों की देन है। ब्रज लोक संस्कृति में ऐसे नृत्य, गायन, वादन विशेषतः प्रचलित रहे हैं, उक्त महात्मा ने अपनी भावनानुसार दिव्य रूप में रास संस्था का संगठन मात्र कर दिया था।

श्रीश्रीभट्ट जी उद्धव घमण्डदेव जी के दादागुरु थे। उनका स्थिति काल १५ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग पुष्ट तर्कों के आधार पर उनके प्रसंग में निश्चित किया गया है। हरिव्यासदेव जी का समय १६ वीं शती का प्रारम्भिक काल है अतः इन दोनों महात्माओं का आविर्भाव हरित्रयी से पूर्व हो चुका था। श्रीभट्ट जी एवं हरिव्यासदेव जी ने रासलीलानुकरण का प्रारम्भ किया था अथवा नहीं इसका कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं है। इतना अवश्य है कि दोनों आचार्यों ने अपने काव्य-ग्रन्थों में रासलीला का साँगोपांग और प्रभावोत्पादक वर्णन किया है जिससे ज्ञात होता है कि उनके समय में रासलीला अपने प्रारम्भिक रूप में अवश्य विद्यमान रही होगी।

श्रीभट्ट जी ने एकाकी एवं मण्डलाकार दोनों प्रकार के नृत्यों का वर्णन युगलशतक में किया है[3]। नाटक की भांति रासलीलानुकरण के लिए एक पृष्ठिका की आवश्यकता

१—आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोरदास, पृ० २७।

२—भक्त कवि व्यास जी, भूमिका भाग पृ० ३।

३—युगलशतक पृ० ६, पद सं० २३, २४।

नवल बालुका अनूप, लावण्य गुनगन स्वरूप, दल विकास विमलतास।
शुद्ध प्रेमता सुगन्ध, गम्भीर धीर गान गुंज भ्रमर निर्त करत मंजु ॥
तान मान लेत देत सुरस सुख सुधा सुछन्द। युगलशतक पृष्ठ ४३ ॥

होती है। शरद ऋतु का आगमन उसकी निर्मल चन्द्रिका, यमुना पुलिन की नव बालुका, पत्र-पुष्पों का सौरभ समन्वित शीतल मन्द पवन, निर्मल ऋतु सभी का वर्णन उन्होंने इस प्रसंग में किया है।

श्री हरिव्यासदेव जी ने भी रासोत्सव के वृहद् चित्र अंकित किये हैं जो श्री राधाकृष्ण के विशेष आन्दोलित होने, एवं गोपी जन की लोकोत्तर प्रसन्नता का कारण है[1]। ब्रह्मचारी बिहारीशरण ने 'निम्बार्क माधुरी' 'मुकुट की लटक' और 'सुदर्शन' में उद्धव घमंडदेव जी के रासप्रवर्तक होने का प्रतिपादन किया है। श्रीराधाकृष्ण रासधारी ने 'राससर्वस्व' में इसी का समर्थन किया है।

श्री उद्धव घमण्डदेवाचार्य ने पूर्वाचार्यों के रास वर्णन विषयक पदों का अपने रासलीलानुकरण में उपयोग किया होगा। उसके सुन्दर एवं सफल अनुकरण की उन्हें श्री हरिव्यासदेव जी से निरन्तर प्रेरणा मिलती रही होगी ऐसा नितान्त सम्भव है।

वल्लभ सम्प्रदाय में रासलीलानुकरण विषयक एक जनश्रुति चली आती है कि वल्लभाचार्य जी ने मथुरा में विश्रामघाट पर श्री स्वामी हरिदास जी के सानिध्य में रासलीला प्राकट्य की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी ने मथुरा के चतुर्वेदियों के आठ बालक इसके लिए चुने। तदनन्तर स्वामी जी ने श्री राधा का और वल्लभाचार्य जी ने कृष्ण का शृङ्गार किया[2]। परन्तु कृष्ण स्वरूप बालक का अन्तर्ध्यान हो गया। अतः रासलीलानुकरण सम्पन्न न हो सका वैसे स्वामी जी जैसे विरक्त महात्मा से इस प्रकार का योग-दान क्लिष्ट कल्पना ही कहा जायगा। श्री वल्लभाचार्य जी ने भागवत की सुबोधिनी टीका के रास प्रकरण में रास द्वारा काम के शमन और अलौकिक काम की पूर्ति का निर्देश किया है। उन्होंने कहा है कि "भगवान् का चरित्र सर्वथा निष्काम है, इससे काम का उद्‌बोध नहीं होता[3]।" परन्तु रासलीलानुकरण प्रवर्तन विषयक उनका कोई संकेत नहीं मिलता। सूरदास और नन्ददास जी ने रासलीला का माहात्म्य गान लिया है और रासलीलाओं का चित्रण भी किया है[4] परन्तु अनुकरण विषयक कोई संकेत उनके काव्य में नहीं मिलते।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपने शोध प्रबन्ध में श्री हरिवंश जी को रासलीला-

---

१—रसदेनी रासस्थली सुहाई।
प्रानपियन की जानि जियन की अली चली विमली तहाँ आई।
मोहन मदन मनोज चन्द्र की छिटकि चन्द्रिका रहि छिति छाई।
श्री हरिप्रिया मंडल प्रवेश करि अति सुदेश रस रहसि सुहाई।
—महावाणी पृ० ४४।

२—ब्रज का इतिहास, भाग २, सम्पादक कृष्णदत्त बाजपेयी, पृ० ११५।

३—भागवत की सुबोधिनी टीका, रास प्रकरण की भूमिका।

४—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५०३।

नुकरण का प्रवर्तक माना है[1]। उन्होंने श्री भट्ट जी का समय साहित्य के इतिहास की पूर्व मान्यताओं के आधार पर सं० १६५२ माना है और इस प्रकार वे और श्री हरिव्यास देव दोनों ही हरिवंश जी के परवर्ती माने गये हैं[2]। इस निबन्ध के श्री भट्ट जी एवं हरिव्यासदेव जी के आविर्भाव काल विषयक अनुसंधान से वे दोनों ही उनके पूर्ववर्ती ठहरते हैं। इस कारण रासलीलानुकरण का प्रवर्तन निम्बार्क सम्प्रदाय में ही प्रथम हुआ ऐसा मानना उचित होगा।

घमंडदेव जी ने जब रासलीलानुकरण को प्रचलित किया, तब भक्त समाज में इसका बहुत आदर हुआ। जब तक मानसी भावना और पद्यात्मक कीर्तन में जिन लीलाओं का चिन्तन होता था, उनका रासमण्डली द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन करने से भक्तजन इसकी ओर अधिक आकृष्ट होने लगे। श्री नारायण भट्ट आदि महात्माओं ने भी संकेत वट आदि विभिन्न लीलास्थलों में इस रास पद्धति का प्रचार किया। नाभा जी ने भक्तमाल में नारायण भट्ट को रास प्रणाली का विस्तारक कहा है। कुछ लोग इन भट्ट जी को ही रास का प्रथम प्रवर्तक मानते हैं[3] किन्तु नारायण भट्ट जी का समय घमंडदेव जी से पश्चात् है, इसलिये रास प्रकाश की प्राथमिकता घमंडदेव जी के पक्ष में ही आती है।

यद्यपि घमंडदेव जी के समय का उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता, फिर भी हरिव्यास जी के द्वादस शिष्यों में होने से उनकी स्थिति का अनुमान हो जाता है। स्पष्ट प्रमाण का अभाव अनिश्चयात्मक स्थिति पैदा कर देता है परन्तु बाह्य आधारों से इसमें यथेष्ट सहायता मिलती है। पुष्टिमार्गीय वार्ता साहित्य से भी कुछ निम्बार्कीय महात्माओं के समय पर प्रकाश पड़ता है। श्री गोवर्द्धननाथ जी की प्राकट्य वार्ता में कुम्भनदासजी के पिता को 'चतुरानागा' का शिष्य कहा गया है। बल्लभाचार्य जी से नागाजी के मिलने का भी 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में उल्लेख मिलता है[4]। इससे स्पष्ट है कि चतुरदास नागा वल्लभाचार्य जी के समय ब्रज में विचरण करते थे, शिष्य सेवक होने से ब्रजवासियों में उनका प्रभाव भी स्पष्ट है। ये नागाजी हरिव्यासदेव जी से पाँचवीं पीढ़ी में हुए थे, यह उनकी गुरु परम्परा से सिद्ध होता है[5]। जब वल्लभाचार्य जी के समय हरिव्यासदेव जी की पाँचवीं पीढ़ी चल रही थी, तब घमंडदेव जी की दूसरी पीढ़ी उस समय से पूर्व होगी, यह स्वतः सिद्ध है।

१—राधाबल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २६०।

२—वही वही वही पृ० २७५।

३—रासलीलानुकरण और नारायण भट्ट, बाबा कृष्णदास, पृ० २५।

४—श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता, प्रकाशक छन्नूलाल लल्लूलाल देसाई, पृ० २२, २३।

५—आचार्य परम्परा परिचय, ले० पं० किशोरदास, बंशीवट, वृन्दावन।

उधर नारायण भट्ट जी, चैतन्य महाप्रभु की तीसरी पीढ़ी में थे, चैतन्य जी के शिष्य सनातन गोस्वामी और उनके शिष्य नारायण भट्ट जी। चैतन्य और बल्लभ प्रायः सम-सामयिक थे[1]। इस तुलना से नारायण भट्ट की अपेक्षा घमंडदेवजी पूर्वकालीन ठहरते हैं। भक्तमाल के लेखक्रम से भी यही सिद्ध होती है। अतएव रासलीला के प्रथम प्रवर्तक वे ही होने चाहिये[2]। वैसे तो रासलीलानुकरण को आद्य-आचार्य भागवत रास पंचाध्यायी के अनुसार गोपीजन हैं, जिन्होंने कृष्ण वियोग में उनकी लीलाओं के विविध अनुकरण किये थे। किन्तु जिस रूप में आजकल रास होता है उसे निम्बार्क सम्प्रदाय की देन मानना चाहिये।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने रासलीलानुकरण के प्रवर्तन की प्राचीनता सिद्ध करने में रास उपकरण एवं रासमण्डल स्थापना को बहुत महत्व दिया है। इस दृष्टि से भी उद्धव घमंडदेव जी के गुरु महात्मा हरिव्यासदेव जी के राजसी ठाटबाट का प्रत्यक्ष वर्णन निम्बार्क सम्प्रदाय के रासोपकरण एवं सज्जा की सुविधा का परिचायक एवं वृन्दावनस्थ बंशीवट की प्राचीन रासस्थली पर निम्बार्की सन्तों का परम्परागत अधिकार[3] उनके द्वारा रासोद्भव की मान्यता का पुष्ट आधार है। स्नातक जी निम्बार्कीय रास मंडलियों की प्रमुखता एवं उत्कृष्टता मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं,[4] परन्तु उसके विकास में निम्बार्कीय रास प्रथा की प्राचीनता का योगदान उन्हें मान्य नहीं है। इसका कोई युक्तिपूर्ण समाधान उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया।

(इ) उपासना के बाह्य उपकरण—

मुद्रा, तिलक, कंठी और स्मृति चिन्ह।

सगुणोपासना में आचार्य परम्परा और तिलक-कण्ठी का बड़ा महत्व है। ये साम्प्रदायिक आचार के प्रमुख अंग हैं। सभी वैष्णवों के कुछ बाह्य लक्षण बतलाये गये हैं। वे हैं तुलसी की कण्ठी, ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक, शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म। पद्मपुराण में कहा गया है कि जो वैष्णव कण्ठ से लगी हुई तुलसी की माला एवं कमलाक्ष की माला धारण करते हैं, जिनका बाहुमूल शङ्खादिकों से परिचिन्हित है और जो ललाट में शोभायमान ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक को धारण करते हैं वे शीघ्र ही भुवन को पवित्र करते हैं। स्कन्द

१—चैतन्य तिरोधान सं० १६९०, वल्लभाचार्य तिरोधान सं० १५८७। अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय।

२—"घमंडी रस ब्रज में घुमड़ि रह्यौ"......ध्रुवदास जी कृत, भक्त नामावली पृ० ३०।

३—युगलशतक, श्री भट्टदेव जी कृत पद सं० ५।६२ आदि।

४—राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य पृ० १२९।

पुराण में कहा है कि तुलसी की माला जनेऊ के तुल्य (कण्ठ में) सदा सर्वदा धारण करनी चाहिये। उसके धारण करने में अशौच नहीं है क्योंकि वह ब्रह्मरूपिणी है।

गुरु की शरण में जाकर शिष्य जब उनसे वैष्णवी दीक्षा लेता है तब उसका दूसरा जन्म माना जाता है, इस समय पूर्वकाल के अनेक व्यवहारों का परित्याग हो जाता है। विरक्त वैष्णव पूर्व गोत्र का परित्याग कर अच्युत गोत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं, गृहस्थों में ऐसा नहीं होता जन्म होने पर जातकर्म आदि संस्कार किये जाते हैं। वैसे ही दीक्षा के समय भी शिष्य के पंच संस्कार किये जाते हैं। उनके नाम हैं ताप, तिलक, माला, नाम और मन्त्र। ये वैष्णवता के अनिवार्य चिन्ह हैं, गुरु की प्रमुख देन के रूप में इनको जीवन भर धारण करना पड़ता है, इनमें शंख चक्र की मुद्रा धारण करना ही 'ताप' कहलाता है। शंख, चक्र धारण के दो प्रकार हैं, शीतल और तप्त-ताप या तप्त मुद्रा को विरक्त गृह त्यागी ही धारण कर सकते हैं, निम्बार्क संप्रदाय के अनुसार गृहस्थों को तप्त मुद्रा धारण नहीं करनी चाहिये, आजकल प्रायः शीतल मुद्रा का ही प्रचार है, शख चक्र आकार की धातु निर्मित मुद्रा का गोपीचन्दन द्वारा भुजाओं में अंकित करने का नाम ही प्रथम संस्कार है। शङ्ख चक्र लगाने का अभिप्राय विष्णु भगवान् का सेवक होना है। वैकुण्ठ में भगवान् के सब भक्त वास्तविक शंख चक्र धारण करते हैं, ऐसा पुराणों में उल्लेख है। इस लोक में उक्त मुद्राओं को धारण करना बैकुण्ठ के पार्षद होने का पूर्वरूप है, ब्रज एवं निकुंज उपासना में शङ्ख चक्र का प्रयोजन नहीं दीखता। पूर्वकाल में विष्णु के वासुदेव स्वरूप की जो उपासना चली थी, शङ्ख चक्र उसके सूचक हैं और विष्णु से राम-कृष्ण का अभेद बतलाने के लिए इन चिन्हों का धारण करना आवश्यक कहा है। दीक्षा के चिन्तन पक्ष में मंत्र और बाह्य-उपकरण में तिलक छाप का सबसे अधिक महत्व है। यहां तक कि प्रसिद्ध और प्रभावशाली आचार्यों की छाप की भी देश-विदेशों में मान्यता हो जाती थी और दूर-दूर से आस्तिक जन छाप के लिये उनकी शरण में आते थे। श्री हरिब्यासदेव जी की भी इस सम्बन्ध में बहुत व्यापक प्रसिद्धि थी। उनके शिष्य रूपरसिकदेव दक्षिण से इसी के लिये उनके पास आये थे। उन्होंने अपने हरिव्यास यशामृत सागर में लिखा है :—

> भक्त भक्त सब ही भले, अपनी अपनी ठोर।
> रूपरसिक हरिब्यास की, भजन रीति कछु और॥
> श्री गुरु हरि सम्बन्ध बिन, सबकी छाप कलाप।
> रूप रसिक हरिव्यास की, छाप हरै त्रयताप[1]॥

जिससे उनके लोक व्यापी प्रभाव का आभास होता है। इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय के शाखा सम्प्रदाय प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी की छाप की भी उनके समय में ही भारी प्रसिद्धि थी। कहा जाता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि और आचार्य श्रीहरिरामव्यासजी ने अपने तीन पुत्रों में जब अपनी सम्पत्ति का बटबारा किया तो

१—हरिब्यास यशामृत सागर पृष्ठ ३ दोहा संख्या ८ एवं १०।

दो पुत्रों को तो धन सम्पत्ति और सेवा पूजा का अधिकार दिया परन्तु सबसे छोटे एवं प्रिय पुत्र किशोरदास को स्वामी जी के पास रसिकता की छाप लेने के लिये भेजा। भक्तमाल के टीकाकार श्री प्रियादास ने इस घटना का रोचक वर्णन किया है।

"एकनैं रुपैया लये एकनैं किशोर जू को,
श्री किशोरदास भाल तिलक लै कर्यौ है।"

इस प्रकार रसिक शेखर स्वामी जी की छाप मिल जाना परम गौरव और सौभाग्य सूचक माना जाता था।

दूसरा संस्कार तिलक या पुण्ड्र है, प्रत्येक आस्तिक को तिलक लगाना आवश्यक है उसमें वैष्णव को ऊर्ध्व पुण्ड्र ही लगाना चाहिये, निम्बार्कीय धर्म ग्रन्थों में गंगायमुना तुलसी आदि की पवित्र मृतिका या गोपीचन्दन से तिलक करने को कहा गया है। सभी वैष्णव सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार के तिलक प्रचलित हैं, पर निम्बार्क मत के अनुसार भगवान् के मंदिर या चरण के आकार का तिलक होना चाहिये। मंदिर में जैसे मूर्ति होती है वैसे तिलक के बीच में बिन्दु लगाया जाता है, कुछ निम्बार्कियों में गुरु परंपरा से श्याम बिन्दु लगाने का प्रचार है। वह श्रीकृष्ण के श्यामस्वरूप की सूचक है, साथ ही निकुञ्ज भाव की सेवा में सखी रूप की भी बोधक है, अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा निम्बार्कियों का तिलक सिद्धान्तानुकूल अधिक है, इनके मत में गोपाल मन्त्र राज का बीजाक्षर श्री कृष्ण का दूसरा अक्षरात्मक स्वरूप है, उसके ऊपर का चन्द्र बिन्दु उनका सार भूत आकार है ? यह चन्द्र बिन्दु का आकार ही निम्बार्कियों का तिलक स्वरूप है। निम्बार्क सम्प्रदाय में दो प्रकार के तिलक प्रचलित हैं।

१—ऊर्द्ध्व पुण्ड्र तिलक जो नासिका के अर्द्ध भाग से प्रारम्भ करके समस्त ललाट पर अंकित किया जाता है। यह सम्प्रदाय में सार्वभौमिक रूप से गृहीत है।

२—ऊर्द्ध्व पुण्ड्रतिलक जो नासिका के अग्रभाग पर मोड़ लेकर समस्त ललाट एवं केश पर्यन्त विस्तारित होता है। इसका प्रचलन श्री स्वामी हरिदास जी की टट्टी शाखा में है।

सदाचार सार संग्रह में ऊर्द्ध्व पुण्ड्र को भगवान् का मंदिर कहा गया है जिसकी बांई रेखा ब्रह्मा का रूप, दाहिनी शिव रूप, मध्य में जो आकाश रूप स्थल रहता है वह विष्णु रूप माना जाता है। अतः बीच में लेप न करना चाहिये[1]। भगवान् ने स्वयं भी ऊर्द्ध्व पुण्ड्र को अपना मंदिर कहकर प्रतिदिन धारण करने को आज्ञा दी है। यहाँ तक कहा गया है कि उसके बिना इष्टपूर्तादि और सन्ध्या बन्दनादि सभी निष्फल हो जाते हैं। जिनके ऊर्द्ध्व पुण्ड्र तिलक न हो उसका शरीर स्मशान के समान है और उसे देखना भी

१—वाम भागे स्थितो ब्रह्मा दक्षिणेतु सदा शिवः
मध्ये विष्णु विजानीया-तस्मान्मध्यं न लेपयेत ।।
'सदाचार सार संग्रह' पृष्ठ २४

निषेध है[1] । स्त्रियों को भी उर्ध्व पुण्ड्र करना चाहिये । तिलक की लम्बाई के सम्बन्ध में भी निम्बार्कीय आचार ग्रंथों में उल्लेख है । १० अंगुल का तिलक सर्वोत्तम माना जाता है । अन्य सब मध्यम या निम्न कहे जाते हैं । तिलक सभी उंगलियों से किया जा सकता है । परन्तु अनामिका सर्वकामना देती है । मध्यमा से आयु बढ़ती है । अंगुष्ठ से शरीर पुष्ट होता है और तर्जनी मोक्षदायिनी है[2] । "ॐ नमोनारायणाय" इन आठ अक्षरों की नारायणी मुद्रा का भी ललाट पर लिखने का विधान बतलाया गया है । स्त्री और शूद्रों को सुगंधित चन्दन से ही तिलक करने का आदेश है ।

तीसरे संस्कार माला के दो रूप हैं, गले में पहनने की कण्ठी और जप माला । पवित्र तुलसी के पौधे से ही मालाओं का बनाना आवश्यक कहा गया है, भगवान् के नाम गुणों के ऊपर शरणागति का बोधक वैष्णवी नाम होता है ये चारों संस्कार यदि शरीर के समान माने जाँय तो इनमें प्राण संचार करने वाला पांचवा संस्कार मन्त्र प्राप्ति है। इस सम्प्रदाय में गोपालमन्त्र का उपदेश परंपरा से चला आता है, स्वयं भगवान की शरणागति का संकल्पात्मक मुकुन्द मन्त्र भी इसके साथ प्रदान किया जाता है । निम्बार्क संप्रदाय में वैदिक विधियों की अभ्यर्थना है,इसलिये विरक्त साधु की शिखा सूत्र का त्याग नहीं करते, इनके मत में कर्म काण्ड का प्रयोजन भगवान् की उपासना ही है, इसलिए उसमें यज्ञोपवीत भी आवश्यक है, इस रीति से निम्बार्कीय विरक्त वैष्णव नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत आते हैं, पुनः निकुंज सेवा की उत्कृष्ठता या पराभक्ति की पराकाष्ठा की दशा में शिखा सूत्रों की आवश्यकता नहीं रह जाती । वे चतुर्थाश्रमी जैसे होते हैं । हरिदास स्वामी जी की परम्परा के साधु या दूसरे रसिक महात्मा भी इस श्रेणी में आते हैं, इन सबको लौकिक विधि-निषेधों से परे होने के चिन्ह स्वरूप मिट्टी का करवा, कमण्डल, चौला गूदड़ी आदि गुरू से प्राप्त होते है[3] ।

तिलक, माला मन्त्र आदि गुरू की ओर से शिष्य को प्रदान किये जाते हैं । इन वस्तुओं के प्रदान करने से गुरू का शिष्य में पुत्रत्व भाव आता है, यदि वह विरक्त शिष्य हो तो गुरू के पश्चात् संपति का कानून से अधिकारी माना जाता है, किन्तु पहले के त्याग मार्गी विरक्त निम्बार्कियों की संपत्ति जमीन जायदाद नहीं होती थी । उनकी असल

१—यच्छरीर मनुष्याणा मूर्ध्व पुण्ड्र विवर्जितम् ।
द्रष्टव्यं नेव तत्किंचित श्मशानसदृशं भवेत ।

सदाचार सार संगूह पृष्ठ २३ श्लोक ८

२—अनामिका कामदोक्ता मध्यमायुः करी भवेत ।
अंगुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तस्तर्जनी मोक्षदायिनी ।।

स० सा० संगूह पृष्ठ २२ श्लोक

३—रसिकदेवजी की वाणी, पृष्ठ ५७

संपत्ति तपोबल था, जिसका आशीर्वाद रूप में बहुत सा प्रसाद शिष्य सेवकों में बंट जाता था। कालान्तर में गुरू की धरोहर रूप में शिष्य को उत्तराधिकारी वस्तु मिलती थी जैसे चरण पादुका, बैठक, चित्रपट, शालग्रामजी और पवित्र पुस्तकें आदि। शिष्य गुरुदेव की पवित्र स्मृति को जाग्रत रखने के लिये उनके उपयोग किये हुए करवा गुदड़ी चोला कूबरी प्रभृति को पूजा स्थान में स्थापित कर लेते थे। निम्बार्कीय महात्माओं की असली निधि पहले से भी यही थी और अब भी यही है। सम्प्रदाय का सर्वस्व समझ कर इनकी बड़ी सार संभाल रक्खी जाती है। जैसे तिलक भगवद् मन्दिर और गले की दुहरी कण्ठी से युगल स्वरूपों की भावना की जाती है वैसे ही खड़ाऊं करवा आदि में गुरुदेव के निवास का ध्यान किया जाता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के विशिष्ट स्थानों में आज भी कतिपय स्मृति चिन्ह सुरक्षित हैं जो उन स्थानों के महापुरुषों का दिव्य प्रसाद तो हैं ही परन्तु साथ ही उनके पुनीत जीवन की ओर आकर्षित करते हुए दैनिक जीवन में आदर्श पथ के प्रतिष्ठापक भी हैं। सलेमाबाद में श्री परशुरामदेव जी के समय की एक अत्यन्त वृहदाकार माला है जो जाप करने के उपयुक्त तो नहीं है वरन् माला द्वारा जाप करने की प्रेरणा देने में अनुपम है। इसी प्रकार उनकी धूनी साधकों के विश्वासानुसार उनके परिवारिक जनों के रोगों का निवारण करने वाली आज तक मानी जाती है[1]। संवत् १६८६ तिथि मगसर सुदी ११ अंकित एक विशाल आरती है और मकराने की बनी हुई एक चरण पादुका है। जिस पर शंख, अंकुश, अर्द्ध चन्द्र, कमल, चक्र मीन, ध्वज और गदा के चिन्ह अंकित हैं।

भरतपुर नरेश श्रीनागा जी के द्वारे के सदैव से शिष्य रहे हैं। भरतपुर राज्य के ठाकुर विहारी जी को वहां के नरेश राजा सूरजमल जाट नागाजी की मृत्यु पर्यन्त वृन्दावन से लाये थे और अपने किले के अन्दर मंदिर निर्माण करा कर उसमें धूम धाम से प्रतिष्ठा कराई थी। आश्विन कृष्णा ७ को नागाजी की जयन्ती के दिन उक्त मंदिर में उनके चोला, गूदड़ी और माला के दर्शन कराये जाते हैं। उनकी एक कूबरी भी है जो भरतपुर राज्य के किसी अन्य स्थान में सुरक्षित बतलाई जाती है।

स्वामी हरिदास जी की शिष्य परंपरा के स्वामी ललितमोहिनीदेव जी ने टट्टी स्थान का निर्माण कराया था, वहां पर इस परंपरा के आचार्यों से सम्बन्धित चरण पादुकाएँ और अन्य स्मृति चिन्ह सुरक्षित हैं। निधुवन में स्वामी हरिदास जी की माला उनकी चरणपादुकाएँ और उनका एक भव्य प्राचीन चित्र दर्शनार्थ अद्यावधि विद्यमान है।

श्री उद्धव घमंडदेव जी द्वारा रासलीलानुकरण प्रवर्तन के स्थान करहला ग्राम में उनकी चरणपादुकाएँ, बैठक और श्यामसुन्दर का एक मुकट आज भी ब्रजवासियों के आकर्षण का केन्द्र है। पैगाँव में नागाजी की बैठक, विहारघाट वृन्दावन में उनकी समाधि, किशनगढ़ से दक्षिण की ओर पर्वतमाला में श्री पीताम्बरदेव जी की बैठक "जिसे पीताम्बर देव जी की गाल" भी कहते हैं। कदमवाड़ी स्थान का प्राचीन घंटा

१—श्री निम्बार्काचार्य पीठ का संक्षिप्त परिचय पृष्ठ ३४ सं० गोविन्ददास।

आदि अनेक प्राचीन स्मृति चिन्ह उन महापुरुषों के जीवन से संबधित घटनावली का संस्मरण करा रहे हैं।

(ई) सम्प्रदाय की प्रबन्ध-व्यवस्था और नियन्त्रण-प्रणाली–

सम्प्रदाय के प्रारम्भिक युग में होने वाले आचार्य बस्ती से अलग आश्रम बनाकर ऋषिवृत्ति से रहते थे। इनके आश्रमों में कोई जायदाद या सम्पत्ति नहीं रहती थी। अयाचित वृत्ति से बस्ती के लोग भक्तिपूर्वक अन्नादि से इनकी सहायता करना अपना धर्म समझते थे। उस समय कन्द, मूल, फल, दूध आदि भी पुष्कल मिलते थे। इसीलिए इन महात्माओं का सिद्धान्त था कि 'भोजनाच्छादेन चिन्तावृथाकुर्वति वैष्णवाः।' लोकप्रिय होने से जनता इनको अपना पथ-प्रदर्शक मानती थी और सारा देश इन महात्माओं की जागीर था, अतएव सम्पत्ति का प्रश्न ही न होने से प्रबन्ध-व्यवस्था भी आवश्यक न थी। आचार्यों के भजनानन्दी विरक्त शिष्य और गृहस्थ भक्त उनके ग्रन्थ और उपदेशों का अक्षरशः पालन करते थे। सम्प्रदाय में पारलौकिक भावना प्रधान थी, इसलिए उस काल में पीठ, स्मारक तथा मन्दिर आदि अलग नहीं बनाए गए। क्योंकि गोवर्द्धन, यमुना, वृन्दावन, द्वारका, पुष्कर, नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र ये सब तीर्थ उनके अपने ही थे। उस काल में इनके कोई दूसरे साम्प्रदायिक लोग प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं थे, अतः घेरे बाँधना निरर्थक था।

श्रीमद्भागवत, वैष्णव-पुराण, धर्मशास्त्र का आज्ञानुसार उनकी जीवनचर्या चलती थी। विशेष अवसरों के लिए निम्बार्क कृत 'सदाचार प्रकाश' जैसे ग्रन्थ उस समय के नियामक थे। साम्प्रदायिक वैष्णव इन्हीं की व्यवस्था को धर्मरूप में मानते थे। सम्पत्ति का बखेड़ा न होने के कारण ही निम्बार्क, श्रीनिवास, देवाचार्य, केशव काश्मीरीजी आदि के आश्रम अलग-अलग दीख पड़ते हैं। उस समय वैष्णवों पर नियन्त्रण केवल धर्म-सम्बन्धी होता था, जो उपासना तथा व्रत, उत्सव आदि से सम्बन्ध रखता था। जब मध्य युग में सम्प्रदाय का अधिक विकास होगया और आपसी सम्पर्क दूरी के कारण कम होगया तो व्यवस्था के लिए ग्रन्थों की आवश्यकता हुई। अतः मध्यकाल में 'प्रपन्न वृत्ति निर्णय', 'काल निर्णय',(सुन्दर भट्टाचार्य कृत) 'वैष्णव धर्म सुर द्रुम मञ्जरी' (सङ्कर्षण देवकृत) और क्रमदीपिका जैसे ग्रन्थों की रचना हुई। पिछले समय में ऐसे ग्रन्थों की रचनां और भी अधिक हुई—जैसे शुकसुधी का 'स्वधर्मामृत सिन्धु', अनन्तराम कृत 'वैष्णव धर्म मीमांसा', वैष्णव संस्कार कौस्तुभ और धनीराम का 'निम्बार्क व्रत निर्णय'।

निम्बार्क सम्प्रदाय में सिद्धान्त और उपासना का जिस प्रकार निराला स्थान है, वैसे ही व्रत-पर्वों के समय निर्धारण का भी अपना अनूठा ढंग है। इस सम्प्रदाय के उपासना-सिद्धान्तों को तो कितने ही महानुभावों ने अपना लिया, पर इसका व्रत-उपासना-विधान किसी के साथ नहीं मिल सका। इस विषय में सम्प्रदाय का सिद्धान्त 'कपालवेध' नाम से धर्मशास्त्रों में प्रसिद्ध है और यही निम्बार्कियों की विशेष मान्यता है। सम्प्रदाय का प्रत्येक इकाई पर यदि किसी प्रकार का नियन्त्रण माना जाय तो वह 'कपाल

वेध' का ही होगा, इसीलिए इनमें व्रत-निर्णायक निबन्धों की बहुलता देखी जाती है। प्रत्येक निम्बार्की 'कपाल वेध' से शासित होना अपना धर्म मानता है। इस सिद्धान्त का अर्थ है अर्धरात्रि से दूसरे दिन का विभाग मानना। यदि जन्माष्टमी या एकादशी के प्रातःकाल से पहले आधी रात के बाद एक सैकिण्ड पर भी सप्तमी या दशमी तिथि रहती हो तो उस दिन में व्रत न होगा। भोर से लेकर दिन भर एकादशी रहते हुए भी आधी रात्रि के पश्चात् जो क्षण भर दशमी का स्पर्श होगया, उतने से पूरी एकादशी में उसका प्रभाव मान लिया जाता है। रेलवे में जैसे आधी रात से तारीख बदलती है, वैसे ही निम्बार्कियों का 'कपाल वेध' है। कपाल के रूप में पूर्वार्द्ध और परार्द्ध रात्रि के दो विभाग हैं, रात्रि के पूर्वार्द्ध में रहने वाली तिथि जब उसके परार्द्ध में भी घुस आती है, तब वही 'कपाल वेध' कहा जाता है, इसीलिए निम्बार्कियों के व्रत प्रायः सबसे अलग हुआ करते हैं। कौन व्रत कब होगा, इसकी जिज्ञासा इनमें बहुत रहती है, इसी नाते सम्प्रदाय भर में नियन्त्रण-व्यवस्था किसी विद्वान पुरुष की ओर से चलती रहती है और प्रतिवर्ष इसकी अपेक्षा होती है।

मान्य धर्मशास्त्रियों ने स्मृति ग्रन्थों में भी 'कपाल-वेध' मत का उल्लेख कर तदनुसार व्यवस्था बतलाई है। जैसे चतुर्थवर्गचिन्तामणिकार हेमाद्रि १३वीं शती, भट्टोजी दीक्षित तिथिनिर्णयकार, १५वीं शती, निर्णयसिन्धुकार कमलाकर भट्ट १७वीं शती, कपाल वेध इत्याहु, आचार्यों में प्रसिद्ध श्री हरिप्रिया शरण ने इस पुराणोक्त श्लोक का उपन्यास किया है। इन तटस्थ विद्वानों का ऐसा लिखने से इस सम्प्रदाय का प्राचीन गौरव सिद्ध होता है।

आधुनिक काल में जब निम्बार्क सम्प्रदाय के बारह द्वारे स्थापित हुए, तब से स्थान स्थान पर उनके स्थायी मठ मन्दिर बनने लगे, उनके सञ्चालनार्थ स्थायी सम्पत्ति भी बनने लगी। तब इनकी व्यवस्था और नियन्त्रण के लिए महन्तों के सङ्गठन बने। जमातों के रूप में तीर्थाटन, धर्म-प्रचार करते हुए ये प्रमुख महन्त या पञ्च कुम्भ मेलों के रूप में इकट्ठे होकर देश भर के स्थानधारियों की व्यवस्था करते देखे जाते थे। कहा जाता है कि साधुओं की जमातों का प्रचार अकबर बादशाह के समय से हुआ[1]। मुस्लिम फकीरों के सामूहिक अत्याचारों से हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए हृष्ट-पुष्ट साधुओं के सङ्घ बनाए गए, इनमें शस्त्र-सञ्चालन का भी प्रचार हुआ। मधुसूदन सरस्वती के अनुरोध पर बादशाह ने शैवों को भी ऐसे सङ्गठनों की स्वीकृति दी थी, तभी से निर्वाणी, निर्मोही आदि अखाड़ों का अस्तित्व आरम्भ हुआ और युद्ध-प्रिय साधुओं के नागा, दङ्गली आदि भेद हुए। पुराने अखाड़ों में निम्बार्कियों की प्रधानता थी। एकता के नाते सब सम्प्रदायों के वैष्णव अखाड़ों से मिलकर रहते थे। स्वतन्त्र और देशी रजवाड़ों के साथ ये धर्म बुद्धि से युद्धों में भी भाग लेते थे। किन्तु दुर्भाग्यवश इन अखाड़ों में ऐसी मूढ़ता आई कि १८वीं १९वीं शती में विधर्मियों के बदले ये लोग

१—इण्डियन साधूज, जी० एस० घुरे।

स्वधर्मी शैव-वैष्णव ही आपस में कटकर मरने लगे। कुम्भ आदि मेलों में पहले नहाने के दुराग्रह पर जरा सी देर में हजारों रुण्ड मुण्ड बिखर जाते थे। अँग्रेजी शासन में तो अखाड़ों का नियन्त्रण ही शिथिल होगया।

वर्तमान में स्थल स्थानों के प्रबन्ध की सुव्यवस्था एवं उनके नियन्त्रण की दृष्टि से प्रान्तीय मण्डलों की व्यवस्था है। ये मण्डल अपने प्रान्त के स्थानों की सुव्यवस्था, उत्तराधिकार अथवा सङ्कटकालीन परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं को सुलझाते हैं। सामान्यतः ५०, ६० मील के क्षेत्र में एक प्रतिनिधि का निवास करना आवश्यक है, जिससे उसे बिभिन्न स्थानों की गतिविधि का पूर्ण ज्ञान रहे। समूचे प्रान्तीय मण्डल के प्रतिनिधि सम्मिलित होकर विचार विमर्श द्वारा अन्तिम निर्णय पर पहुँचते हैं। भण्डारा एवं उत्सवों पर भी इनका ही नियन्त्रण रहता है। ये लोग कुप्रबन्ध होने पर गद्दीधारी महान्त को अपदस्थ कर सकते हैं और उसके स्थान पर दूसरे को निर्वाचित कर समासीन कर सकते हैं। निम्बार्काचार्य पीठ सलेमाबाद प्रान्तीय मण्डलों के निर्णयों की स्वीकृति करते हैं। प्रतिनिधियों में मत-विरोध होने पर वे अपना निर्णय देते हैं। उक्त पीठ से प्रान्तीय मण्डलों की कार्यावली का निरीक्षण करने की भी व्यवस्था रहती है। स्थानधारियों के निर्वाचन में विरक्तों को महत्व दिया जाता है। ब्रज-प्रदेश के निवासी गौड़ सनाढ्य ब्राह्मण प्रायः आचार्य-गद्दियों पर प्रतिष्ठित किए जाते हैं। सम्प्रदाय के प्रारम्भिक काल में तैलङ्ग, फिर महाराष्ट्र और श्री भट्टजी के समय से प्रायः गौड़ ब्राह्मणों को ही आचार्य-पद दिए जाते हैं। आचार्य-पीठ सलेमाबाद को छोड़कर अन्य साधारण स्थानों में इतरब्दिजातियों के लोग भी विशेष परिस्थिति में महान्त बनाए जा सकते हैं। इनमें अन्य ब्राह्मणों को भी महान्त बनाया जा सकता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रायः गद्दीधारी बनाए जाते हैं। प्रमुख स्थानों के विषय में इस नियम का बड़ी कठोरता से पालन होता है। मन्त्र देने का अधिकार साधन सम्पन्न व्यक्तियों को ही होता है, वे सम्प्रदाय में दीक्षित एवं प्रतिष्ठा-सम्पन्न होने चाहिए।

उत्तर मध्यकाल में जब विधर्मियों के द्वारा साम्प्रदायिक व्यवस्था को उच्छिन्न करने के विविध प्रयास हुए और कपटवेश एवं कपटाचरण द्वारा वे लोग साम्प्रदायिकों में घुसने का प्रयास करने लगे तो ब्रज के प्रमुख सम्प्रदायों ने सङ्गठित होकर धामक्षेत्र[1] नामावली निश्चय की जो प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए अलग-अलग होती थी। सम्प्रदाय के प्रत्येक साधु को इसका कण्ठाग्र कर लेना अनिवार्य था, क्योंकि देश के अन्य भाग में जाकर इसी के द्वारा पूर्व परिचय देना होता था। यह नामावली अत्यन्त गोपनीय रहती थी और केवल साम्प्रदायिक ही उसको जान पाते थे।

१—मथुरापुरी सुहावनी, धर्मशाला सुखवान।
पुरी द्वारका धाम है, क्षेत्र गोमती जान ॥ १ ॥ इत्यादि।
निम्बार्क सम्प्रदाय की धामक्षेत्र नामावली।

देश काल के प्रभाव से अब साम्प्रदायिक अनुशासन प्रायः शिथिल होता जा रहा है स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता से सैकड़ों निम्बार्कीय स्थान नष्ट भ्रष्ट हो गये, कितने ही महान्त गृहस्थ होकर स्वतन्त्र पीठाधीश बन बैठे हैं और अनेकों दूसरे सम्प्रदायों में भी विलीन हो चुके हैं। श्री हरिव्यास देव, परशुराम देव, नागाजी महाराज ने अपनी जमातें बनाकर जिस धर्म प्रचार संगठन का सूत्रपात किया था, उसका कालान्तर में अखाड़ा संस्था में अनुपयोगी रूपान्तर हो गया। मूल में जैसा लक्ष्य था वैसा न तो धर्म प्रचार का कार्य ही उनके पास रहा और न वैसा साधु समाज।

———

चतुर्थ अध्याय

सम्प्रदाय का प्रचार और परिव्याप्ति

पूर्व, मध्य और उत्तर युग में सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्रों की धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था

।। दक्षिण भारत के केन्द्र ।।

पौराणिक काल के साथ भागवत धर्म का उत्तर भारत में प्रचार हुआ था। पुराणों का रचना काल स्थूल रूप से दूसरी शताब्दी पूर्व ईसा से ६वीं शताब्दी ईसा तक माना जाता है जो भक्ति के बाह्य रूप के विकास का समय मानना चाहिये। नाग एवं गुप्त शासकों का राज्यकाल द्वितीय शताब्दी पूर्व ईसा से ६टवीं शताब्दी तक रहा जिनके संरक्षण में शैव एवं भागवत धर्म का यथेष्ट प्रसार हुआ[1] यद्यपि इसी समय में बौद्ध और जैन धर्म भी उत्तर भारत में फैले हुए थे। गुप्त शासकों के भागवत धर्मानुयायी होने एवं उसके प्रचार में प्रयत्नशील रहने के कारण अन्य धर्मों की विशेष प्रगति न हो सकी। महाराज हर्षवर्द्धन के समय में एक बार फिर बौद्ध धर्म को बल मिला[2] जिसके परिणाम स्वरूप भागवतधर्म की उपेक्षा होने लगी और वैष्णव धर्म का प्रवाह उत्तर भारत से हट कर दक्षिण भारत में पहुँच गया। वैष्णव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्य दाक्षिणात्य थे और आलवार भक्तों के परवर्ती थे[3]। श्रीमद्‌भागवत पुराण के माहात्म्य में द्रविड़ देश में भक्ति के उद्‌भव और विकास की ओर संकेत किया गया है[4]। जिससे पुष्टि होती है कि श्री निम्बार्काचार्य प्रभृति वैष्णवाचार्यों का सम्बन्ध दक्षिण प्रदेश से था। निम्बार्क सम्प्रदाय के वैदूर्यपत्तन और मान्यखेट केन्द्र श्री निम्बार्काचार्य के प्रारंभिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। इनका कोई विशेष वृत्त इस समय उपलब्ध नहीं है।

ब्रज के केन्द्र

ब्रज-वृन्दावन निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों का प्रमुख साधना स्थल और

---

१. ब्रज का इतिहास, श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, पृष्ठ ९४.

२. भारत का वृहद इतिहास, भाग १, ले० श्री नेत्र पाण्डेय, पृष्ठ ४०६

३. भागवत सम्प्रदाय, श्री बल्देव उपाध्याय, पृष्ठ १८४

४. भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द,

Then in Bhagwat Mahatamya a late appendix to the Bhagwat puran. there is an episode which bears on this question. In this episode bhakti incarnate as a young womansays' I was born in Dravida...... .. .. An outline of religious literature of India by Farqhar., Page 232.

प्रचार-क्षेत्र रहा । श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य ने मथुरा नगरी को स्वसम्प्रदाय के प्रचार का अनुकूल स्थल जानकर यहाँ पर स्थायी रूप से निवास करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके प्रतापी शिष्य श्री श्रीभट्टदेवाचार्य ध्रुव टीला एवं नारद टीला स्थित प्राचीन स्थलों में आजीवन निवास करते रहे । उनके शिष्य श्री हरिव्यासदेवाचार्य जी ने भी दीर्घकाल तक ध्रुवटीला में रहकर सम्प्रदाय का दूर दूर तक प्रचार किया । मथुरा उनके प्रचार एवं निवास का मुख्य केन्द्र रहा।

श्री स्वभूरामदेव जी तथा उनकी परम्परा के सिद्ध भक्त श्रीनागाजी महाराज ने ब्रज के गांव गांव में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और उसकी उपासना पद्धति का जनता में प्रचार किया। मथुरा, वृन्दावन, गोवर्द्धन, राया, मांट, महाबन, बल्देव, छाता, नन्दगांव, बरसाना आदि सभी स्थानों में प्रमुखतः उन्हीं के द्वारे के स्थान हैं।

मथुरा–

मथुरा में निम्बार्क सम्प्रदाय के निम्नलिखित स्थान चले आते हैं।

१. ध्रुवटीला, २. नारद टीला, ३. परशुराम द्वारा वैरागपुरा, ४. बिहारी जी का मंदिर गजापायसा, ५. राधाकान्त जी का मन्दिर विश्रामघाट, ६. हनुमान जी का बाड़ा मन्दिर असकुण्डा बाजार, ७. गोपाल जी का मन्दिर मण्डी रामदास, ८. जानकीबल्लभजी का मंदिर होलीवाली गली, बनखण्डी डैम्पियर नगर, दुर्वासा आश्रम और सप्तर्षि टीला ।

ध्रुव टीला–

मथुरा नगर के दक्षिण की ओर ध्रुवटीला स्थान निम्बार्क सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन स्थानों में से है। इसका 'ध्रुव क्षेत्र' नाम से भी वर्णन किया गया है। कहा जाता है कि भक्त ध्रुव जी ने इस स्थल पर भक्ति साधना की थी और उसी के कारण इसे अत्यन्त पुण्यस्थली मानकर श्री भट्टजी प्रभृति निम्बार्काचार्यों ने इसे अपना निवास स्थान बनाया। ध्रुव टीले के गोस्वामी वर्ग गौड़ ब्राह्मण वंशोद्भव हैं । वे अपना निकास श्री भट्ट जी के किन्हीं भाई से बतलाते हैं[1] । ये अब गृहस्थ होगये हैं और उद्योग व्यापार में संलग्न रहते हैं। इनकी आचार्य गद्दी पर वर्तमान में गोस्वामी विजय-गोपाल जी हैं। यमुना तट के निकट खुले वातावरण में ध्रुवटीला अपनी पावनता और सुरम्यता के कारण विशिष्ट स्थान है।

नारद टीला–

ध्रुव टीला के निकट नारद टीला स्थित है और यह निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों का गद्दी स्थान है[2] । नारद जी सम्प्रदाय के प्रारम्भिक आचार्यों में से होने के कारण पूज्य हैं। अतः सम्प्रदाय के सबसे बड़े आचार्य भी जब कभी मथुरा में प्रवेश करते हैं तो नारद टीला में मत्था टेकने के लिये अवश्य जाते हैं। नारद टीला में श्री राधादामोदरजी

---

१. **मथुरा मेमोयर्स, मि० जी० एफ० ग्राउस, पृष्ठ १४७-१४८**

२. **स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ, छबीले बल्लभ गोस्वामी पृष्ठ ३२**

का मन्दिर है। अब से लगभग डेढ़ शताब्दी पूर्व एक महात्मा रामदास काबड़िया जी इस स्थान के स्वामी थे। काबड़ धारण किये हुए भिक्षाटन करने के कारण उनका ये नाम पड़ा था। इसी भिक्षावृत्ति से उन्होंने स्थान की अच्छी मर्यादा बना रखी थी। काबड़िया जी की परम्परा में क्रमशः किशोरदास जी, बल्देवदास जी, राधिकादास जी, ज्ञानदासजी, बजरंगदास जी और प्रियादास जी हुए। कालान्तर में प्रियादास जी को विशिष्ट धार्मिक कार्यों से जयपुर जाना पड़ा और नारद टीला, कोयलादेवा स्थान की शिष्य परम्परा के महन्त श्री हरिप्रियाशरण जी की देखरेख में आया। आजकल उनके शिष्य श्री ब्रजमोहन शरण देवाचार्य विश्रामघाट पर स्थित श्री राधाकान्त जी के मन्दिर के महांत एवं 'नारद टीला' के वर्तमान अधिकारी हैं।

नारद टीला पर तीन प्राचीन समाधि स्थल विशाल चबूतरे पर बने हुए हैं। जन-श्रुति के अनुसार इनका सम्बन्ध श्री केशवकाश्मीरि भट्ट, श्रीभट्ट देवाचार्य एवं हरिव्यासदेव जी से है। इन समाधियों के कारण साम्प्रदायिकों में नारद टीला का बड़ा आदर है[1]।

हनुमानजी का बड़ा मन्दिर असकुण्डा—

श्री स्वभूरामदेव जी की शिष्य-परम्परा में मोहनदास जी के द्वारा इस मन्दिर की स्थापना हुई। मथुरा नगर के मन्दिरों में इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस मन्दिर की स्थिति यमुनाजी की धारा के नितान्त सन्निकट होने के कारण बड़ी ही मनोरम है। वर्तमान में श्री शीतलदासजी के शिष्य श्री श्यामदासजी इस स्थान के महान्त हैं।[2] जो अभी कुछ दिनों पूर्व गृहस्थ हो गए हैं। श्री श्यामदासजी के पुत्र श्री राजकिशोरशरण इस मन्दिर के वर्तमान अधिकारी हैं, जो गजापायसा मथुरा के बिहारीजी के मन्दिर पर भी नियन्त्रण रखते हैं।

श्री राधाकान्तजी का मन्दिर विश्राम घाट—

यह मन्दिर लगभग १०० वर्ष प्राचीन है। कोयलादेवा छपरा के श्री स्वभूरामदेवजी की शाखान्तर्गत निम्बार्कीय महान्त बाबा नारायणदास जी ने इस स्थान का निर्माण कराया था। उनके पश्चात् महान्त जयरामदासजी, नन्दकिशोरशरण जी, बाबा रामानन्दशरणदेव तथा श्री हरप्रियाशरणदेव हुए। श्री हरप्रियाशरणदेव जी से सं० १९८७ में उनके वर्तमान शिष्य श्री ब्रजमोहनशरणदेवजी को यह स्थान प्राप्त हुआ।

श्री ब्रजमोहनशरणदेव की प्रबन्ध-व्यवस्था में इस स्थान की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होगई है तथा उनके सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने के कारण अच्छी प्रसिद्धि भी है[3]।

---

१. इस निबंध का परिशिष्ट सं० ३ वंश वृक्ष सं० ६

२. तीर्थ पुरोहित तप्पी चौबे की बही संख्या ३।

३. चतुःसम्प्रदाय तीर्थ पुरोहित, श्री चौबे कुलकीराम की बही नं० ३।

वृन्दावन के प्रमुख निम्बार्कीय स्थान—

भगवान् श्री कृष्ण और राधा के उपास्य रूप में गृहीत हो जाने के अनन्तर लोक और वेद दोनों दृष्टियों से वृन्दावन के महत्व की लगभग सभी कृष्ण-सम्प्रदायों में मान्यता बढ़ने लगी। वृन्दावन के स्थूल और नित्य दो स्वरूप हैं। प्राचीन निम्बार्क आचार्यों ने अपनी रचनाओं में प्रायः नित्य वृन्दावन की ओर तो संकेत किया है, परन्तु स्थूल वृन्दावन का वर्णन उनके ग्रन्थों में नहीं मिलता।

वृन्दावन के स्थूल रूप का वर्णन निम्बार्कीय कवियों में सबसे पहिले श्री श्रीभट्टदेव के युगलशतक में प्राप्त है[1]। उन्होंनेः—

रे मन ! वृन्दाविपिन निहार।
जद्यपि मिलहिं कोटि चिन्तामनि तदपि न हाथ पसार।
विपिन-राज-सीमा के बाहर हरि हू कौं न निहार॥

श्री भट्टजी के समय से ही वृन्दावन में निम्बार्क सम्प्रदाय का निरन्तर विकास-क्रम मानना चाहिए। बहुत प्राचीन काल से ऐसी मान्यता चली आरही है कि वंशीवट पर श्री श्रीभट्टजी अपनी भक्ति-साधना में निरत रहते थे। यही स्थान उनकी तपस्थली माना जाता है।

श्री श्रीभट्टजी के पश्चात् श्री हरिव्यासदेवजी का प्रायः वृन्दावन में निवास-स्थल रहा। वे प्रमुखतः परिव्राजक साधु थे। उनके ज्येष्ठ शिष्य श्री स्वभूरामदेव जी की शिष्य-परम्परा में श्री चतुरानागा जी महाराज ने वृन्दावन में दीर्घकाल तक निवास किया[2] और स्थान भी बनाया।

श्री नागाजी का समाधि-स्थान बिहार घाट पर अब भी विद्यमान है। श्री परशुरामदेवजी के द्वारा राजस्थान में सलेमाबाद पीठ के संस्थापित किये जाने के अनन्तर जैसे-जैसे उक्त पीठ के आचार्यों का किशनगढ़, बीकानेर, जोधपुर, उदयपुर आदि राज-घरानों से सम्पर्क स्थापित हुआ और राज-परिवारों में श्री कृष्ण-भक्ति और वृन्दावन धाम के प्रति अटूट श्रद्धा बढ़ने लगी तो उसके परिणामस्वरूप वृन्दावन में अनेक निम्बार्कीय मठ-मन्दिरों और स्थल-स्थानों की संस्थापना हुई। जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में वृन्दावन में छोटे-बड़े कई प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ[3]। श्रीजी की बड़ी कुञ्ज इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। राज-परिवारों का श्रद्धाभाव निम्बार्कीय आचार्यों के प्रभाव से धीरे-धीरे इतना दृढ़ होता गया कि कृष्णगढ़ाधीश महाराज सावन्तसिंह उपनाम नागरीदासजी के जीवन का अधिकांश समय वृन्दावन बास में ही व्यतीत हुआ। उनके साथ उनकी महारानी

१—युगल शतक, श्री भट्ट कृत, परिशिष्ट पृष्ठ २, संख्या ४६
२—आचार्य परम्परा परिचय, लेखक श्री किशोरदासजी, पृष्ठ ५७
३—जयसाहि सुजस प्रकाश, भूमिका, पृष्ठ ८, लेखक श्री ब्रजवल्लभशरण

और उनकी पासवान पनी-टनी जी ने वृन्दावन में ब्रजरज प्राप्त की और उनकी समाधियाँ आज भी वहाँ पर बनी हुई हैं[1]।

श्री ब्रह्मचारी गिरधारीशरणजी जयपुर-नरेश महाराज माधवसिंह जी के राजगुरु थे। अतः ब्रह्मचारीजी की प्रेरणा से इन सभी स्थानों का निर्माण जयपुर राज्य की ओर से ही हुआ। जयपुर का माधवविलास मन्दिर, ब्रह्मचारीजी का मन्दिर और गोपालगढ़ का मन्दिर उक्त प्रेरणा के साकार रूप हैं[2]।

वृन्दावन के निम्बार्कीय स्थानों के निर्माण में एक दूसरा महत्वपूर्ण योग स्वामी हरिदासजी की शिष्य-परम्परा के लोगों ने दिया। यद्यपि निधिवन के १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बिहारीजी के गोस्वामी-वर्ग एवं टट्टी स्थान के विरक्त साधुओं के झगड़े के अनन्तर दोनों पक्षों में मतैक्य नहीं है, परन्तु यह निश्चित है कि दोनों वर्गों का पारस्परिक मतभेद[3] सम्प्रदाय के स्थानों की उन्नति में बाधक नहीं, वरन् साधक हो सिद्ध हुआ। स्वामी हरिदासजी के प्रभावस्वरूप श्री बिहारीजी का मन्दिर, श्री रसिक-बिहारीजी का मन्दिर, गोरेलालजी की कुञ्ज, निधिबन, टट्टी स्थान आदि कुछ ऐसे महत्वपूर्ण स्थानों में जहाँ पर स्वामीजी की अनन्य रसिकता, उनके अनन्य प्रेम और अनन्य साधना वृन्दावन में मूर्तिमती सी बनी आज भी स्पष्ट लक्षित होती है। आगे की पंक्तियों में हम वृन्दावन के प्रमुख निम्बार्कीय स्थानों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

श्रीजी का मन्दिर—

इस मन्दिर का निर्माण जैपुर-नरेश महाराज जयसिंह तृतीय जी के जन्म-उपलक्ष्य में उनकी माता भाटियानी महारानी श्री आनन्दकुँवरिजी ने कराया था। यह मन्दिर वृन्दावन के ठीक मध्य में है और जगद्गुरु श्री निम्बार्काचार्य श्रीजी महाराज के वर्तमान सभी मन्दिरों में बड़ा होने के कारण इसे 'श्रीजी महाराज की बड़ी कुञ्ज' अथवा 'श्री निकुञ्ज' भी कहते हैं। यह एक अत्यन्त विशाल और भव्य स्थान है[4] यहाँ के ठाकुर श्री आनन्दमनोहरजी के सुन्दर दर्शन हैं। मन्दिर के द्वार पर सङ्गमरमर के विशाल हाथी संस्थापित हैं, इस कारण ग्रामीण लोग इसे हाथी वाली कुञ्ज के नाम से भी पुकारते हैं। यह मन्दिर इतना विशाल और उच्च है कि इसकी बाहरी परिक्रमा कर लेने पर वृन्दावन के सभी दर्शनीय स्थानों के दर्शन हो जाते हैं। इस मन्दिर में सर्वेश्वर संस्कृत पाठशाला, सर्वेश्वर प्रेस और सर्वेश्वर पुस्तकालय है, जिसमें सहस्रों प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी-संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह है। इसी मन्दिर में संस्थापित 'सर्वेश्वर समिति' के द्वारा सर्वेश्वर नामक एक सचित्र धार्मिक, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक पत्र का प्रकाशन भी होता है। सम्प्रदाय की इन विभिन्न प्रगतिशील

१—**निम्बार्क माधुरी, सं० ब्रह्मचारी बिहारीशरण, पृ० ६०२।**

२—**सर्वेश्वर वृन्दावनाङ्क, सं० ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य, पृ० ३०२।**

३—**हरिदास ग्रन्थावली, सम्पा० छबीलेवल्लभ गोस्वामी पृ० ८४।**

४—**इण्डियन साधूज, पृ० १७५, १७६।**

प्रवृत्तियों का सञ्चालन इस मन्दिर के विद्वान अधिकारी श्री ब्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ के द्वारा होता है ।

श्री रूपमनोहरजी का मन्दिर–

श्रीजी की कुञ्ज के सन्निकट बाईं ओर श्री रूपमनोहरजी का दर्शनीय मन्दिर है । इसका निर्माण भाटियानी महारानी की दासी रूपा ने कराया था, अतः यह मन्दिर बाँदी वाली कुञ्ज के नाम से भी पुकारा जाता है। जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह ने इस मन्दिर की भोग-राग की सेवा के लिए कुछ गाँव भेंट किए थे[1] । वर्तमान में इस मन्दिर की सभी व्यवस्था श्री निकुञ्ज के प्रबन्धाधिकारी के द्वारा होती है ।

वंशीवट–

यह श्री वृन्दावन का प्रसिद्ध स्थान है । निम्बार्क सम्प्रदाय के आदिवाणीकार श्रीभट्टजी की यह निवास-स्थली माना जाता है[2] । यहाँ पर श्री वंशीवटबिहार और हंसगोपाल श्री सनकादिक, श्री नारद, श्री निम्बार्काचार्य और श्री निवासाचार्य इन पाँच आचार्यों के दर्शन मुख्य हैं । वंशीवट की व्यवस्था राजगुरु श्री ब्रह्मचारीजी के मन्दिर के अधीन है । यह प्राचीन रासस्थली है । अतः यहाँ पर पूर्वान्ह में प्रतिदिन भगवान् के रास का दर्शन होता है ।

वंशीवट की रेणु का बड़ा महत्व है । दूर-दूर सहस्रों कोसों से आने वाले यात्री-गण अपनी सुधबुध भूलकर वंशीवट की धूल में आकर लोटपोट हो जाते हैं । वंशीवट के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध चला आरहा है—

वंशीवट में आयके, कर लीजै दो काम ।
मुख में ब्रज-रज डारिकें, बोलो राधेश्याम ॥

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी इसे अपने सम्प्रदाय की रासस्थली मानते हैं । उनका कथन है कि किसी अन्य साम्प्रदायिक ने उसे किसी निम्बार्क साधु के हाथ बेच दिया और पीछे से उस पर निम्बार्कियों का अधिकार हुआ, परन्तु इसका कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया[3] ।

माधव-विलास–मंदिर

वृन्दावन की २०वीं शताब्दी के समस्त मन्दिरों में माधौ-विलास मन्दिर का सर्व प्रमुख स्थान है । इसका निर्माण जयपुर-नरेश महाराज माधौसिंहजी ने अपने गुरुदेव ब्रह्मचारी गिरधारीशरणजी की प्रेरणा से कराया था । इसकी प्रतिष्ठा सं० १९८१ वि० में हुई । इस मन्दिर में निम्बार्क सम्प्रदाय की पद्धति के अनुसार श्री नृत्यगोपाल,

---

१—श्री सर्वेश्वर, वृन्दावनांक, पृ० ३३० ।

२—वृन्दावन दर्शनविधि,, ले० श्री दानबिहारीलाल शर्मा, पृ० ५ ।

३—राधावल्लभ सम्प्रदाय और साहित्य पृ० ११, श्री डा० विजयेन्द्र स्नातक ।

श्री राधागोपाल और श्री आचार्य पञ्चक के दर्शन हैं[1]। माधौसिंहजी ने अपने गुरु ब्रह्मचारीजी की मूर्ति की भी स्थापना की थी। माधौ-विलास मन्दिर के निकट श्री बिहारीजी का बगीचा है, जिसे श्री कृष्णजती जी ने अपने हाथों से कतिपय वृक्ष लगाकर निर्मित किया था। वहाँ भी श्री गोपालजी के दर्शन हैं।

श्री निधुवन–

निधुवन अत्यन्त प्राचीन काल से निम्बार्क सम्प्रदाय के तपस्वी महापुरुषों का भजन-स्थल रहा है। यहीं पर अनन्य रसिक स्वामी हरिदासजी का निवास स्थान था[2] और यहीं श्री बाँकेबिहारीजी का प्राकट्य भी हुआ था। अतः ब्रज के समस्त पुण्यस्थलों में इसकी गणना सर्वोपरि होती है। सम्राट् अकबर ने संभवतः स्वामीजी के दर्शन यहीं पर किये थे। निधुवन का वातावरण बड़ा ही शान्त और रमणीक है। छोटे-छोटे वृक्ष लता-बेलों और झाड़ियों की सघनता से इसकी शोभा बड़ी आकर्षक है। यहाँ पर श्री स्वामी हरिदासजी की समाधि तथा चित्रपट का दर्शन है। बिहारीजी के गोस्वामी-वर्ग और उनके विरक्त शिष्य-वर्ग के पारस्परिक झगड़े के उपरान्त इस स्थान पर दोनों का अधिकार है।

श्री बाँकेबिहारीजी का मंदिर–

यह मन्दिर वृन्दावन के ठीक बीचोंबीच बड़े ही भव्य स्थान पर बना है। इसमें रसिकशेखर श्री स्वामी हरिदासजी महाराज की सेव्य बिहारीजी की प्रतिमा का दर्शन है। इस प्रतिमा के सम्बन्ध में कई प्रकार की जन-श्रुतियाँ हैं। कुछ साम्प्रदायिकों के अनुसार श्री हरिदासजी की बाँकेबिहारी की मणिविग्रह प्रतिमा भूमि से प्राप्त हुई थी, जो पीछे स्वामी जी द्वारा सेवित हुई और कालान्तर में मंदिर में स्थापित हो गई। बिहारीजी का मन्दिर अपने रूप में सम्वत् १९२१ वि० में भक्तों द्वारा निर्मित हुआ। इस समय इसकी प्रसिद्धि सारे भारतवर्ष में फैली हुई है और ब्रज प्रदेश के सर्व प्रमुख मन्दिरों में से यह एक है।

टट्टी स्थान—

श्री स्वामी हरिदासजी की शिष्य-परम्परा में सातवें आचार्य स्वामी ललितकिशोरीदेवजी हुए। उन्होंने इस स्थान को अपनी भजन-स्थली बनाया था[3]। श्री ललितकिशोरीदेवजी के शिष्य श्री स्वामी ललितमोहिनीदेवजी ने इस स्थान की बड़ी उन्नति की। यह स्थान वृन्दावन के रमणीक भजन-स्थलों में से प्रमुख है। चारों ओर बाँस की बनी हुई टट्टियों के कारण यह 'टट्टी-स्थान' कहलाता है। श्री स्वामी हरिदासजी की जन्म-

१—श्री सर्वेश्वर वृन्दावनांक पृष्ठ ३३८।

२—श्री रसिकदेवजी की वाणी, हस्तलिखित प्रति, संग्राहक निम्बार्क शोध मण्डल, पृष्ठ ६१।

३—श्री ललितकिशोरीजी की वाणी, पृ० १०५, संग्राहक निम्बार्क शो० म० वृन्दावन।

तिथि के दिन टट्टी-स्थान में भारी मेला लगता है और उनके करुए तथा गूदड़ी के दर्शन होते हैं। आचार्य-उत्सवों में यहाँ पर सुन्दर समाजों की व्यवस्था की जाती है। इस स्थान के आचार्यों में से प्रथम ८ अत्यन्त प्रभावशाली, भक्त, कवि और सिद्ध पुरुष थे। उनके काव्यों का वृहद् संग्रह 'अष्टाचार्यों की वाणी' नाम से प्रकाशित किया गया है इस समय इस स्थान के महन्त श्री स्वामी राधाचरणदासजी हैं, जो सं० १९९४ में गद्दी पर विराजे थे।

रसिकबिहारीजी का मन्दिर—

यह मन्दिर वृन्दावन के प्राचीन और प्रतिष्ठित स्थानों में से है। इसमें श्री रसिकबिहारीजी की प्रतिमा स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण श्री स्वामी हरिदासजी की शिष्य-परम्परा के श्री स्वामी रसिकदेवजी ने वि० सम्वत् १७५० में कराया फिर १८१२ के लगभग पुनरुद्धार हुआ।[1] ठाकुर रसिकबिहारीजी का पहिला मन्दिर इस मन्दिर के पूर्व बना था, उसमें श्री ठाकुर गोरेलालजी उस समय विराजमान थे। ठा० गोरेलालजी का विशाल मन्दिर इसके समीप विस्तृत और भव्य स्थान है। पूर्वकाल में निधुबन की सीमा यहीं से आगे तक फैली हुई थी, परन्तु अब बीच-बीच में बस्ती बस गई है। रसिकबिहारीजी के मन्दिर में लतापतादिकों की छोटी-छोटी निकुञ्जें हैं, जो आकर्षक हैं और स्थान के तपस्वी महात्माओं की साधना में सहायक रही हैं।

ब्रह्मचारीजी का मन्दिर--

इस मन्दिर का निर्माण ब्रह्मचारी गिरिधारीशरणदेवजी ने लगभग ५ लाख रुपया व्यय करके वि० सं० १९१७ में कराया था[2]। इस मन्दिर में श्रीहंस, सनक, नारद, निम्बार्क और श्री श्रीनिवासाचार्य इन पाँच आचार्यों की प्रतिमाओं के द्वारा आचार्य पञ्चायतन की स्थापना की गई है। इसका सभा-मण्डप बड़ा विशाल है। यह मन्दिर भी ब्रज-प्रदेश के मन्दिरों में अग्रगण्य है।

काठियाबाबा का स्थान--

इस स्थान का निर्माण बाबा सन्तदास काठिया जी ने कराया था। इस स्थान के महन्त अपनी भगवद्‌निष्ठा और अनन्य उपासना के कारण ब्रज-विदेही महन्त कहलाते हैं। इनके द्वारा निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत 'रामदल' नामक ब्रजयात्रा का प्रति वर्ष आयोजन किया जाता है, जो लगभग ५ सप्ताह में समस्त ब्रज-प्रदेश की यात्रा करके लौटती है[3]। बाबा धनञ्जयदास नामक इस स्थान के अत्यन्त प्रभावशाली, विद्वान और प्रसिद्ध महन्त हुए, परन्तु पारस्परिक कलह और विवाद के कारण उन्होंने काठियाबाबा का नया स्थान गुरुकुल-मार्ग पर निर्माण कराया है।

१—वृन्दावन दर्शन विधि, सं० दानबिहारीलाल शर्मा, पृ० १२।

२—सर्वेश्वर वृन्दावनांक, पृ० ३३६।

३—काठिया बाबा रामदासजी का जीवन-चरित्र, पृष्ठ २०८।

निम्बार्क कोट--

वृन्दावन में निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत आचार्य पञ्चायतन की सबसे पहिले स्थापना श्री स्वभूरामदेवजी की शिष्यपरम्परान्तर्गत श्री बालगोविन्ददासजी ने नाज मण्डी में एक मन्दिर बनवा कर कराई थी। इन्होंने ही निम्बार्क कोट का निर्माण कराया था। निम्बार्क कोट साम्प्रदायिक आचारप्रणाली एवं उसके साहित्य एवं सांस्कृतिक गतिशीलता का प्रमुख स्थान रहा है। वहां से साम्प्रदायिक ग्रन्थों की प्रकाशन-व्यवस्था भी होती रही।

टोपी वाली कुञ्ज--

श्री हरिव्यासदेवजी के प्रमुख १२ शिष्यों में से श्री मुकुन्ददेवाचार्यजी की शाखा का यह प्रमुख स्थान है। इस स्थान के संस्थापक बाबा कल्याणदासजी टोपी धारण किए रहते थे, इस कारण उनके स्थान का नाम टोपी वाली कुंज प्रसिद्ध हुआ। यह स्थान बिहार घाट पर स्थित है। इस समय इस स्थान के महान्त श्री सनतकुमारदासजी हैं। इसी स्थान से सम्बन्धित अन्य स्थान मुकुन्दसदन, कालीदह और बनविहार, वृन्दावन हैं। मुकुन्द-सदन का सञ्चालन बाबा किशोरीरमणदास और बनविहार का बाबा माधुरी-शरणजी के द्वारा होरहा है। साधु-सेवा विशेषकर झराँ रसोई के आयोजनों की दृष्टि से इन स्थलों का महत्व बढ़ रहा है[1]।

यशोदानन्दन का मन्दिर–

निम्बार्काचार्य श्री गोविन्ददेवाचार्यजी महाराज के शिष्य श्री दूल्हैरामजी की शिष्य-परम्परा में श्री धर्मदासजी हुए। उनकी प्रेरणा से वि० सं० १८२८ में देलवाड़ा की बाई जसकुंवरि ने इस मन्दिर की स्थापना की और कोटा की माँ साहिबा महताबकुँवरि ने इसका जीर्णोद्धार कराया। आजकल यहाँ की सेवा पं० हरगोविन्दजी द्वारा होती है।

कालिय-मर्दन—

यशोदानन्दनजी के मन्दिर के सन्निकट कालिय-मर्दन का मन्दिर है। यहीं से थोड़ी दूर श्री सर्वेश्वर घाट है, जहाँ पर श्री श्रीजी महाराज का प्राचीन मन्दिर है। श्री वृन्दावन में सर्वेश्वरजी पहिले यहीं विराजते थे। श्री परशुरामदेवाचार्य जी के शिष्य श्री हरिवंश देवाचार्यजी की यहाँ पर समाधि है और उनके चरण-चिन्ह भी यहाँ प्रतिष्ठित हैं। सर्वेश्वर घाट पर महाकवि घनानन्दजी विराजते थे।

बिहार घाट—

यह निम्बार्क सम्प्रदाय का प्राचीन स्थान है। यहाँ पर ब्रज-दूलह श्री नागाजी महाराज की पुरानी कुञ्ज है और उनके ठाकुर श्री बिहारीजी विराजमान हैं। यहाँ

१—वृन्दावन दर्शन विधि, पृ० १४।

श्री नागाजी के चित्रपट और उनके चरण-चिन्ह के दर्शन हैं। यह स्थान श्री नागाजी के द्वारे और निर्वाणी अखाड़े के अन्तर्गत है[1]।

बृन्दावन के निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत अखाड़े--

वृन्दावन के अनी अखाड़ों में मालाधारी निर्मोही अखाड़े की विशेष प्रसिद्धि है। इस अखाड़े के संस्थापक महात्मा जिस समय प्रभु-नाम स्मरण करते थे, उनकी माला आपसे-आप चलती रहती थी, इस कारण उनका नाम मालाधारी होगया था। इसी परम्परा में आगे चलकर श्री जुगलदासजी महात्मा हुए, जिन्होंने वि० सं० १८८८ में परमार्थी अखाड़े के ठाकुर पुलिनबिहारीजी की जमीन खरीद कर एक विशाल मन्दिर बनवाया और उसमें ठाकुर जुगलकिशोरजी तथा निम्बार्क भगवान् की चरण-पादुका की स्थापना की[2]। मथुरा, वृन्दावन, कोयलादेवा (बिहार), वर्द्धमान, सम्भलपुर, उड़ीसा, उज्जैन, करौली, दतिया, झाँसी, काशी, अमरकोट आदि अनेक अखाड़ों के प्रसिद्ध महन्तों में श्री राधिकादासजी विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अखाड़े की मान-मर्यादा को बढ़ाया और नवीन स्थानों की स्थापना की। उनका सं० २००४ में स्वर्गवास हुआ और उनके स्थान पर कमलदासजी महन्त हुए।

वृन्दावन के अन्य अनी अखाड़ों में श्री निम्बार्क सम्प्रदाय से सम्बन्धित श्री हरिव्यासी निर्वाणी, श्री हरिव्यासी महानिर्वाणी, झाड़िया निर्मोही, श्याम दिगम्बर निरावलम्बी (निर्वाणी अनी के अन्तर्गत) खाकी, सन्तोषी, टाटम्बरी आदि के कई अखाड़ों की बैठकें हैं, परन्तु धीरे-धीरे उनका प्रभाव अब कम होता जारहा है।

(परिशिष्ट संख्या ३, वंशवृक्ष संख्या १४)

ब्रज के अन्य केन्द्र—

ब्रज-प्रदेश में निम्बार्क सम्प्रदाय के अनेक केन्द्र हैं। इस सम्प्रदाय के स्थानों की गद्दियों पर प्रायः नैष्ठिक ब्रह्मचारी महन्त स्थानाधिकारी होते थे, परन्तु धीरे-धीरे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की ओर देशकाल की प्रवृत्ति का ह्रास होने और गृहस्थ-धर्म की ओर झुकाव होने के कारण इन स्थानों का प्रायः ह्रास होता गया। इस समय निम्बार्क सम्प्रदाय के निम्नलिखित केन्द्र उल्लेखनीय हैं[3]।

कोकिलावन, सतोहा, जुनसुटी (जमुनावत), माधुरी कुण्ड, किलोल कुण्ड (गोवर्द्धन), नारद कुण्ड (गोवर्द्धन), हाथी दरवाजा (गोवर्द्धन) राधाकुण्ड, छाता, बाजना, सेरसा, गहवरवन (बरसाना), गाजीपुर (बरसाना), पलसों (गोवर्द्धन), मानसरोवर प्रियाजी, पानीगाँव, प्रथी की गढ़ी, भैंसा, हाथरस, कञ्जौली, अप्सरा कुण्ड, पूँछरा (गोवर्द्धन), नीमगाँव (गोवर्द्धन), पानीघाट, मानवड़ी (ब्रज), बन्दी-अनन्दी, नरीसेमरी, फारेन, शेरगढ़ श्यामकुटीर आदि।

१—आचार्य परम्परा परिचय, श्री पं० किशोरदासजी, पृ० ५३।

२—श्री वृन्दावन धामांक, श्री ब्रजबल्लभ शरण, पृष्ठ ३४७।

३—निम्बार्क सम्प्रदाय की बही, तीर्थ पुरोहित कुलकीराम जी की बही सं० २

सतोहा–

मथुरा-गोवर्द्धन मार्ग में मथुरा से लगभग ३ मील दूरी पर सतोहा नामक ग्राम में निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री नागाजी की शिष्य-परम्परा का स्थान है। यह स्थान श्री मोहनदेवजी द्वारा स्थापित हुआ था। शान्तनु कुण्ड के बीच श्री शान्तनुबिहारीजी का बड़ा ही भव्य मन्दिर है। इस स्थान के महन्तों में श्री मथुरादासजी और भगवानदासजी विशेष प्रसिद्ध हुए हैं। इस समय यहाँ की गद्दी पर श्री शीतलदासजी विद्यमान हैं।

किलोल कुण्ड--

गोवर्द्धन से लगभग २ फर्लांग की दूरी पर यह निम्बार्क सम्प्रदाय का प्राचीन स्थान है। श्री किलोलबिहारीजी का मन्दिर और किलोल कुण्ड के चतुर्दिक लतापता और वृक्षों की कुञ्ज-निकुञ्जों की छटा बड़ी मनोहारिणी है। यह सम्प्रदाय का सिद्धपीठ है। इस समय इस स्थान का सञ्चालन महान्त गर्वीलीशरण जी द्वारा होता है।

नारदकुण्ड--

गोवर्द्धन से लगभग डेढ़ मील दूर गोवर्द्धन-राधाकुण्ड मार्ग में यह प्राचीन स्थान है। यहाँ पर श्री नारदजी का प्रसिद्ध मन्दिर है। कहा जाता है कि उत्तर-भारत में यह एक ही नारदजी का प्राचीन मन्दिर है। भाद्रपद मास में प्रत्येक शनिवार को नारद कुण्ड में स्नान करने से परम-पद प्राप्त होता है और भक्ति-मुक्ति साधन बनता है। यह समस्त ब्रज में प्रसिद्ध है।

ललिता संगम (श्रीराधाकुण्ड)—

राधा कुण्ड में यह निम्बार्क सम्प्रदाय का अत्यन्त प्राचीन स्थान है। यहाँ पर श्री निम्बार्काचार्य जी के शिष्य श्री श्रीनिवास देवाचार्य का स्थान है। ऐसी प्रसिद्धि अब तक चली आती है[1] कि श्री ललित बिहारी जी का छोटा परन्तु सुन्दर मन्दिर रासमंडल और ललिता कुण्ड के नाम अब भी श्री श्रीनिवासाचार्यजी की स्मृति कराते हैं। इसी स्थान पर उन्होंने दशश्लोकी की वृहद् टीका "वेदान्त कौस्तुभ" नाम से की थी। और निम्बार्क भाष्य की रचना की थी। इस स्थान का सम्बन्ध सभी द्वारों से है। बाईजी राज का कुण्ड उदयपुर और राधाकान्त मंदिर का योग अनुकरणीय है। यहाँ श्री श्री निवासाचार्य की चरणपादुकाएँ शोभित हैं।

निम्बग्राम (निम्बार्क तीर्थ)—

गोवर्द्धन से पश्चिम की ओर लगभग २ मील की दूरी पर है। आजकल यहाँ नीमगाँव बसा हुआ है। श्री निम्बार्काचार्य जी से सम्बन्धित ऐतिहासिक निम्ब वृक्ष की स्थिति यहीं पर थी। जिसके संस्मरण में इसका निम्ब ग्राम नाम पड़ गया[2]।

१—निम्बार्क प्रभा, लेखक बाबा हंसदास, पृष्ठ ४४

२—आचार्य परम्परा परिचय, श्री पं० किशोरदास जी, पृष्ठ ३०

यह स्थान बहुत ही रम्य है। यहाँ पर एक अति प्राचीन कुण्ड है। इसका जल कभी सूखता नहीं। निम्ब ग्राम और आसपास के गांवों में प्रायः जल का अभाव है। इस कारण यह प्रसिद्ध कहावत चली आती है :—

पानी नायें तीन गांव। पाली, पाडर, नीबगांव ॥

कुण्ड के पास ३ समाधियां हैं जो यहाँ के अर्चक श्री बालकृष्णदास, धर्मदास तथा बाबा गणेशदास जी की बतलाई जाती हैं। तालाब के निकट एक प्राचीन कूप है। उससे आगे अब वहीं रासमण्डल चबूतरा है जो श्री निम्बार्काचार्य महाप्रभु की वासस्थली है। इस तपस्थली का दर्शन कर आत्मशुद्धि का प्रवाह होने लगता है। मानसिक स्थिति में प्रकाश और शान्ति का आभास भी होता है। इसी स्थान पर वेदान्त के ब्रह्मसूत्रों का सर्व प्रथम विवेचन हुआ। तथा यहाँ की भूमि ब्रह्म जीव और प्रकृति के विहिता—विहित को अपनी अव्यक्त भाषा में निरन्तर दर्शकों के हृदयाकाश में प्रकाशित करती रही है।

निम्बार्क तीर्थ में सफेद पत्थर से बना एक छोटा सा मन्दिर है जिसमें सुदर्शन की मूर्ति स्थापित है। इस मन्दिर का निर्माण सलेमाबाद के श्री जी महाराज श्री गोपेश्वर-शरण देवाचार्य जी ने जयपुर परित्याग के अनन्तर भक्त लोगों की सहायता से कराया था[1]।

हाथी दरवाजा गोवर्द्धन—

यह स्थान नागा जी महाराज के द्वारे के अन्तर्गत है। गोवर्द्धन के प्रसिद्ध कुण्ड मानसी गंगा पर यह बड़ी भव्यता से स्थित है। यहाँ के महन्त बिहारीदास जी ने इसकी अच्छी कीर्ति बढ़ाई।

बरसाना—

मथुरा से २५ मील की दूरी पर स्थित यह श्री लाड़िली जी का प्रसिद्ध धाम है। यहाँ पर श्री प्रिया जी का भव्य मन्दिर बरसाने की पहाड़ी पर पर्वत माला काटकर सुन्दरता से बनाया गया है। इसका जीर्णोद्धार अभी लगभग १५ वर्ष पूर्व वृन्दावन के प्रसिद्ध निम्बार्कीय सेठ श्री हरगुलालजी ने बहुत अच्छी लागत पर कराया था। ब्रज के दर्शनीय स्थानों में यह प्रमुख है। लाड़िली जी के मंदिर से बरसाने के आसपास की वनमाला का दृश्य विशेष कर वर्षा ऋतु में बहुत ही सुन्दर लगता है। बरसाने में निम्न-लिखित अन्य निम्बार्कीय स्थान हैं :—

गहबरवन—

बरसाने के निकटवर्ती वनावली में यह सर्व प्रमुख है। यह वही स्थान है जहाँ पर नागाजी महाराज की जटाएं हींस के वृक्ष की एक डाली में उलझ गई थीं और श्री श्यामसुन्दर ने स्वयं उपस्थित होकर उनको सुलझाया था[2] और प्रसन्न होकर अपने युगल रूप के दर्शन दिये थे। गहवरवन स्थान की भूमि बड़ी ही रमणीक है। यहाँ एक कुण्ड, अच्छा जल कूप और भव्य मन्दिर है।

१—आचार्य परम्परा परिचय, श्री किशोरदास जी वेदान्ताचार्य, पृष्ठ ३०
२—वही, वही, पृष्ठ ५५

गाजोपुर:—

बरसाना और नंदगाँव के बीच बरसाने से लगभग २ मील की दूरी पर यह स्थान है। इस स्थान का भी नागा जी के द्वारे से सम्बन्ध है। यहाँ पर एक प्रसिद्ध संस्कृत महाविद्यालय और क्षेत्र है।

माधव विलास मंदिर:—

ब्रह्मचारी गिरधारीशरण जी के शिष्य जयपुर नरेश महाराज माधवसिंह जी ने बरसाने की पहाड़ी पर इस दिव्य मंदिर का निर्माण कराया था। इस मंदिर में भव्य चित्रकारी दर्शनीय है। इसका प्रबन्ध जयपुर राज्य की ओर से होता है। इस मन्दिर के प्रबन्धकारी ब्रह्मचारी राधेश्याम जी ने मन्दिर की प्रतिष्ठा और उसकी मान मर्यादा में अच्छी अभिवृद्धि की थी[1]।

पूंछरी—अप्सरा कुण्ड:—

गोवर्द्धन जतीपुरा की परिक्रमा के मार्ग में पूंछरी ग्राम के निकट एक सुन्दर प्राचीन स्थान है जिसका कुछ भाग अभी नया निर्माण कराया गया है। यहाँ श्री बिहारी जी का सुंदर मन्दिर है।

पूंछरी मन्दिर के निकट अप्सरा कुण्ड पर स्थित श्री अप्सरा बिहारी जी का प्राचीन स्थान है।

गोविन्द कुण्ड:—

इसी परिक्रमा मार्ग में आन्यौर ग्राम के निकट श्री गोविन्द कुण्ड पर निम्बार्कीय स्थान है। सलेमाबाद के श्री जी महाराज श्री परशुराम देव जी के प्रशिष्य (परशिष्य) महाराज नारायणदेव जी ने इस स्थान पर अपने गुरु श्री हरिवंश देवजी का मेला किया था जिसमें लाखों की संख्या में साधुगण एकत्रित हुए थे। महाकवि मण्डन ने अपने 'जयसाहि सुजसप्रकाश' में इस घटना की भूरि भूरि प्रशंसा की है[2]।

ग—राजस्थान के केन्द्र

परशुरामपुरी सलेमाबाद—

सलेमाबाद श्री परशुरामदेव जी द्वारा संस्थापित निम्बार्क सम्प्रदाय का सबसे

१—सर्वेश्वर वृन्दावन धामांक, पृष्ठ ३०४

२—गोविन्द गोवर्द्धन निकट, राजत गोविन्द कुण्ड।
तहाँ लाखन मेले किये, हरिदासन के झुण्ड॥
किय नारायन देव ने, मेला जग जस काय।
धन जामें दश बीस लख, दीनों तुरत लगाय॥......जयसाह सुजस प्रकाश, पृष्ठ ५
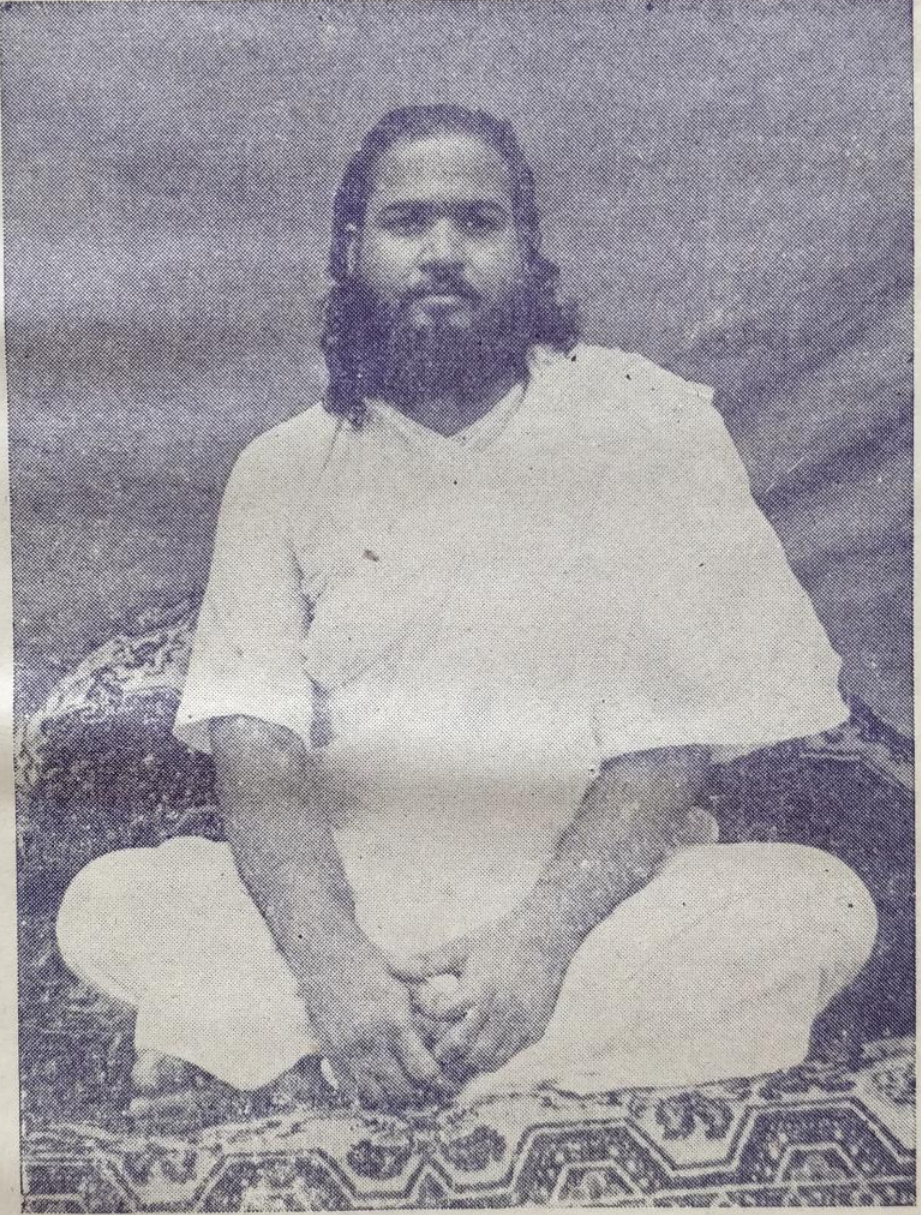
श्री राधासर्वेश्वर शरण देवाचार्यजी श्री "श्रीजी" महाराज

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ (सलेमाबाद) अजमेर पुष्करक्षेत्र (राजस्थान)

अधिक मान्य और महत्वपूर्ण पीठ है। यह किशनगढ़ से लगभग १२ मील और अजमेर से २०-२२ मील की दूरी पर मोटर लारी के मार्ग पर स्थित है[1]। यह पहले रूपनगर और कृष्णगढ़ राज्यों के अन्तर्गत था। अब राजस्थान के आधुनिकतम पुनर्गठन में इसे अजमेर जिले के अन्तर्गत रक्खा गया है।

सलेमाबाद उपनाम परशुरामपुरी की बसावट के सम्बन्ध में अभी तक विद्वानों में मतभेद है। निम्बार्कीय विद्वान उसकी बसावट १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मानते हैं, डाक्टर ग्रियर्सन ने परशुरामदेव जी का जन्मकाल संवत् १६०३ विक्रम और अवसान काल १६७७ विक्रमी माना है[2]। यदि उनकी मृत्यु के २०-२५ वर्ष के अन्तर परशुरामपुरी की बसावट का समय मानें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विक्रम की १७ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में सलेमाबाद राजस्थान के महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल का स्थान ले चुका था। श्री परशुरामदेव जी के शिष्य श्री हरवंशदेवजी ने परशुरामपुरी सलेमाबाद की बस्ती की अच्छी उन्नति की थी, और उनके शिष्य नारायणदेव जी के समय में यहाँ के आचार्यों का राजदरबारों में विशेष मान सम्मान होने लगा था[3]। यहाँ तक कि नारायण-देवजी के शिष्य श्री वृन्दावनदेवाचार्य जी जयपुर नरेश महाराज जयसिंह जी के संगीत गुरु और आचार्य थे और उनकी बहिन श्री यमुनादेवी जयपुर की राजरानियों में अत्यन्त प्रतिष्ठा का स्थान पा चुकी थीं। वृन्दावनदेव जी ने राजस्थान में साधुओं के सैनिक संगठन का सूत्रपात किया। उनके समय में नीम का थाना नामक स्थान में साधुओं की सैनिक जमातें स्थायी रूप से रहने लगी थीं। जो अवैष्णव मतों के साधु संगठनों एवं हिन्दू धर्म के विघातक मुसलमानी सैनिक शक्तियों से लोहा लेती रहीं। वृन्दावनदेव जी के पश्चात् जयपुर में सलेमाबाद पीठाचार्यों का सम्मान विशेष रूप से बढ़ता गया और जयपुर नरेशों ने जयपुर में उनका 'श्री जी की मोरी' नामक स्वतन्त्र स्थान निर्माण कराया[4] इसी प्रकार जयपुर से लगभग पाँच मील दूर आमेर मार्ग पर परशुराम द्वारे का निर्माण हुआ। जयपुर नरेश महाराज रामसिंह जी के वैष्णव आचार्यों के प्रति उपेक्षा के कारण सलेमाबाद पीठ के आचार्य श्री गोपीश्वरशरण देवाचार्य लाखों की सम्पत्ति छोड़कर जयपुर का परित्याग कर सलेमाबाद लौट आये। भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर संवत् २००७ विक्रमी में आषाढ़ शुक्ला १५ को जयपुर निवासियों के अतिशय आग्रह एवं भक्त समुदाय की प्रार्थना पर वर्तमान श्रीजी महाराज श्री राधासर्वेश्वरशरणदेव जयपुर में पधारे जहाँ उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ।

सलैमाबाद पीठ के कार्य संचालन के लिए तीन अधिकारी नियुक्त हैं जिनके

१—इम्पीरियल गजैटियर आफ इण्डिया जिल्द संख्या ८ पृष्ठ २२३।

२—माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान, सम्पादक डा० किशोरीलाल गुप्ता पृष्ठ १०३

३—सर्वेश्वर वृन्दावन धामांक पृष्ठ २२३

४—इस निबन्ध की पृष्ठ संख्या ६३

नाम श्री नरहरिदेव जी, श्री वियोगी विश्वेश्वर एवं श्री ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य पंच तीर्थ हैं। इस पीठ के द्वारा 'सर्वेश्वर' नामक धार्मिक और साहित्यिक मासिक पत्रिका का प्रकाशन होता है 'निम्बार्क शोध मंडल' नामक संस्था के अन्तर्गत सम्प्रदाय का शोध कार्य चल रहा है। सलेमाबाद पीठ में निम्नलिखित संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। १—श्री सर्वेश्वर संघ, जिसके द्वारा विश्व कल्याण के निमित्त भगवद् भजन का प्रचार व प्रसार होता है, २—सर्वेश्वर मासिक पत्र सर्वेश्वर संघ का मुख पत्र है, ३—सर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय, ४—श्री राधा सर्वेश्वर छात्रालय, ५—श्री निम्बार्काचार्य पुस्तकालय, ६—श्री हंस वाचनालय, ७—श्री निम्बार्क पारमार्थिक औषधालय।

सलेमाबाद पीठ के उच्च भवन, विशाल मंदिर, विस्तृत भजन स्थली और सिद्ध-पीठ, राजसी अस्त्र शस्त्रालय, हाथीखाना, रथखाना, धान्य कोष्ठ तथा सभाभवन आदि आज भी उसके उत्तर मध्यकालीन साम्प्रदायिक गौरव और राजदरबारों से प्राप्त मान-सम्मान एवं धन-जन की सहायता आदि उस काल में उसके अत्यन्त गौरवान्वित होने का प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं[२]।

रूपनगर और कृष्णगढ़——

सलेमाबाद के पीठ के सन्निकट ५–६ मील उत्तर की ओर महाराज रूपसिंह की प्रिय राजधानी रूपनगर स्थित है। इसका पूर्व में 'बवेरा' नाम था। रूपनगर नाम संवत १७०४/५ के लगभग पड़ा। रूपनगर के नरेश सलेमाबाद पीठ के अनन्य भक्त सहायक और विधर्मियों से रक्षक रहे हैं। यहां के नरेशों का किशनगढ़ राज्य के नरेशों से रक्त सम्बन्ध रहा है[३]। किशनगढ़ रूपनगर से आठ दस मील की दूरी पर है। कृष्णगढ़ का राज्यारम्भ विक्रम संवत् १६६८ से हुआ यहाँ के शासक राठौर राजपूत हैं। राजस्थान में इनका आगमन मोहम्मद गोरी की विजय के अनन्तर कन्नौज के पतन के पश्चात् हुआ। संवत् १६४० में इस वंश के उदयसिंह जी ने राजकाज संभाला जिनकी कई रानियाँ थीं जिनमें से कछवाही रानी मनरंग देवी के गर्भ से महाराज कृष्णसिंह का जन्म संवत् १६३२ में हुआ। वे विक्रम संवत् १६५४ कार्तिक शुक्ल १० को इस प्रदेश के राजा हुए। उन्हीं के नाम पर यह बस्ती कृष्णगढ़ कहलाने लगी। महाराज कृष्णसिंह जी को गोपाल जी का इष्ट था। इनके पास कृष्ण और बलराम जी की दो प्रतिमाएँ थीं जो ठाकुर नृत्यगोपाल और ठाकुर कल्याणराय जी के नाम से अब भी प्रतिष्ठित है[४]। कृष्णगढ़ के सभी नरेश सलेमाबाद पीठ के भक्त रहे। कृष्णगढ़ में अनेक देवस्थान हैं। इनमें से बाई जी का मंदिर और द्वारकाधीश जी का मंदिर निम्बार्कीय स्थान हैं। कृष्णगढ़ राज्य

१—जयपुर की जनता द्वारा श्रीजी महाराज का अभिनन्दन पत्र, प्रकाशक श्री रंगीलीशरण, जयपुर।

२—निम्बार्काचार्य पीठ का संक्षिप्त परिचय, पृष्ठ ३१—३२

३—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र, निम्बार्क शोध मण्डल वृन्दावन

४—कृष्णगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र-निम्बार्क शोध मण्डल वृन्दावन

में रलावता और नरायना में सम्प्रदाय के दो और महत्वपूर्ण स्थान हैं।

जोधपुर--

कृष्णगढ़ की भाँति जोधपुर के शासक भी राठौड़ वंश के हैं। इनकी परम्परा में संवत् १४६५ वि० के लगभग चूड़ा जी ने मंडोवर को अपनी राजधानी बनाया उनके १४ पुत्रों में से ज्येष्ठ रिडमल जी १४७४ में वहां के शासक हुए। इनके जोधा जी आदि २४ पुत्र थे। जोधा जी ने सं० १५१५ वि० में जोधपुर नगर बसाया। जोधपुर राज्य के नरेशों ने सलेमाबाद पीठ के मान सम्मान की वृद्धि में निरंतर योग दिया। जोधपुर राज्य में वालोतरा फलौदी और जयतारण वहाँ के राजाओं से सम्पत्ति प्राप्त सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाशील स्थान हैं।

भरतपुर--

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख विकास केन्द्र मथुरा से भरतपुर लगभग २५ मील दूरी पर स्थित है। यहाँ के राजघराने के लोग वीर जाट जाति के हैं। जाट दिल्ली के निकट रहने वाली प्रभावशील जाति है। ये लोग जिस प्राचीन कुल के शाखा कुल में उत्पन्न हुए थे वे पहले चम्बल नदी के पश्चिम किनारे पर बसे हुए थे। मुगलों के कठोर अत्याचार काल में वे दबे रहे परन्तु शनैः शनैः अपनी शक्ति बढ़ाते रहे। मुगलों के शासन के ढीले होने पर उन्होंने दिल्ली पर अनेक छापे मारे और भरतपुर, धौलपुर, डीग, नगर आदि में अपने शासन केन्द्र स्थापित किए [१]। स्वभूरामदेव जी की शिष्य परंपरा में महाराज चतुरा नागाजी का साधना स्थल प्रमुखतः मथुरा जनपद का पश्चिम भाग था जो जाटों की राज-भूमि के अन्तर्गत था। अतः जहाँ-जहाँ जाटों के राज केन्द्र स्थापित हुए नागा जी के द्वारे के अनेक स्थल स्थान बने। भरतपुर का बिहारी जी का मंदिर वहाँ के राज दुर्ग के अन्दर स्थित है। बिहारी जी के मंदिर में नागा जी महाराज की एक मूर्ति है और उनकी जटा सुलझाते हुए भगवान् का श्री विग्रह भी उनके समीप विराजमान है। बिहारी जी के मंदिर में नागा बाबा की एक गूदड़ी भी रखी हुई है। उसके दर्शन प्रतिवर्ष नागा बाबा की वर्षी (आश्विन कृष्णा ७) के दिन होते हैं [२]। अभी कुछ दिनों पूर्व बिहारी जी की मूर्ति का कुछ भाग खण्डित हो गया था जिसके स्थान पर दूसरी मूर्ति की प्रतिष्ठा का प्रश्न विद्वानों में जोरों से चल पड़ा था [३]। शास्त्रानुमोदित अनुसन्धान विधि से चरणों को ठीकठाक करके बिहारी जी की प्रतिमा को ज्यों का त्यों साध दिया गया।

जयपुर—

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है जयपुर राज्य में निम्बार्क सम्प्रदाय का

१—राजस्थान का इतिहास, गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वितीय खंड पृष्ठ ४१६

२—आचार्य परंपरा परिचय, पृष्ठ ५६, ले० पं० किशोरदास जी वेदान्ताचार्य।

३—बिहारी जी की मूर्ति की पुनः प्रतिष्ठा विचार, पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, प्रिंसिपल महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर।

विस्तृत प्रचार और प्रसार क्षेत्र रहा है। यहाँ के नरेश सलेमाबाद पीठ के बड़े भक्त रहे और राज्य के धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयोजनों में वहाँ के आचार्यों का प्रमुख हाथ रहा। श्री जी की मोरी, परशुराम द्वारा, गोपाल मंदिर, श्री गोपाल जी का रास्ता, जयपुर, विजयगोपाल जी का मंदिर, रतनबिहारी जी का मंदिर, जौहरी बाजार, नृत्यगोपाल जी का मंदिर, सिरह ड्योढ़ी बाजार, बांदरवाल दरवाजे पर गंगा जी व गोपाल जी का मंदिर, सिरह ड्योढ़ी बाजार, बाँदरवाल दरवाजे पर काजलवालों का मंदिर, त्रिपोलिया बाजार में मंदिर गोपाल जी, पानदरीबा में थौलाई का मन्दिर आदि विविध निम्बार्कीय मंदिर हैं जिनका आज भी राजकीय सहायता से संचालन होता है। जयपुर राज्य में नगर के अतिरिक्त बावड़ी, लक्ष्मनगढ़, सिरोज, साहपुरा थौलाई आदि स्थानों पर निम्बार्क सम्प्रदाय के केन्द्र हैं।

उदयपुर—

राजस्थान के निम्बार्कीय केन्द्रों में उदयपुर का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ श्री परशुरामदेव जी के द्वारे के कई शाखा स्थान हैं। राजस्थान में मुगल सम्राटों के अत्याचारों के कारण जब जन-जीवन दूभर होने लगा तो अनेक धर्मपरायण महन्त, साधु सन्त एवं देव प्रतिमाओं को उदयपुर में आश्रय मिला[१]। यहाँ पर एक अति प्राचीन राजपूजित मठ है जिसे आदिस्थल नाम से पुकारा जाता है। उसके अतिरिक्त एक संस्कृत पाठशाला, धर्मशाला और विशाल पुस्तकालय है। इस पुस्तक मंदिर में न केवल निम्बार्क सम्प्रदाय सम्बन्धी प्राचीन हस्त लिखित सामग्री वरन् राजस्थान के इतिहास और संस्कृति से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ संगृहीत हैं। पुस्तकालय की व्यवस्था में राजस्थान सरकार महत्वपूर्ण योग दे रही है। इस स्थान के स्वर्गीय महन्त महाराज श्री गंगादास जी विद्याप्रेमी थे एवं संस्कृति और कला की वृद्धि में अभिरुचि रखते थे[२]। अब श्री मुरली मनोहर जी उसकी उन्नति में लगे हैं।

उदयपुर प्रदेश के स्थल स्थान के अन्तर्गत अन्य महत्वपूर्ण ठिकाने—वारों की घाटी जगदीशचौक में ठाकुर कृष्णगोपाल जी का मंदिर, पासवान मोतीबाई जी का मंदिर कांकरौली (राजनगर) चार भुजा का मन्दिर, मांडला (उदयपुर) भीलवाड़ा का गोपाल मन्दिर और कपासन का स्थान सम्प्रदाय के प्रसिद्ध स्थान हैं।

बीकानेर—

जोधपुर और उदयपुर की भांति बीकानेर के नरेश भी सलेमाबाद पीठ के भक्त रहे हैं और उन्होंने पीठ की विभिन्न प्रवृत्तियों में यथासमय योग दिया है।

पुष्कर क्षेत्र:—सलेमाबाद पीठ की स्थापना के पूर्व श्री परशुरामदेव तथा अन्य आचार्यों का पुष्कर तीर्थ से महत्वपूर्ण सम्बन्ध था। इस समय भी परशुराम द्वारा में श्रीजी महाराज प्रायः विराजते हैं और यह उस नाते राजस्थान का प्रसिद्ध धर्म क्षेत्र माना जाता है।

१—**ब्रज का इतिहास पृष्ठ १६२, भा० १ ले० श्रीकृष्णदत्त बाजपेयी।**

२—**उदय, परशुरामांक पृष्ठ २६-३२, संपादक, वियोगी विश्वेश्वर।**
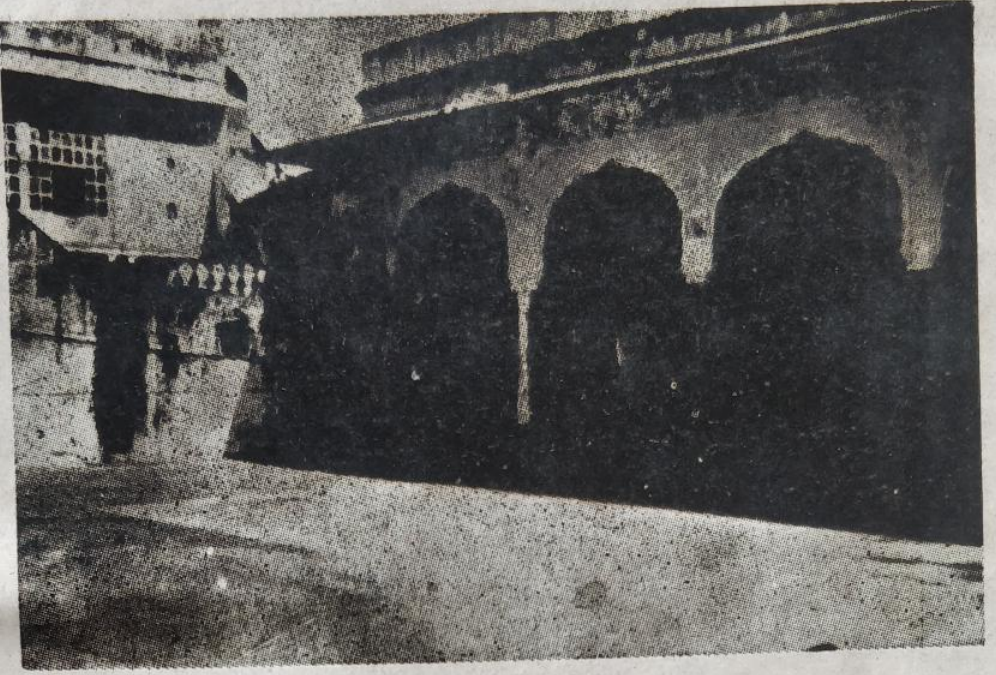
श्रीजी की मोरी, जयपुर ।
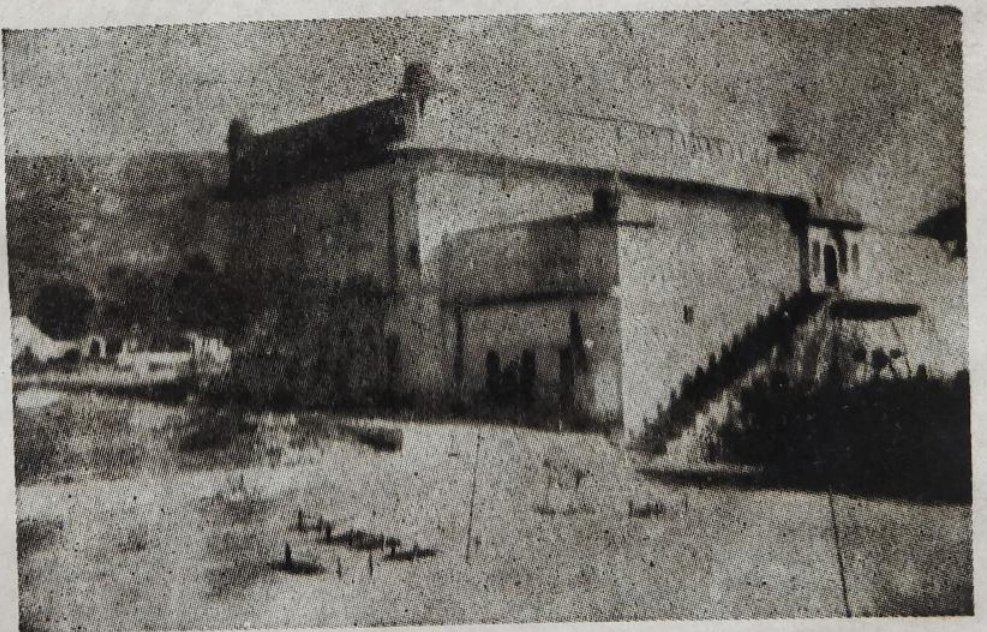
परशुराम द्वारा, जयपुर ।

गोपाल जी मन्दिर मु० पोस्ट चला—यहाँ पर श्री परशुरामदेव जी महाराज के परशिष्य श्री पीताम्बर देवाचार्य जी का स्थान है। इनके योग और सिद्धि सम्बन्धी चमत्कारों की इस प्रदेश में अभी तक प्रसिद्धि चली आरही है जिसका 'क्षेम चरित्र' नामक संस्कृत ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन है। वर्तमान में यह स्थान सलेमाबाद पीठ के अन्तर्गत आ गया है और अधिकारी श्री ब्रजबल्लभशरण उक्त स्थान की देख भाल करते हैं[1]।

निम्बस्थान— : नीम का थाना : श्री गोपाल मठ से १० मील पूर्व दिशा में निम्बस्थान या नीम का थाना नामक नगर है यहाँ विरक्त निम्बार्क ब्रह्मचारियों की एक विशाल जमात रहती है, वैष्णव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के अन्तर्गत सैनिक संगठन का सूत्रपात सबसे पहले इसी स्थान से हुआ था। यह स्थान श्री नागा जी के द्वारे से सम्बन्धित है[2]।

उपरोक्त स्थानों के अतिरिक्त राजस्थान में इस सम्प्रदाय के अनेकों केन्द्र बने और उनकी श्री वृद्धि हुई, लोहागढ़ धाम, माधौपुर, सामोद, छोटा कृष्णगढ़, बूंदी, जैतारण, सीकर, कोटा, सिरोही, करेरी आदि का इनमें महत्वपूर्ण स्थान है।

अन्य केन्द्र

मध्य भारत और विंद्यप्रदेश :—मध्य भारत और विन्ध्यप्रदेश में निम्बार्क सम्प्रदाय के स्थल स्थानों की स्थापना और उसके प्रसार की प्रगति प्रायः शिथिल रही।

विंध्यप्रदेश में निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत स्वामी हरिदास जी की शाखा के अन्तर्गत प्रणामी संप्रदाय का यथेष्ठ प्रचार हुआ। स्वामी प्राणनाथ जी ने स्वामी जी की परंपरा में एक दूसरी गद्दी स्थापित की थी। इनका जन्म संवत् १६७५ में और परलोक गमन सं० १७५१ में हुआ था, पन्ना नरेश प्रतापी महाराज छत्रसाल इन्हीं के शिष्य थे[3]। प्राणनाथ जी अपने समय के ख्यातनामा संत थे। उन्होंने इस प्रदेश के साधु जनों की बड़ी सेवा की। प्रणामी सम्प्रदाय की गद्दियां पन्ना, सूरत और जामनगर में विद्यमान हैं[4]। इस सम्प्रदाय को निजानंदीय, मिहिर राज पंथी आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। स्वामी जी के परलोकगमन के अनन्तर इस सम्प्रदाय की एक शाखा को श्री देवचन्द्रजी चलाते रहे जो स्वामी हरिदास जी के शिष्य श्री दयालदास जी के शिष्य थे। इस प्रकार विन्ध्यप्रदेश में निम्बार्क सम्प्रदाय के शाखा सम्प्रदायों का यथेष्ट प्रसार हुआ।

१—सुदर्शन १।४ निम्बार्क सम्प्रदाय के राजपूतानार्गत स्थान, पृष्ठ ९ ले० श्रीसर्वेश्वरशरण

२—वही वही वही वही

३—ए० हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर ६६

४—निम्बार्क माधुरी, बिहारीशरण ब्रह्मचारी, पृष्ठ ४६३

इन्दौर, ग्वालियर और उज्जैन में सम्प्रदाय का प्रसार ग्वालियर नरेश श्रीमहादाजी सिंधिया के प्रभाव से हुआ। जिस समय ब्रज प्रदेश ग्वालियर राज्य के अधीन था तो उन्होंने सहस्त्रों वैष्णव स्थानों के संचालन के लिये जीविकाएँ प्रदान कीं। श्री महादाजी सिंधिया टट्टी स्थान के महन्त महात्मा ललितमोहिनीदास जी के भक्त और कृपापात्र थे। श्री सहचरिशरणदेव ने अपने 'ललित प्रकाश' में उनके भक्ति-भाव का उदारता से उल्लेख किया है।

नाम महा जी सिंधिया, वृन्दावन विच जाय।
श्री गुपाल लीला करी, परम प्रेम दरसाय[1]॥

श्री ललितमोहिनी देव जी की कृपा से सिंधिया जी में भक्ति-भाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। वे कृष्णभक्ति विषयक कविताएँ भी करने लगे थे। मिश्रबन्धु विनोद में 'माधव विलास' नामक इनकी कविताओं का संग्रह प्राप्त होने का उल्लेख है[2]।

बम्बई काठियावाड़—बम्बई काठियावाड़ के शुष्क परन्तु समृद्ध प्रदेश की भूमि धार्मिक सम्प्रदायों के प्रसार के लिये अत्यन्त अनुकूल पड़ती है, महाराष्ट्र आदि दक्षिण प्रदेशों में नामदेव, वल्लभाचार्य, संत तुकाराम, नरसीभक्त, समर्थ स्वामी रामदास आदि अनेक संत हुए, जिनकी अमरवाणी का प्रभाव इस भूमि भाग के निवासियों को धार्मिक प्रेरणा देता रहा है। बम्बई, कठियावाड़ में द्वारिका जी हिन्दू धर्म का प्रधान तीर्थ स्थल है जो समस्त वैष्णव सम्प्रदायों के आकर्षण का कारण रहा है। श्री हरिव्यास देव जी के शिष्य श्री स्वभूरामदेव एवं उद्धव घमंडदेव जी की शिष्य परंपरा के आचार्यों ने बम्बई काठियावाड़ में अपने द्वारों के स्थल स्थानों की नींव डाली और उनकी उन्नति का प्रयास किया। श्री स्वभूरामदेव जी के द्वारे के स्थान जामनगर, काठियावाड़, जूनागढ़ में बहुत अधिक हैं, पोरबन्दर और सींगड़ा में नागा जी के द्वारे के स्थान हैं। काठियावाड़ के राजकोट परगने में माधौपुर सींगड़ा सुदामापुरी के केन्द्र हैं। जिला सूरत में घामनेक, माड़वी, भावनगर और जिला नाड़ौद में गलसारपुर, नादोदनी के प्रसिद्ध साम्प्रदायिक स्थान हैं। स्टेट बड़ोदा, उत्तर गुजरात का सिद्धपुर कदमबाड़ी स्थान इन प्रदेशों के सभी स्थानों से अधिक महत्वपूर्ण है। यह स्थान महन्त श्री भीमाचार्य जी के द्वारा संचालित हो रहा है। उनके अनुसार यह स्थान सं० १५४४ वि० से पूर्व संस्थापित हुआ[3] क्योंकि वहाँ पर एक घंटा है जो नैपाल से खरीद कर लाया गया था उस पर लिखा है कि इसे महन्त गोवर्धनदास जी सीतलदास जी ने नैपाल से संवत् १५४४ में खरीद कर मँगाया था।

१—ललितप्रकाश उत्तरार्द्ध पृष्ठ १०४

२—मिश्र बन्धु विनोद भाग ३ पृष्ठ

३—श्री कदमवाड़ी श्री महन्त गोवरधनदास जी शीतलदास जी ने नैपाल से खरीद करके मँगाई। श्री महन्त गोवरधनदास। स्वस्ति श्री सं० १५४४ फाल्गुन बदी १० सवत्सर—स्थान कदमबाड़ी का संक्षिप्त इतिहास ले० भीमाचार्य शास्त्री।

बिहार उड़ीसा—पश्चिमी उत्तर प्रदेश एवं पंचनद प्रदेश की भाँति बिहार-उड़ीसा में भी श्री हरिव्यासदेव जी के शिष्य श्री स्वभूरामदेव जी की शिष्य परंपरा ने निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रचार और उसके स्थानों के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया था। जिस प्रकार ब्रज प्रदेश में अधिकांश स्थल स्थान श्री नागाजी के द्वारे से सम्बन्ध रखते हैं, और उन्हीं की भक्ति भावना के उपासक हैं, ठीक वैसे ही बिहार उड़ीसा प्रदेश में कन्हरदेव जी के शिष्यों का प्रभाव देख पड़ता है। उड़ीसा प्रदेश भारत का एक पिछड़ा हुआ भूमि भाग है, यहां के लोगों में देवी देवताओं की पूजा और बलिदान की प्रथा प्राचीन-काल से चली आती है। श्री कन्हरदेव के शिष्यों ने इस वन्य प्रदेश के असंस्कृत लोगों में सभ्यता और समाज नि ठा के भाव जाग्रत किये थे। उन्हें अर्द्ध वन्य संज्ञा से ऊपर उठा कर मानव धर्म का ज्ञान कराया जो उनके हृदय की विशालता और मानवता के प्रेम का परिचायक है। श्री कन्हर देवाचार्य के पाँच प्रमुख शिष्य थे[1]। इनके अतिरिक्त उनके तीन शिष्य और हुए जिन्होंने उड़ीसा प्रदेश में सम्प्रदाय के प्रचार का कार्य किया। इन तीन शिष्यों में से प्रथम शिष्य अपने धर्म प्रचारार्थ जगन्नाथपुरी पधारे, वहाँ से लौटते हुए उन्होंने कटक के राजा को वैष्णवी दीक्षा देकर गोपालमठ की स्थापना की और फिर पण्डवामठ की स्थापना की तदनन्तर कटक के एक और स्थान अण्डुआमठ की स्थापना हुई। पण्डवामठ की एक शाखा बालाँगिरि उड़ीसा में है।

निम्बार्काश्रम भुवनेश्वरपुरी उड़ीसा—इस स्थान के महन्त श्री मनोहरदास जी काठिया हैं, इसकी स्थापना बाबा सन्तदास जी काठिया की प्रेरणा से हुई थी।

उपरोक्त मठ मंदिरों के अतिरिक्त श्री राधावल्लभ मठ पुरी, उड़ीसा, चिकटीमठ वालासाही, पुरी, उड़ीसा, कुम्वरूमठ, छत्रपुर जिला गंजाम, उड़ीसा, शेरगढ़ मठ, जिला गंजाम, उड़ीसा, धराकोट मठ, मदनमोहनदास-गोपीनाथ जी का मंदिर, धराकोट, ताल्लुका उड़ीसा इस प्रदेश के मुख्य स्थान हैं।

उड़ीसा की भांति बिहार में भी निम्बार्क सम्प्रदाय के मठ मन्दिरों की अधिकता है जिनमें से अधिकांश श्री स्वभूरामदेव जी के द्वारे से सम्बन्ध रखते हैं, इनमें से अनेक विक्रम की १९ वीं एवं २० वीं शताब्दी में बने हैं। महत्वपूर्ण मठमंदिरों के इतिवृत्त निम्न-लिखित हैं।

कोयलादेवा मठ, छपरा—यह स्थान श्री स्वभूरामदेव जी के द्वारे के अन्तर्गत है। संवत् १९८६ विक्रमीय तक श्री हरिप्रियाशरण देवाचार्य इस मठ के अधिष्ठाता थे, जो बड़े पुण्यात्मा और प्रभावशाली विद्वान थे। उनके पश्चात् श्री ब्रजमोहनशरण देवाचार्य उनके स्थान पर गद्दी के अधिकारी हुए। श्री हरिप्रियाशरण जी ने एक स्थान श्री राधाकान्त जी का मंदिर विश्रामघाट, मथुरा पर कोयला मठ के अन्तर्गत संस्थापित किया

१—**आचार्य परंपरा परिचय** ले० श्री **किशोरदासजी, पृष्ठ ४०**

जिनका मथुरा के नारद टीला आदि प्राचीन स्थानों पर भी अधिकार है[1]। अन्य उल्लेखनीय स्थान निम्न हैं। श्री राधागोपाल मठ, कनूनिया कटगनवाँ, अदापुर चम्पारन, बिहार; श्री गोपालमंदिर, सतबरिया जिला मोतीहारी विहार, केशव भगवान मठ वीरपुर जिला दरभंगा, बिहार, निम्बार्कीय हरिव्यासी मठ मु० बिढ़ई जिला मुजफ्फरपुर बिहार, गोपाल मठ मु० हरिलवा जिला मुजफ्फरपुर, बिहार।

वालांगिरि नृसिंह मंदिर—नृसिंह मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है, वालांगिरि के नृसिंह मंदिर की स्थापना महात्मा राधिकादास द्वारा संवत् १९३६ विक्रमी में हुई थी और उसका नव निर्माण सं० १९५६ में हुआ। कालांन्तर में नृसिंहमंदिर की इतनी प्रसिद्धि होगई कि पूर्वोक्त सभी मठ इसी मंदिर से सम्बन्धित स्थान माने जाने लगे। यह मालाधारी निर्मोही अखाड़े के अन्तर्गत है।

गणेश मंदिर और रामजीमठ, सोनपुर—कन्हरदेव जी के द्वितीय शिष्य का प्रचार स्थल भी उड़ीसा में ही रहा, उन्होंने सोनपुर के राजा को अपना शिष्य बनाया और उसके धन से सोनपुर का मंदिर बनवाया उन्होंने कुछ समय पश्चात् जगन्नाथपुरी का श्री रामजी मठ भी बनवाया था। अब वर्तमान में सोनपुर नरेश इसी मठ के शिष्य होने लगे हैं और स्थान की देखरेख में अच्छा योग देते हैं। इन नरेशों में श्री वीरमित्रदेवसिंह का नाम उल्लेखनीय है।

गोपालमंदिर सम्भलपुर—श्री कन्हरदेवजी के तृतीय शिष्य ने सम्भलपुर 'उड़ीसा' के राजा को शिष्य किया था और महाराज के आदेशानुसार सम्भलपुर का वृहद गोपालमंदिर महानदी के किनारे बनवाया गया[2] था। गोपाल मंदिर सम्भलपुर की परम्परा में कुछ दिनों पूर्व महन्त नीलाम्बरदेवजी हुए। उनका प्रबन्ध अच्छा न था इस समय उसके सुधार का प्रयास चल रहा है।

दुखी **श्याम मठ, पुरी, उड़ीसा**— इस मठ की बाबा दुखीश्याम जी ने संवत् १९२४ वि० में स्थापना की थी। इस मठ का यह नाम पड़ने का कारण यह था कि जगन्नाथ जी की रथयात्रा पर जब जनसाधारण रुग्ण हो जाते थे तो बाबा दुखी श्याम जी नाड़ी देखकर उनका उपचार बता देते थे। यह क्रम १५ दिन तक चलता था। किसी व्यक्ति से कोई धन नहीं लेते थे और न पैसे को छूते ही थे। वे स्वयम् उड़ीसा भाषा के अच्छे कवि थे। उत्कल प्रदेश में उनके पद आज भी लोगों की जिह्वा पर विद्यमान हैं। ये बाबा योग क्रियाएँ भी जानते थे और उनके बल पर लम्बी जीवित समाधियां भी लिया करते थे। कहा जाता है कि दुखीश्याम बाबा के पास एक ऐसी हांड़ी थी जिसका बना हुआ भात सैकड़ों व्यक्तियों को खिलाया जा सकता था। दुखीश्याम जी के पश्चात् श्री बालानंद जी हुए और अब श्रीपरमेश्वरदासजी उक्त मठ के वर्तमान महन्त हैं। आपके चार शिष्य हैं।

१—सुदर्शन २—४ पृष्ठ ३६ सम्पादक स्व० श्री उमाशंकर दुवे।

२—निम्बार्क सम्प्रदाय के मठ मंदिर, वियोगीविश्वेश्वर प्रबन्धाधिकारी, सलेमाबाद।

१. वनमालीदास, २. भक्तदास, ३. दीनकृष्णदास, ४. गजाधरदास[1]।

यह स्थान स्वभूरामदेव जी का द्वारा और मालाधारी निर्मोही अखाड़े के अन्तर्गत है, इसका निकास भरतपुर के बिहारी जी के मंदिर और सम्भलपुर से है। बाबा दुखी श्याम जी के हस्तलिखित ग्रन्थ ताड़ पत्र पर उड़िया भाषा में लिखे मिले हैं।

बङ्गाल—बंग प्रदेश में प्रमुखतः स्वभूरामदेव जी के द्वारे के ही स्थल-स्थान हैं। स्वभूरामदेव जी की शिष्य परम्परा में श्री मथुरदेवाचार्य नामक एक महात्मा हुए जिनसे कुछ पीढ़ी आगे चलकर श्री नरहरिदेवाचार्य जी ने कालान्तर में वर्द्धमान में राजगंज स्थल की स्थापना की[2]। अपने गुरु की आज्ञा से नरहरिदेवजी ने जगदीश जी की यात्रा की और जब वे गंगासागर तीर्थ स्नान करके लौट रहे थे तो वहां के मुसलमान शासक से इनका संघर्ष हुआ जिसमें इनकी विजय हुई और इनके साहस को देखकर बंगाल के अनेक लोग उनसे प्रभावित हुए और उन्होंने बर्द्धमान राजगंज स्थल के साम्प्रदायिक मठ निर्माण के लिए भूमि प्रदान की तथा पुष्कल धन-सामग्री भी दी। यह स्थान आज तक निम्बार्क सम्प्रदाय के सबसे अधिक सम्पन्न पीठों में गिना जाता है। श्री नरहरिदेवाचार्य जी के शिष्य श्री मद्दयारामदेवाचार्य ने कालान्तर में ऊखड़ा में एक मठ स्थापित किया जिसमें श्री वृन्दावनचन्द भगवान् की मूर्ति विराजमान की। ऊखड़ा के तत्कालीन जागीरदार की पत्नी उक्त महाराज की शिष्या होगई जिससे ऊखड़ा स्थान की उन्नति में बड़ा योग मिला। बंग प्रदेश में निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रायः सभी स्थान वर्द्धमान अथवा ऊखड़ा मठों के अन्तर्गत हैं उनमें से प्रमुख के नाम नीचे दिए जाते हैं[3]।

१. ऊखड़ा—यहाँ के वर्तमान महन्त श्री ब्रजभूषणशरणदेव धर्मनिष्ठ, भगवद्भक्त और विद्वान पुरुष हैं उनकी अध्यक्षता में इस स्थान की बड़ी उन्नति हुई है।

२. **चैतुआ बैकुन्ठपुर**—यह स्थान जिला मिदनापुर 'बंगाल' में स्थित है। इस स्थल के महन्त श्री हलधरशरण देवाचार्य इसका बड़ी योग्यता से संचालन कर रहे हैं।

३. **अरुणघटा, नदिया, बङ्गाल**—इसके महन्त श्री सनकादिकशरणदेव हैं, जिन्होंने स्थान की विशिष्ट उन्नति की है।

४. **जयदेव केन्दोली जिला वीरभूमि, बङ्गाल**—इसके महन्त श्री रासबिहारीशरणदेव बड़े धर्मनिष्ठ और साधु स्वभाव के व्यक्ति हैं।

५. **वर्द्धमान**—यह स्थल श्री मनोहरशरणदेवाचार्य जी के अधीनस्थ है इसके अन्तर्गत गोपीनाथपुर, इन्दास में बड़ी कोठी, छोटी कोठी, चिंचड़ा 'हुगली' में गोपीनाथ

१—सलेमपुर उड़ीसा का गोपालमंदिर, वियोगीविश्वेश्वर, सर्वेश्वर २।२ पृष्ठ २

२—सुदर्शन पृष्ठ १२१, २।१ संपादक स्व० श्री उमाशंकर द्विवेदी

३—आचार्य परंपरा परिचय, पृष्ठ ४५ ले० पं० किशोरदास जी

जी का मन्दिर और पंचम नगर का मठ ये सभी स्थान वर्द्धमान मठ के अन्तर्गत हैं, इनकी व्यवस्था वर्द्धमान के महन्त ही करते हैं। वंग प्रदेश ने निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रचार के लिए और उसकी महत्ता के प्रसार के लिए समय समय पर अनेक महापुरुष प्रदान किए हैं जिनमें बाबा सन्तदास जी काठिया, धनंजयदास जी प्रभृत्ति सज्जनों के नाम उल्लेखनीय है।

पंजाब–पंचनद प्रदेश में श्री स्वभूरामदेवाचार्यजी सम्प्रदाय की रक्षा और नाथ पंथी कनफटे साधुओं का आततायीपन दूर करने के लिये गये थे[1]। स्वभूरामदेव जी के अतिरिक्त श्री परशुरामदेवजी एवं श्रीउद्धवघमंडदेवजी की शिष्य परंपरा के आचार्यों ने भी इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। श्री स्वभूरामदेव जी की शिष्य परंपरा में श्री श्याम-मनोहरदास जी ने हथेन में एक सुन्दर स्थान इस सम्प्रदाय का वनवाया था। इन्हीं श्यामदामोदरदास जी के शिष्य श्री आत्मारामदेव जी ने मलेर कोटला में एक अन्य स्थान की स्थापना की।

श्री उद्धव घमंडदेव जी के द्वारे के स्थानों में हरियाना प्रदेश में गोली नामक प्रसिद्ध स्थान है। इसी प्रकार श्री परशुरामदेव जी के द्वारे के पंजाब में लुधियाना तथा आलू का कटरा में दो स्थान प्रसिद्ध हैं। महन्त द्वारिकादासजी इस मन्दिर का संचालन बड़ी कुशलता पूर्वक करते रहे हैं। पंजाब के प्रमुख निम्बार्कीय अन्य स्थान निम्नलिखित हैं[2]।

१—श्री बिहारी जी का मन्दिर जमनानगर जिला अम्बाला। यहाँ के प्रबन्धक महन्त श्री सन्तशरणादेव हैं। २—श्री निम्बार्कीय मन्दिर भादसों जिला नाभा, यहाँ के प्रबन्धक महन्त बल्देवदासजी हैं। ३—नारनौल का बड़ा मन्दिर जिला नाभा जिसका संचालन महान्त देवादास जी कर रहे हैं। ४—नौहारियों का मन्दिर आलू का कटरा अमृतसर पंजाब। ५—निम्बार्कीय मन्दिर अकबरपुर, नारनौल जिला नाभा यहाँ के महन्त श्री अर्जुनदास जी हैं। ६—च्यवन ऋषि का आश्रम ढोसी पहाड़ नारनोल जिला नाभा यहां के महन्त श्री रिछपालदास जी हैं। ७— श्री बिहारी जी का मन्दिर, स्थान घैमोला, जिला गुड़गाँवा, काशी के महन्त सरस्वतीदास जी महाराज के गुरु भाई श्री बलरामदास यहाँ के संचालक हैं। इसका सम्बन्ध नागाजी की शाखा में बिहारी जी का मन्दिर भरतपुर से है।

पूर्व उत्तर प्रदेश के केन्द्र

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जिस प्रकार कृष्ण भक्ति के विकास के लिये अनुकूल परि-स्थितियां रही हैं उसी प्रकार पूर्वी उत्तर प्रदेश में रामभक्ति के विकास के लिये भी। इसका

१—इस निबंध की पृष्ठ सं० ४१

२—आचाय परंपरा परिचय पृ० ३१, ले० पं० किशोरदास जी।

मुख्य कारण वहां भगवान् कृष्ण और राम के जीवन से सम्बन्धित स्थान उनकी जन्म स्थलियां एवं उनकी क्रीड़ा भूमि हैं। पूर्व उत्तर प्रदेश में निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख तीन केन्द्र हैं। काशी, प्रयाग और अयोध्या, चौथा केन्द्र नैमिषारण्य तो सभी ऋषियों की तपस्थली है। वहां से सभी सम्प्रदायों को अपने विकास की प्रेरणा मिली है। परन्तु यह निश्चित है कि रामावत सम्प्रदाय के विशिष्ट प्रचार और रामोपासना के विविध साधकों के वाहुल्य के कारण यद्यपि पूर्व उत्तर प्रदेश में निम्बार्क सम्प्रदाय के केन्द्र स्थापित हुए भी परन्तु यह सम्प्रदाय वहाँ पर प्रायः दबा हुआ ही रहा। और इसकी प्रगति प्रायः शिथिल रही।

काशी—भगवान् विश्वनाथ की पुरी काशी उनके सम्बन्ध से सभी सम्प्रदायों का मान्य स्थल है। यह प्राचीन काल से अब तक अनेक विद्या एवं कलाओं का केन्द्र भी रहा है। अतः सभी सम्प्रदायों के आचार्य विद्याभ्यास, विद्यापरीक्षा अथवा साधना के लिये काशी में जाते आते और निवास करते आये हैं। श्री निम्बार्काचार्य ने अपने शिष्य गौरमुखाचार्य को पूर्व की ओर साम्प्रदायिक प्रचार करने के लिये भेजा था[1]। उनका मुख्य केन्द्र नैमिषारण्य में था। श्री केशवकाश्मीरि भट्टाचार्य अपनी दिग्विजय के प्रसंग में काशी गये थे। काशी में उस समय कुछ लोग साँख्यवाद के पक्षपाती थे। कुछ कणाद गौतम के वैशेषिक न्याय में निरत थे। अनेक अद्वैत वादी थे तो बहुत से शैव। केशव काश्मीरि जी को संभवतः इन विविध दार्शनिकों से शास्त्रार्थ करना पड़ा होगा[2]। काशी के बीच अपने को बिना चमकाये हुए उस समय कोई दिग्विजयी नहीं हो सकता था। काशी में वर्तमान में भी निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रचार प्रगतिशील नहीं हैं। वहाँ पर सम्प्रदाय के स्थल स्थानों में दो प्रमुख हैं। एक बड़े हनुमान जी का मंदिर, विश्वेश्वर गंज, नागा जी के द्वारे के अंतर्गत है। दूसरा काशी पंचकोशी में रामेश्वर स्थान प्रसिद्ध है। बड़ा हनुमान मन्दिर के महान्त सरस्वतीदास जी अच्छे गो-साधु सेवी एवं भजनानन्दी हैं और मन्दिर राधारमण के महन्त गनपतदास जी योग्य पुरुष हैं।

नैमिषारण्य—यह स्थान सीतापुर जिले के अन्तर्गत है। अत्यन्त प्राचीन काल से यह ऋषि महर्षियों की तपस्थली रहा है। निम्बार्क सम्प्रदाय के तीन आचार्य श्री गौरमुखाचार्य, श्री विश्वाचार्य और श्री केशवकाश्मीरि भट्ट का इस स्थान से सम्बन्ध बतलाया जाता है। श्री गौरमुखाचार्य नैमिषारण्य में सम्प्रदाय के प्रचारार्थ गये थे। उन्होंने वहाँ रह कर श्री 'निम्बार्क सहस्रनाम' 'निम्बार्क स्तव' 'निम्बार्क कवच' आदि ग्रन्थों की रचना की थी। श्री विश्वाचार्य जी भी अपने भारत पर्यटन में यहाँ पर गये थे।

१—निम्बार्क प्रभा पृ० ७४ बा० हंसदास।

२—ये ये कापिल सांख्यवाद निरता, काणादि नैयायिका।

ये न्ये द्वैत मतान्धकार पतिता, शैवाश्च बौद्धादय।

आचार्य चरित, श्रीनारायण देवाचार्य विरचित

केशवकाश्मीरि जी का सम्बन्ध नैमिषारण्य से भी था। वे दिग्विजयी पंडित और महान् शास्त्रज्ञ होने के साथ तपोनिष्ठ भी थे[1]। वर्तमान में नैमिषारण्य में निम्बार्क सम्प्रदाय के एक दो स्थान हैं।

प्रयाग-अयोध्या—कृष्ण भक्ति के प्रसार और प्रचार की अपेक्षा प्रयाग और अयोध्या रामभक्ति के प्रचार के अधिक उपयुक्त हैं। परशुरामदेव जी के गृहस्थ भाई श्री वासुदेव जी के वंशधरों की परंपरागत प्रयाग स्थित गद्दी महाजनी-टोले में है जिसके गोस्वामी माधवलालजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है[2]। वर्तमान में इसी परंपरा के गो० राधाकृष्णजी अच्छे साधक हैं और उनके पुत्र गो० ललितकृष्ण उत्साही कार्यकर्ता एवं दर्शन के विद्वान हैं।

राम भक्ति के प्रमुख गढ़ अयोध्या में निम्बार्क सम्प्रदाय के कतिपय स्थान हैं। उत्तर भक्ति काल में रामावत शाखा में श्री सीता रामचन्द्र जी के माधुर्य भाव को लेकर जब रसिक भावना का विकास हुआ तो अयोध्या के कतिपय भक्त रसिक साधना एवं रसिक भाव के विवर्द्धन के अभ्यास के लिये निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों से घनिष्ठ संबन्ध रखने लगे थे और उनके प्रति पूज्य बुद्धि रखते थे। इन रसिकों में श्री मोहनरसिक का नाम विशेष उल्लेखनीय है जो टट्टी सम्प्रदाय के महात्मा भगवत्रसिक के शिष्य थे। इसी प्रकार मौनी जानकीदास जी शृंगारी साधना के लिये वृन्दावन में रहते थे और श्री विहारिनिदेव, भगवतरसिक आदि को महान् श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे[3]। अयोध्या के निकट जिला बहराइच में नानपारा निम्बार्क सम्प्रदाय का एक मुख्य केन्द्र है।

———

सामाजिकता तथा जनता पर प्रभाव

मेले, तीर्थ, कुम्भ एवं परिक्रमा।

धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना के मूल में व्यष्टि और समष्टि दोनों के कल्याण की भावना रहती है। जिन साम्प्रदायिक आचार्यों ने भक्ति के स्वरूप को लेकर अपने सम्प्रदाय की उपासना उत्सव और पूजा प्रणाली का निर्धारण किया उनकी दृष्टि में वैयक्तिक साधना और सामूहिक साधना दोनों का ही विचार प्रमुख रूप से विद्यमान था। उपासना के क्षेत्र में साधक अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। सम्प्रदाय में जैसी कुछ उपासना-विधि होती है उसी के अनुरूप आचरण करता हुआ भक्त अपनी साधना का निरन्तर अभ्यास करता है। कालान्तर में इस अभ्यास के द्वारा उसके व्यक्तित्व में

१—निम्बार्क प्रभा पृष्ठ ७४ बा० हंसदास कृत।

२—सुदर्शन २।१ पृष्ठ ९३ संपादक श्री उमाशंकर द्विवेदी तथा पं० किशोरदास।

३—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पृष्ठ १३७-१३८ डा. भगवतीप्रसाद सिंह।

अनेक अलौकिक गुणों का समावेश होता है, वह धर्म के पथ का अनुसरण करता हुआ इष्टफलों की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

साम्प्रदायिक, आचरण की समष्टि-साधना का उद्देश्य व्यष्टि साधनों से नितान्त भिन्न होता है। इस साधना के अन्तर्गत सम्प्रदाय के आचार्य ऐसे उत्सव और समारोहों की परिपाटी चलाते हैं जो जनसमुदाय को सामूहिक रूप से सुलभ होने के साथ-साथ धर्मपरक भी होती है। इस प्रकार के समारोह सदाचार-सद्वृत्ति प्रेरक और ईश्वरोन्मुख-प्रेम के जागरण में सहायक होते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय में दोनों प्रकार की साधना का विधान है। इस सम्प्रदाय में विभिन्न ऋतुओं, त्यौहारों, पर्वों के अनुसार उपास्य देव के उत्सवों की व्यवस्था की गई है। "युगल-शतक" महावाणी, परशुरामसागर, गीतामृत गंगा आदि सभी साम्प्रदायिक ग्रन्थों में उत्सवों और त्यौहारों का वर्णन किया गया है। ये उत्सव सम्प्रदाय के इष्टदेव श्री राधाकृष्ण के दाम्पत्य लीला-विधान से तो विशिष्ट सम्बन्धित हैं ही परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य देवों से सम्बन्धित महान पर्वों को भी उनमें स्थान दिया गया है। प्रायः सभी ग्रन्थों में उत्सवों का क्रम बसन्त से प्रारम्भ होता है। बसन्त, होली, फूलडोल, रथयात्रा, बनयात्रा, हिंडोला, पवित्रा एकादशी, रक्षाबन्धन, श्री कृष्ण जन्माष्टमी एवं लाल जी का बधाई उत्सव, राधाष्टमी और प्रिया जी का बधाई उत्सव, उनका विवाह, दिवाली, शरदोत्सव आदि के अतिरिक्त बावन द्वादशी, नृसिंह, चतुर्दशी प्रभृति अन्य अवतारों से सम्बन्धित उत्सवों को भी सम्प्रदाय की उत्सव प्रणाली में स्थान दिया गया है। उपरोक्त सभी उत्सव सम्प्रदाय के सभी आचार्यपीठ और मठ मन्दिरों में उत्साह पूर्वक मनाये जाते हैं।

मेले—उत्सव जब इतना विशाल रूप ले लेते हैं कि उनमें सभी वर्गों और विचारों के व्यक्ति सम्मिलित हो सकें और विशिष्ट उपासना और धार्मिकता के स्थान के साथ साथ मनोरंजकता की प्रमुखता होने लगे तो उन्हें मेला कहने लगते हैं। सलेमाबाद पीठ में श्री कृष्ण जन्माष्टमी का उत्सव अब मेले का रूप ही ले चुका है जिसमें न केवल राजस्थान के बड़े-बड़े नगरों के व्यक्ति वरन् अन्य प्रान्तों के लोग भी सम्मिलित होने के लिये दूर दूर से आते हैं। सलेमाबाद राजस्थान के बीचों बीच अत्यन्त शुष्क भाग में है। श्री कृष्ण जन्माष्टमी के पूर्व वर्षा हो जाने के कारण यहां की सभी वस्तुओं में जीवन का संचार हो जाता है। अतः जन समुदाय में बड़ा उत्साह और अत्यन्त प्रसन्नता होती है और यह मेला लगभग आठ दिन तक बड़े समारोह पूर्वक सम्पन्न होता है।

अनन्य रसिक नृपति स्वामी हरिदास जी के शाखा सम्प्रदाय में श्री राधाकृष्ण के युगल भाव विशेषकर उनके नित्यविहार की उपासना को प्रमुखता दी गयी है। इस नित्यविहार में प्रमुख रूप से श्री प्रिया जी का हाथ रहता है। इनकी ललिता सखी के स्वामी जी स्वयं अवतार ही थे। अतः टट्टी स्थान वृन्दावन में भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन श्री प्रिया जी के जन्मोत्सव के उपलक्ष में एक भारी मेला लगता है जिसमें न केवल मथुरा वृन्दावन और समस्त ब्रज वरन् भारत के विभिन्न प्रान्तों के दूर दूर से यात्री लोग सम्मिलित होने के लिये आते हैं। अभी कुछ वर्षों पूर्व निम्बार्क तीर्थ गोवर्द्धन

के निकट निम्बग्राम में कार्तिक पूर्णिमा को श्री निम्बार्क-मेला लगता था जिसमें समस्त ब्रज और बाहर के यात्रीगण आते थे परन्तु उक्त स्थान की व्यवस्था में थोड़ा व्यतिरेक होजाने के कारण कुछ वर्षों से यह मेला नहीं हो रहा है।

सम्प्रदाय में आचार्यों और गुरुजनों का बड़ा महत्व होता है, शिष्यगण अपने गुरूजी को इष्ट देव तुल्य ही मानते हैं अतः आचार्यों के निधन दिवस कालान्तर में उत्सव और मेलों के रूप में मनाये जाने की प्रथा सम्प्रदाय में प्राचीन काल से चली आरही है। ये मेले नैमित्तिक होने के कारण प्रायः एक दो बार ही पूरे उत्साह से मनाये जाते हैं। इन मेलों में श्री वृन्दावनदेवाचार्य जी द्वारा आयोजित श्री नारायण देवाचार्य जी का मेला जो विक्रम संवत् १७५६ में हुआ[1] और श्री निम्बार्क शरण देवाचार्य के द्वारा आयोजित अपने गुरु श्री सर्वेश्वर शरण देव का मेला जो वि० सं० १८७७ में जयपुर में लाखों रुपया व्यय करके आयोजित हुआ अपने प्रकार के विशेष मेले थे। अभी पिछले वर्ष श्री बिहारीदासजी त्यागी का इसी प्रकार का मेला वृन्दावन में हुआ था।

तीर्थ स्थान— भगवान् की क्रीड़ा केलि भूमि, उनके धार्मिक कृत्यों के प्रसार क्षेत्र, अथवा लीलादिक स्थानों की गणना तीर्थों में होती है। इस प्रकार से भगवान् रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र तथा अन्य अवतारों की लीलाओं से सम्बन्धित सभी क्षेत्र वैष्णव सम्प्रदायानुयायियों के तीर्थ क्षेत्र हैं। वैष्णव धर्म के अन्तर्गत साम्प्रदायिक दृष्टि से तीर्थों का अलग अलग महत्व है। विभिन्न सम्प्रदायों के प्राचीन आचार्यों से सम्बन्धित स्थान, जहाँ पर उन्होंने सम्प्रदाय का विशेष प्रचार किया, अथवा साम्प्रदायिक कीर्ति के विस्तार और मर्यादा के उत्थान में सफलता प्राप्त की, कालान्तर में साम्प्रदायिक साधकों और अनुयायियों के लिये तीर्थों की कोटि में आजाते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री निम्बार्काचार्य का निवास स्थान निम्बार्क 'आश्रम जो वर्तमान नीम गाँव में अथवा उसके आसपास स्थित होना चाहिये' निम्बार्क—तीर्थ नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री निम्बार्काचार्य के शिष्य श्री निवासाचार्य जी का निवास स्थान ललिता संगम (राधाकुण्ड, मथुरा में है) श्री निम्बार्काचार्य के द्वितीय शिष्य श्री औदुम्बराचार्य का आश्रम कुरुक्षेत्र के निकट पपनावा में माना जाता है इसकी पुष्टि उनके द्वारा रचित औदुम्बर संहिता और निम्बार्क-विक्रान्ति आदि ग्रन्थों से होती है। श्री निम्बार्काचार्य के तृतीय शिष्य गौरमुखाचार्य पूर्व प्रदेश नेमिषारण्य में निवास करते थे। अतः ये निम्बार्क सम्प्रदाय के तीर्थ स्थानों में माना जाता है। इनके अतिरिक्त गोवर्द्धन के निकट स्थित नारद कुण्ड, नारद टीला (मथुरा) गहवर बन, बरसाना एवं द्वारकापुरी निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रधान तीर्थ स्थान माने जाते हैं। केन्द्रों के अंतर्गत इनका वर्णन है।

कुम्भ— कुम्भ शब्द का अर्थ है मंगल घट। कुंभ शब्द उस विशेष घट की ओर संकेत करता है जो समुद्र मंथन के समय अन्य रत्नों के साथ समुद्र से अमृत से भरा हुआ

१—वृन्दावनांक, पृष्ठ संख्या २२४

निकला था[1] । कहा जाता है कि देव और दानवों में उस घट पर बड़ी खींचातानी हुई थी, क्योंकि उनमें प्रत्येक ही अमृत पान करना चाहता था[2] । परिणाम यह हुआ कि उस अमृत कुम्भ के लिये बारह दिन तक देवता और दैत्यों में छीना-झपटी होती रही । जब-जब अमृत कुम्भ गिरने लगता तो वृहस्पति, चन्द्रमा, सूर्य, शनि उसकी रक्षा करते रहते थे । जयन्त अकेले ही कहीं इस कुम्भ को न हड़प ले जाय इसके लिये शनिश्चर सावधान रहते । अतः जिस वर्ष सूर्य चन्द्रमा और वृहस्पति का संयोग होता है उसी वर्ष उसी राशि के योग में उन स्थानों में कुंभ योग घटित होता है । यह कहा जा चुका है कि देवता और दैत्यों में अमृत कुंभ के लिये बारह दिन और बारह रात तक विवाद चलता रहा और बारह दिन में बारह बार अमृत कुंभ गिरा था । देवलोक का एक दिन मनुष्य लोक के वर्ष के बराबर होता है । अतः देव लोक के बारह दिनों और मनुष्य लोक के बारह वर्षों में बारह बार कुंभ योग होता है । इनमें से भूलोक में बारह वर्ष में चार बार कुम्भ योग होता है । इसी कारण भारतवर्ष में चार बार कुम्भ पड़ते हैं । शेष आठ कुम्भ योग और लोकों में होते हैं पृथ्वी के जिन चार स्थानों पर कुंभ योग होता है । अर्थात् जहाँ कुम्भ गिरा था वे हैं गंगाद्वार या हरिद्वार, २. प्रयाग या तीर्थराज, ३. धारा या उज्जयिनी और ४. गोदावरी के तट पर नासिक । प्राचीन काल से इन सभी स्थानों पर कुम्भ योग के कारण कुम्भ का मेला अथवा साधु सम्मेलन होता आरहा है[3] । यह तो रही कुंभ के पौराणिक अर्थ की बात । कुंभ की एक दूसरी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार भी की गई है :—

कुं कुत्सितं गर्हितं वा उम्भति– पूरयति, अपसारयति वा कुम्भः ।

अर्थात जो दूसरों के कुत्सित अथवा निन्दनीय दोषों, स्वभावों या वासनाओं को को अपने में लीन कर लेता है अथवा दूसरों के दोषों को दूर कर देता है वह कुम्भ है । इस प्रकार कुंभ वे विशेष धार्मिक मेले हैं जो लोक कल्याणकारी हैं और जिनमें साधु महात्मा और सत् स्वभाव वाले अर्थात् वैष्णवों का सम्मेलन होता है । यदि कुंभ के ऐतिहासिक और धार्मिक महत्व के प्रतिपादन की बात छोड़ दी जाय तो इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि कुंभ वैष्णव धर्मावलम्बियों के स्थान-धर्मादि के विशेष पर्व हैं, इनमें देश के सभी भागों के लोग जाति पांति और साम्प्रदायिक विचारों की पृथकता का ध्यान

१—सुदर्शन कुम्भांक पृष्ठ २०

२—पूर्ण, कुम्भोऽधिकाल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इम विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ।। अथर्ववेद १६-५३-३ ।

३—सर्वेश्वर वृन्दावनांक, पृष्ठ १८६

न रखते हुए विशेष स्नान के लिये एकत्र होते हैं। अथर्ववेद में कुंभ के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। उसमें लिखा है, हे महापुरुषो! पूर्ण कुंभ समय में रखा हुआ है अर्थात् समय से आता है। जिसे हम बहुत प्रकार से प्रयाग, हरिद्वार आदि स्थानों में देखते हैं। कुंभ उस काल को कहा जाता है जो परम आकाश में ग्रहराशि आदि के योग से होता है। यह समय समस्त संसार के पूजन अर्थात् समृद्धि करने के लिये उपस्थित होता है। कुंभ-काल में अनुकूल कर्तव्यों के अनुष्ठान से धर्म और धन की समृद्धि होती है।

ऋग्वेद में कुम्भ में सम्मिलित होकर दान, होम, यज्ञ, अनुष्ठान आदि सत्कर्मों के करने का बड़ा महत्व बतलाया गया है। वहां पर कहा गया है कि कुम्भ में आने वाला मनुष्य अपनी दान होम आदि क्रियाओं के फलस्वरूप जिस तरह खड्ग से जंगल काट दिया जाता है उसी भांति अपने पापों का नाश करता है। कुंभ में यज्ञ दान तप आदि का अनुष्ठान, ब्राह्मण, विद्वान् वैदिकों का पूजन, सन्त समाज की सेवा आदि प्रधान कर्तव्य बतलाये गये हैं।[1]

कुम्भ मेले का प्रधान अंग साधु लोगों का स्नान है। भारत के प्रायः समस्त प्रान्तों से साधु महात्मा गण आकर कुम्भ में सम्मिलित होते हैं और स्नान करते हैं।

कुम्भ विषयक निम्बार्कीय दृष्टिकोण— कुंभ-मेले की परम्परा भारत वर्ष में प्राचीन काल से चली आरही है। कुम्भ पर्वों पर विभिन्न सम्प्रदायों और धर्मों के लोग साधु सन्यासी, वैष्णव, दशनामी, सन्त, विरक्त एकत्र होते हैं। इस प्रकार उनके पारस्परिक सम्मिलन और विचारों के आदान प्रदान करने से अनेक लाभ होते हैं। पृथ्वीतल पर हरिद्वार, प्रयाग, नासिक और उज्जैन इन चारों स्थानों पर क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे की बारी से कुम्भों का आयोजन होता रहता है। हरिद्वार के कुंभ से पूर्व वृन्दावन का कुम्भ लगता है कुम्भों में विभिन्न सम्प्रदायों के लोग इकट्ठे होते हैं। उनके नियन्त्रण के लिये खालसे (साम्प्रदायिक सैनिक शिविर) लगते हैं जिनकी देखरेख में हजारों की संख्या में साधु सन्त ठहरते हैं। खालसा के अन्तर्गत जो लोग व्यवस्था करते हैं उनके मुख्य कार्य आगन्तुकों के विश्राम की व्यवस्था उनके खानपान का प्रबन्ध आदि हैं। नाम-कीर्तन जप, यज्ञ आदि की स्थान स्थान पर व्यवस्था रखी जाती है। खालसे अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार अपने शिविरों में ध्वजा पताका आदि का यथा स्थान अपनी निवास

१—पूर्णः कुम्भोऽधिकाल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा सु सन्तः।
स इम विश्वा भुवनानि प्रत्यङ कालं समाहुः परमे व्योमन्॥

अथर्ववेद—१६—५३—३

२—एकत्र देवताः सर्वा बलिमुख्यास्तथैकतः।
मथ्यमाने तदा तस्मिन् क्षीरोदे सागरोत्तमे॥ पृष्ठ १७३ टिप्पणी २

कुटियों के ऊपर आरोहण करते हैं । तीर्थधाम क्षेत्र स्तोत्र रत्नावली में लिखा है कि निम्बार्क सम्प्रदाय का देवता गरुड़ है जो भगवान् का पथवाहन है[1] ।

अतः इस सम्प्रदाय की ध्वजाओं में गरुड़ की प्रतिकृति आगे की ओर रखी जाती है जिससे कि सब किसी को ज्ञात होजाय कि अमुक स्थान पर निम्बार्क सम्प्रदाय के साधु-जन और धर्मी लोग विराज रहे हैं । अन्य सम्प्रदायों के लोग भी इसी प्रकार अपने सम्प्रदाय के अनुसार ध्वजोत्तोलन करते हैं । कुंभों के अवसर पर स्नानादि की व्यवस्था सेवासमिति जैसे कार्य, उपचार प्राथमिक सहायता, मार्ग दर्शन, जनता का स्नानादि के लिये नियन्त्रण, सुरक्षा और सब प्रकार की व्यवस्था का भार अनी और अखाड़ों पर रहता है । ये विरक्त वैष्णवों के सैनिक संगटन हैं जो कुंभों के अवसर पर जनता की अत्यन्त महत्वपूर्ण सेवा करते आरहे हैं । इस प्रकार खालसों के द्वारा सम्प्रदायों की सब प्रकार की व्यवस्था और अनी अखाड़ों के द्वारा उनके कुंभ सम्बन्धी धार्मिक कृत्यों का सम्पादन होता है ।

परिक्रमा—परिक्रमा की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आरही है । तीर्थों की की पावन भूमि की परिक्रमा करने से मन में सन्तुष्टि होती है । तीर्थों से सम्बन्धित महा-पुरुषों के उज्ज्वल चरित्र उनके पुनीत धार्मिक कृत्य मन और संस्कारों में प्रवेश कर चरित्र के अंग बन जाते हैं । अतः सदाचार की दृष्टि से परिक्रमा का बड़ा महत्व है । परिक्रमा की स्वास्थ्य की दृष्टि से अपनी अलग उपयोगिता है । वह बलवर्धक और हर्ष वर्धक है । वैसे तो भारत वर्ष की सभी धार्मिक नगरियों सप्तपुरियों आदि की परिक्रमा की परम्परा चली आती है परन्तु ब्रज वृन्दावन श्री कृष्ण की जन्मस्थली एवं क्रीड़ा स्थली होने के कारण इसमें परिक्रमा का विशेष महत्व है । ब्रज वृन्दावन में मथुरा वृन्दावन गोवर्द्धन, गोकुल, और महावन परिक्रमा के मुख्य स्थल हैं । इन सभी स्थलों पर वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्यों की निवास स्थलियों, उनके प्रचार क्षेत्र और साधना पीठें रही हैं । अतः उपरोक्त स्थानों में परिक्रमाओं के आयोजन होते रहते हैं । गोवर्द्धन क्षेत्र निम्बार्क, वल्लभ, मध्व, गौड़ीय सम्प्रदायों के आचार्यों की पूज्य भूमि है । अतः वहाँ की परिक्रमा सबसे अधिक होती है । निम्ब ग्राम गोवर्द्धन में श्री निम्बार्काचार्य, राधाकुण्ड में ललिता संगम पर श्री श्रीनिवासाचार्य और जतीपुरा, बरसाना आदि में श्री नागा जी की तपस्या स्थली रही है । अतः गोवर्द्धन क्षेत्र की परिक्रमा का निम्बार्क सम्प्रदाय में बड़ा महत्व है । चतुर चिन्तामणि श्री नागाजी महाराज का प्रत्येक दिन ब्रज चोरासी कोस की परिक्रमा करने का नियम था जिसका प्रियादास जी ने अपनी भक्तमाल की टीका में विस्तृत उल्लेख

१—सनकादिक आचार्यवर मलयाचल पुनि घाट ।
गरुड़ देवता जानिये हरि को बाहर बाट ॥
.. ..."तीर्थधाम क्षेत्र, स्तोत्र रत्नावली"

किया है[१]। नागाजी महाराज के समय से ही ब्रज में परिक्रमा का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। वैसे तो भगवान् श्री कृष्ण और श्री राधाजी के जन्मस्थल और बाल एवं यौवन लीलाओं से सम्बन्धित सभी नगरों और ग्रामों की परिक्रमा की ब्रज में प्रथा है परन्तु कार्तिक शुक्ला नवमी (श्री हंस भगवान् और सनकादिक की प्राकट्य तिथि होने से) अक्षय नवमी एवं कार्तिक शुक्ला ११ देवोत्थान एकादशी को (माधव भट्टाचार्य की जयन्ती होने से) मथुरा वृन्दावन एवं गरुड़गोविन्द की सम्मिलित परिक्रमा इस सम्प्रदाय के विशेष रूप से तथा अन्य सम्प्रदायों के वैष्णव सामान्य रूप से करते हैं इसी प्रकार मथुरा, वल्देव, महावन, गोकुल ग्रामों की विशाल परिक्रमा कार्तिक शुक्ला ६, ७ को सम्पन्न की जाती है।

यात्राएँ—निम्बार्क सम्प्रदाय के उत्सवों में रथयात्रा और वनयात्रा का विधान है। युगल शतक, महावाणी, परशुराम सागर, गीतामृत गंगा, लीलाविशंति आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों और वाणियों में इन उत्सवों का विस्तार से वर्णन किया गया है। ब्रज में यात्राओं का जो वर्तमान रूप है उसकी मूल प्रेरणा का आधार विशुद्ध रूप से वाणी ग्रन्थों के यात्रा विषयक वर्णन ही हैं। कालान्तर में ब्रज के समस्त केन्द्रों की सामूहिक यात्रा की परिपाटी निम्बार्क सम्प्रदाय के वृन्दावनस्थ आचार्यों के द्वारा चलायी गई। यह सम्भव है कि इन यात्राओं के प्रारम्भिक आयोजन की प्रेरणा श्री नागाजी महाराज से मिली हो, परन्तु यह सत्य है कि कालान्तर में नागाजी की वैयक्तिक परिक्रमा के स्थान पर इन्होंने सामूहिक यात्रा का रूप ले लिया।

वर्तमान में ब्रजविदेही महन्त श्री काठिया बाबा प्रतिवर्ष ब्रज यात्रा का आयोजन करते हैं जिसमें हजारों की संख्या में वैष्णव भक्त सम्मिलित होते हैं। इनमें अधिकता निम्बार्क वैष्णवों की ही रहती है। यह यात्रा लगभग एक मास में ब्रज के समस्त लीला केन्द्रों पर होती हुई जाती है। भगवद् लीला और नित्य बिहार के दृष्टिकोण से जो स्थल विशेष महत्व के हैं वहाँ पर एक दो दिन का विश्राम होता है और उस स्थान से सम्बन्धित लीलाओं का रास-लीलानुकरण भी किया जाता है।

---

१. **भक्तमाल भक्तिरस बोधिनी टीका छंद संख्या ५६६, प्रियादास।**

परिशिष्ट

निम्बार्क संप्रदाय के आचार्यों की सखी रहस्य नामावली और उनके प्राकट्य अथवा पाटोत्सव की तिथि

सं० क्र०	आचार्य नाम	सखी नाम	तिथि
१	श्री हंस भगवान्		कार्तिक शुक्ला नवमी
२	श्री सनकादिक भगवान	श्री हरिणी, हारिणी हीणा और हरिता	कार्तिक शुक्ला नवमी अक्षयनवमी
३	श्री देवर्षि नारद	मुग्धा सखी	मार्गशीर्ष शुक्ला १२ (व्यंजन द्वादशी)
४	श्री निम्बार्काचार्य	श्री रंगदेवी जू	कार्तिक पूर्णिमा
५	श्री निवासाचार्य	श्री सुदेवी जू	माघ शुक्ला पंचमी (बसंत पंचमी)
६	श्री विश्वाचार्य	श्री विश्वाभा जू	फाल्गुन शुक्ला चौथ
७	श्री पुरुषोत्तमाचार्य	श्री उत्तमा जू	चैत्र शुक्ला षष्ठी
८	श्री विलासाचार्य	श्री ललिता जू	वैशाख शुक्ला अष्टमी
९	श्री स्वरूपाचार्य	श्री सरिसा जू	ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी
१०	श्री माधवाचार्य	श्री मधुरा जू	आषाढ़ शुक्ला दशवीं
११	श्री बलभद्राचार्य	श्री भद्रा जू	श्रावण शुक्ला तृतीया
१२	श्री पद्माचार्य	श्री पद्मालली जू	भाद्रपद शुक्ला द्वादशी
१३	श्री श्यामाचार्य	श्री श्यामला जू	आश्विन शुक्ला त्रयोदशी
१४	श्री गोपालाचार्य	श्री गोपाला जू	भाद्रपद शुक्ला एकादशी
१५	श्री कृपाचार्य	श्री कृपाकरि जू	मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी
१६	श्री देवाचार्य	श्री सु देवी जू	माघ शुक्ला पंचमी
१७	श्री सुन्दरभट्टाचार्य	श्री सुन्दरी जू	मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया
१८	श्री पद्मनाभ भट्टाचार्य	श्री पद्मा जू	वैशाख कृष्णा तृतीया
१९	श्री उपेन्द्र भट्टाचार्य	श्री रस कन्दरा जू	चैत्र कृष्णा चतुर्थी
२०	श्री रामचन्द्र भट्टाचार्य	श्री रामा जू	वैशाख शुक्ला पंचमी
२१	श्री बामन भट्टाचार्य	श्री बामा जू	ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी
२२	श्री श्रीकृष्ण भट्टा-चार्य	श्री कृष्णावती जू	आषाढ़ कृष्णा नवमी
२३	श्रीपद्माकर भट्टा-चार्य	श्री पद्मा जू	आषाढ़ कृष्णा अष्टमी

सं० क्र०	आचार्यनाम	सखीनाम	तिथि
२४	श्री श्रवण भट्टाचार्य	श्री कृति रूपा जू	कार्तिक कृष्णा नवमी
२५	श्री भूरि भट्टाचार्य	श्री भागवती जू	आश्विन कृष्णा दसवीं
२६	श्री माधव भट्टाचार्य	श्री माधवी जू	कार्तिक कृष्णा एकादशी
२७	श्री श्याम भट्टाचार्य	श्री श्यामला जू	चैत्र कृष्णा द्वादशी
२८	श्री गोपाल भट्टाचार्य	श्री गुण चूड़ामणि जू	पौष कृष्णा एकादशी
२९	श्री बलभद्र भट्टाचार्य	श्री वल्लभा जू	माघ कृष्णा चतुर्दशी
३०	श्री गोपीनाथ भट्टाचार्य	श्री गौराँगी जू	श्रावण शुक्ला दशमी
३१	श्री केशव भट्टाचार्य	श्री किशोरी जू	चैत्र शुक्ला प्रतिपदा
३२	श्री गांगल भट्टाचार्य	श्री पवित्रा जू	चैत्र कृष्णा द्वितीया
३३	श्री केशव काश्मीरि भट्टाचार्य	श्री कुंकुमा जू	जेष्ठ शुक्ला चतुर्थी
३४	श्री श्रीभट्ट देवाचार्य	श्री हितू जी	आश्विन शुक्ला द्वितीया
३५	श्री हरिव्यास देवाचार्य	श्री हरिप्रिया जू	कार्तिक कृष्णा द्वादशी
३६	श्री परशुरामदेवाचार्य	श्री परमसहेली जू	भाद्रपद कृष्णा पंचमी
३७	श्री हरिवंश देवाचार्य	श्री हित अलबेली जू	मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी
३८	श्री नारायण देवाचार्य	श्री नित्यनवेली जू	पौष शुक्ला नवमी
३९	श्री वृन्दावन देवाचार्य	श्री मनिमंजरी जू	भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी
४०	श्री गोविन्द देवाचार्य	श्री गौरांगी जू	कार्तिक कृष्णा पंचमी
४१	श्री गोविन्दशरण देवाचार्य	श्री गुनमन्जरी जू	कार्तिक कृष्णा अष्टमी
४२	श्री सर्वेश्वरशरण देवाचार्य	श्री रूप मन्जरी जू	पौष कृष्णा षष्ठी
४३	श्री निम्बार्क शरण देवाचार्य		ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी
४४	श्री ब्रजशरण देवाचार्य		ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी
४५	श्री गोपीश्वर शरण देवाचार्य		माघ कृष्णा दशमी
४६	श्री घनश्याम शरण देवाचार्य		आश्विन कृष्णा षष्ठी
४७	श्री बालकृष्ण शरण देवाचार्य		चैत्र शुक्ला त्रयोदशी
४८	श्री राधासर्वेश्वर शरण देवाचार्य		ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया

आचार्य वर्ग अपने द्वारा रचित काव्यों में अन्य लौकिक कवियों की भांति अपना कवि नाम प्रयुक्त न करके सखीनाम का ही प्रयोग करते थे, अतः उनके काव्य का मनन करने के लिए, सखीनाम जानना परम आवश्यक है। साम्प्रदायिक साधना में तो केवल सखीनाम से आचार्यों को सम्बोधित किया जाता है।

—❀—

सहायक ग्रंथों की तालिका

१. अकबर नामा, भाग १, एशियाटिक सोसायटी सं० १६१२।

२. अणुभाष्य, वल्लभाचार्य, प्रकाशक ब्रजवासी दास एण्ड कं० बनारस।

३. अर्थ पंचक निर्णय, लाड़िली शरण ब्रह्मचारी।

४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त।

५. अष्टादश सिद्धान्त के पद, स्वामी हरिदास।

६ अष्टाध्यायी, पाणिनि।

७. आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोर दास वेदान्त निधि।

८. आचार्य चरित, श्री नारायण देवाचार्य, हस्तलिखित।

९. आमेर के राजा पृथ्वीराज, पब्लिक लाइब्रेरी जयपुर।

१०. इण्डियन साधूज, जी० एस० घुरे।

११. इम्पीरियल गजैटियर आफ इण्डिया, जिल्द संख्या ८।

१२. उज्वल नील मणि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

१३ उत्तरी भारत की संत परम्परा, श्री परशुराम चतुर्वेदी।

१४. ऋग्वेद।

१५ ए ट्रीटाइज आफ म्युजिक आफ हिन्दुस्तान, कैप्टेन विलार्ड।

१६. एतरेय ब्राह्मण।

१७. एन अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, वी० एन० स्मिथ।

१८. एन आउटलाइन आफ दी रिलीजियस लिटरेचर इन इण्डिया, जे० एन०-फारकुहर।

१९. ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, डा० ईश्वरी प्रसाद।

२०. औदुम्बर संहिता, औदुम्बराचार्य।

२१. कल्याण, वर्ष १२ अङ्क ४।

२२. कविप्रिया, केशवदास।

२३. किशनगढ़ राज्य के ऐतिहासिक सूत्र (हस्तलिखित) संग्राहक निम्बार्क शोध मण्डल, वृन्दावन।

२४. केलिमाल, स्वामी हरिदास, कुंज बिहारी पुस्तकालय, वृन्दावन।

२५. गजैटियर आफ मथुरा, (१६११ ई०) श्री डाँके ब्राँकमैन।

२६. गाथा सप्तशती।

२७. गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र, लोकमान्य तिलक।

२८. गुरु प्रणालिका, श्री सहचरि शरण।

२९. गोपाल सहस्र नाम।

(३०) घनानन्द, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।
(३१) चतुः सम्प्रदाय के श्री चौबे कुलकीराम, तप्पी चौबे, मथुरा की बही १,२,३।
(३२) चित्रकला, रायकृष्ण दास।
(३३) जयसाहि सुजस प्रकाश, मण्डन कवि कृत।
(३४) जरनल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बङ्गाल, जिल्द ८।
(३५) जरनल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बङ्गाल, जिल्द १६।
(३६) जरनल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बङ्गाल, जिल्द ४५।
(३७) जायसी ग्रन्थावली, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
(३८) जीरे किंग मुत्तखवतवारीख, अलबदायूनी कलकत्ता, १६४५।
(३९) तत्वार्थ प्रकाशिका, केशव काश्मीरि कृत।
(४०) धाम स्तोत्र रत्नावली।
(४१) तुलसी ग्रन्थावलि. पंडित रामचन्द्र शुक्ल भाग ३।
(४२) थियेटर आफ हिन्दुस्तान, पार्ट १, थर्ड एडीशन, एच० एव० विल्सन।
(४३) एनशियन्ट म्यूजिक आफ इण्डिया, एलवर्ट कोल।
(४४) दिल्ली सल्तनत, डा० आशीर्वादीलाल।
(४५) हिस्ट्री आफ इण्डियन म्यूजिक, ओगन रस्क।
(४६) द्वैताद्वैत सिद्धान्त, पं० किशोर दास जी।
(४७) नम्र निवेदन और कुछ समीक्षा, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, गोवर्द्धन।
(४८) नवरस, गुलाबराय।
(४९) नवभक्त माल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।
(५०) नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५७ अंक ४।
(५१) नागरी प्रचारिणी सभा काशी, वार्षिक विवरण खोज, सम्वत १९२३।
(५२) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वार्षिक खोज विवरण, सं० १९०२।
(५३) नागर समुच्चय, कविवर जयलाल, बम्बई।
(५४) नाम महात्म्य वाणी अंक, सम्पादक, दान बिहारी लाल शर्मा, वृन्दावन।
(५५) नारद भक्ति सूत्र।
(५६) नारायण भट्ट चरितावली, सम्पादक बाबा कृष्णदास।
(५७) निकुंज प्रेम माधुरी, बाबा माधवदास।
(५८) निजमत सिद्धान्त, महान्त श्री किशोरदास जी।
(५९) निजाम राज्य की पुरातत्व विभागीय रिपोर्ट सं० १९२७-२८।
(६०) नित्य विहार पदावली, रूप रसिक देव, हस्तलिखित।
(६१) निम्बार्क विक्रान्ति, औदुम्बराचार्य, रामचन्द्र दास वैष्णव।
(६२) निम्बार्क प्रभा, बाबा हसदास।

(६३) निम्बार्क माधुरी, ब्रह्मचारी बिहारी शरण।
(६४) निम्बार्क केन्द्रों का विवरण, श्री वियोगी विश्वेश्वर, (टंकन प्रति)
(६५) पद प्रबोध प्रसंग माला, नागरीदास जी।
(६६) परशुराम सागर, श्री परशुराम देवाचार्य, हस्तलिखित।
(६७) परशुराम सागर, दोहा खण्ड, सम्पादक वियोगी विश्वेश्वर।
(६८) पातंजलि महाभाष्य।
(६९) प्राचीन लेखमाला, निर्णय सागर प्रेस बम्बई।
(७०) प्रेम विनोद, छत्र कुंवरि हस्तलिखित।
(७१) पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल आदि।
(७२) पंच कालानुष्ठान, मीमांसा, सुन्दर भट्ट।
(७३) बयालीस लीला, श्री ध्रुवदास।
(७४) बिहारी दर्शन, लोकनाथ द्विवेदी, सिलाकारी।
(७५) बिहारी सतसई, लाला भगवानदीन।
(७६) बिहारिन देव जी की वाणी, हस्तलिखित टट्टी स्थान वृन्दावन।
(७७) ब्रज का इतिहास, भाग १-२, सम्पादक कृष्णदत्त वाजपेयी।
(७८) ब्रजदासी भागवत, हस्तलिखित, परशुराम पीठ, सलेमाबाद।
(७९) ब्रज भारती आषाढ़, संवत् १९९८।
(८०) ब्रज माधुरी सार, वियोगी हरि।
(८१) ब्रह्मसूत्र, भाग १, २, ३, प्रकाशक बाबा कल्याण दास वृन्दावन।
(८२) भक्तमाल नाभादास जी।
(८३) भक्तमाल रसबोधिनी टीका प्रियादास।
(८४) भक्तवर व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी।
(८५) भक्तवर नागरीदास और उनके काव्य पर पड़ने वाले प्रभाव और प्रतिक्रियाओं का एक अध्ययन, टंकन प्रति, डा० फैयाज अली खां।
(८६) भारतीय दर्शन, डा० उमेश मिश्र।
(८७) भारतीय इतिहास की भूमिका, डा० राजबली पाण्डेय।
(८८) भारतीय संगीत का इतिहास, श्री उमेश जोशी।
(८९) भारतीय बङ्गला मासिक पत्रिका, अंक ५, ६, ८, ९, १० एवं ११।
(९०) भारत का वृहद् इतिहास, श्री नेत्र पाण्डेय, भाग १, २, ३, ४, ५।
(९१) भारत का ब्रिटिश कालीन इतिहास, पी० ई० राबर्ट्स।
(९२) भारतेर साधना, मासिक पत्रिका, आग्रहायण मास, अङ्क १।
(९३) भेदाभेद सिद्धांत, स्वामी संतदास, ब्रज विदेही, वृन्दावन।
(९४) गौड़ियार तीन ठाकुर; सुन्दरानन्द विद्या विनोद।

(९५) मध्यकालीन भारत, डा० ईश्वरी प्रसाद।
(९६) महात्मा कबीर, हरिहर निवास द्विवेदी।
(९७) महाभारत, शान्ति पर्व।
(९८) महाराज जयसिंह का इतिहास, निम्बार्क शोध मण्डल संग्रहालय वृन्दावन।
(९९) महावाणी, हरिव्यास देव, ब्रह्मचारी बिहारी शरण।
(१००) मृगनयनी की भूमिका, श्री वृन्दावन लाल वर्मा।
(१०१) माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान, डा० ग्रियसन।
(१०२) मिश्रबन्धु विनोद, भाग १, २, ३।
(१०३) मित्रशिक्षा, सुन्दरि कुंवरि, हस्तलिखित प्रति।
(१०४) मूर्तिकला का इतिहास, एम० एम० असगर अली, काशी।
(१०५) म्यूजिक आफ सदर्न इण्डिया, कैप्टेन डे०।
(१०६) मेघदूत, कालिदास।
(१०७) मैमोयर्स आफ मथुरा डिस्ट्रिक्ट, एफ० एस० ग्राउस।
(१०८) मंत्र रहस्य षोडषी, श्री निम्बार्काचार्य।
(१०९) युगल शतक, श्री भट्ट जी, सम्पादक ब्रजवल्लभ शरण वेदान्ताचार्य।
(११०) हिन्दी रस गंगाधर, पं० पुरुषोत्तम चतुर्वेदी।
(१११) सेठ कन्हैयालाल पोद्दार-कृत रस मंजरी।
(११२) रससार, रसिक देव जी
(११३) रसिक गोविन्द और उनकी कविता, बटुकनाथ शर्मा और बल्देव उपाध्याय।
(११४) रसिक गोविन्द आनन्दघन, रसिक गोविन्द।
(११५) रहस्य सिद्धान्त ग्रन्थमाला, पं० किशोर दास।
(११६) रामभक्त साहित्य में मधुर उपासना, भुवनेश्वर मिश्र।
(११७) रामचरित मानस, बालकाण्ड, गोस्वामी तुलसीदास।
(११८) राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मनेरिया।
(११९) राजस्थान का इतिहास, डा० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा।
(१२०) राधावल्लभ सम्प्रदाय और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक।
(१२१) रासलीलानुकरण और नारायण भट्ट, बाबा कृष्णदास।
(१२२) रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, डा० भगवती प्रसाद सिंह।
(१२३) राग कल्पद्रुम, प्रथम भाग।
(१२४) राधा कृष्ण ग्रन्थावलि कृष्ण दास।
(१२५) रिलीजियस सैक्सट्स आफ दी हिन्दूज, एच० विल्सन।
(१२६) रीति कालीन कवि और घनानन्द, डा० मनोहरलाल गौड़, टंकन प्रति।